अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त

लेखक

पी० सी० जैन, एम. ए., एम. एस-सी (इकान०) लन्दन

रीडर अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

१९६३

चैतन्य पब्लिशिंग हाउस

५-ए, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-२

मेरे माता-पिता

लाला रामस्वरूप जैन

तथा

स्वर्गीय श्रीमती चमेली देवीजी

को समर्पित

प्रस्तावना

इस पुस्तक में अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्तो को सरल रेखा चित्रों की सहायता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार पुस्तक के दूसरे भाग में मुद्रा तथा बैंकिंग, विदेशी विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजवित्त, रोजगार तथा व्यापार चक्र, और आर्थिक पद्धति तथा नियोजन के सिद्धान्तों का सरल रूप से अध्ययन किया गया है।

अपने सहयोगी श्री कृष्ण लाल का मैं कृतज्ञ हूँ जिनके द्वारा मेरी पुस्तक *A Textbook of Modern Economics* का यह हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। आशा है विश्वविद्यालयों के विद्यार्थीगण इससे पूर्ण लाभ उठायेंगे।

इलाहाबाद
२५ जून, १९६३

पी० सी० जैन

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

अध्याय पृष्ठ

वितरण

अध्याय १

अर्थशास्त्र का स्वरूप तथा क्षेत्र

(Nature and Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा देने का उद्देश्य यह बताना है कि यह क्या है और क्या नहीं। किसी साभिप्राय परिभाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री को पूर्णतः और स्पष्टतः निरूपित करे और उसकी अन्य विज्ञानों एवं कलाओं से भिन्नता दिखाए। जब हम किसी को मनुष्य कहते हैं, तो हमारा उद्देश्य उसके और अन्य प्राणियों एवं वस्तुओं के गुणों और लक्षणों में भिन्नता दिखाना है। किसी मनुष्य को कोई विशेष नाम देने में हमारा उद्देश्य उसे अन्य समान मनुष्यों से अलग करना है; ताकि जब हम उस नाम को लेते हैं, तब हमारे मस्तिष्क में उसकी आकृति, गुण-दोष और विशेषताएँ आती हैं। इसी प्रकार जब हम अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हैं तब हमें उसके स्वभाव, क्षेत्र और विशेषताओं के बारे में जान सकना चाहिए और उसे अन्य विज्ञानों और कलाओं से अलग कर सकना चाहिए।

प्रारम्भिक परिभाषाएँ. पहले अर्थशास्त्र को 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' कहा जाता था जिससे यह प्रतीत होता है कि अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जाता था; और न ही अर्थशास्त्र को अन्य विज्ञानों से अलग किया जाता था। यह माना जाता था कि 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' धन की प्राप्ति, संचय और व्यय पर विचार करती थी। अर्थशास्त्र की भिन्नता इस के कारण थी कि उसमें धन के अर्जन और व्यय का अध्ययन किया जाता था। एडम स्मिथ (जो 'पोलिटिकल इकॉनॉमी' के जन्मदाता माने जाते हैं) के अनुसार अर्थशास्त्र का विषय 'राष्ट्रों के धन के कारणों और उसके स्वभाव की परीक्षा' करना है। इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र का अध्ययन यह बताता है कि लोग किस प्रकार धन का अर्जन और व्यय करते हैं। अपूर्णता के अतिरिक्त इस परिभाषा के अन्य दोष निम्नलिखित हैं :

(१) इन अर्थशास्त्रियों ने 'धन' का उपयोग संकीर्ण अर्थ में किया है। सौन्दर्य, सदाचरण आदि धन में सम्मिलित नहीं किए गए हैं। अगर अर्थशास्त्र धन के अर्जन और व्यय का अध्ययन इस शब्द के संकीर्ण अर्थ में करता है तो

अर्थशास्त्र एक निम्न कोटि का विज्ञान हो जाता है जो जीवन की तुच्छ वस्तुओं का ही अध्ययन करता है। इसी लिए रस्किन और कार्लायल आदि कई व्यक्तियों ने अर्थशास्त्र को निकृष्ट विज्ञान कहा था। पर वास्तव में अर्थशास्त्र अन्य विज्ञानों जैसा ही है—न कम, न अधिक निकृष्ट। यह उतना ही श्रेष्ठ और परिष्कृत है जितने अन्य विज्ञान। यह आवश्यक नहीं है कि किसी देश या व्यक्ति की आर्थिक क्रियाएँ प्रारम्भिक विचारकों के 'आर्थिक मनुष्य' की क्रियाओं की भांति स्वार्थी और तुच्छ हों। इन परिभाषाओं ने अर्थशास्त्र के बारे में गलत धारणाओं को जन्म दिया।

(२) ये परिभाषाएँ अपूर्ण हैं क्योंकि ये विषय के केवल एक पक्ष पर (जो धन के अर्जन और व्यय से सम्बन्धित है) विचार करती हैं। अर्थशास्त्र उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनसे संतुष्टि मिलती है। व्यक्ति न केवल धन के अर्जन और व्यय से संतुष्ट होता है, बल्कि संगीत, चित्रकारी और यहाँ तक कि आलस्य में पड़े रहने और आराम करने से भी संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। और जहाँ तक इन क्रियाओं से मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति होती है, इनका एक आर्थिक पक्ष भी है। प्रारम्भिक परिभाषाएँ अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इन क्रियाओं को सम्मिलित नहीं करती हैं।

(३) इन परिभाषाओं से प्रतीत होता है कि धन ही सब मानवीय क्रियाओं का लक्ष्य है, पर ऐसा है नहीं। हम चाहें तो मानवीय क्रियाओं का लक्ष्य धन के स्थान पर मोक्ष मान सकते हैं। अगर मोक्ष-प्राप्ति किसी व्यक्ति को संतुष्ट करती है, तो यह एक आर्थिक क्रिया है। अगर मोक्ष मानवीय क्रियाओं का लक्ष्य मान लिया जाय, तो धन जीविका का साधन-मात्र रह जाता है और उसकी आवश्यकता तभी तक रहेगी जब तक व्यक्ति अपने उद्देश्य, मोक्ष, को प्राप्त नहीं कर लेता। वास्तव में अत्यधिक धन का होना मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य, मोक्ष, की प्राप्ति में बाधक हो सकता है।

मार्शल की परिभाषा. मार्शल ने इन परिभाषाओं की अपूर्णता और गलतियों को स्वीकार किया और उसने अर्थशास्त्र की परिभाषा अधिक सामान्य शब्दों में दी। उसके अनुसार अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मानव-जाति का अध्ययन है। यह वैयक्तिक और सामाजिक कार्य के उस भाग का अध्ययन करता है जो कल्याण के लिए भौतिक साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित है। यह परिभाषा प्रारम्भिक परिभाषाओं से काफी सुधरी हुई है और धन के विस्तृत अर्थ पर आधारित है। पर इसमें भी कल्याण के भौतिक पक्ष को प्रधानता दी गई है और मोक्ष या उच्चतर आध्या-

त्मिक मूल्यों से सम्बन्धित क्रियाओं को छोड़ दिया गया है। इस परिभाषा की श्रेष्ठता इस बात को महत्व देने में है कि अर्थशास्त्र में तुच्छ और निम्न कोटि की क्रियाओं का अध्ययन नहीं होता, बल्कि 'जीवन के साधारण व्यापार' की सब क्रियाएँ, चाहे वे अच्छी हों या बुरी, अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में आती हैं। पर यह परिभाषा भी दोषपूर्ण है क्योंकि :—

(१) यह अस्पष्ट और भ्रमोत्पादक है। यह अर्थशास्त्र के मुख्य अध्ययन-विषय को—आवश्यकताएँ और उनकी संतुष्टि को—कोई विशिष्टता नहीं देती। यह कहा जा सकता है कि 'जीवन के साधारण व्यापार' में आवश्यकताएँ और उनकी संतुष्टि भी आ जाती हैं। अगर ऐसा हो तो भी यह परिभाषा निर्दोष नहीं कही जा सकती क्योंकि परिभाषा का उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह बताना है कि अर्थशास्त्र की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं, ताकि हम यह जान सकें कि अर्थशास्त्र क्या है और क्या नहीं है। मार्शल की परिभाषा में यह गुण नहीं है।

(२) यद्यपि मार्शल ने धन शब्द का उपयोग विस्तृत अर्थ में किया है और धन की अपेक्षा मानव-कल्याण को अधिक महत्व दिया है, तब भी उसने 'कल्याण के भौतिक साधनों' शब्दों का उपयोग अपनी परिभाषा में किया है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उन आवश्यकताओं का अध्ययन अर्थशास्त्र नहीं करेगा जो सन्तुष्टि के भौतिक साधनों का उपयोग नहीं करतीं। पर यह भ्रामक है। अगर साधन मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो वे अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित हैं। वे भौतिक हो या अभौतिक—इससे कोई अन्तर नहीं होता। पर मार्शल की परिभाषा इस धारणा की पुष्टि नहीं करती।

(३) परिभाषा के लिए यह आवश्यक है कि वह अर्थशास्त्र और अन्य विज्ञानों, जैसे भौतिक-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास आदि की भिन्नता को बताए। ये सब भी 'जीवन के साधारण व्यापार' का अध्ययन करते हैं। पर मार्शल की परिभाषा अर्थशास्त्र और इनके अन्तर को नहीं बताती।

पीगू की परिभाषा. प्रो० पीगू ने अपनी परिभाषा में धन के स्थान पर कल्याण को महत्व दिया है और अर्थशास्त्र को केवल उन क्रियाओं तक सीमित रखा है 'जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदंड से सम्बन्धित की जा सकती हैं'। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र केवल उन मानवीय क्रियाओं का अध्ययन करता है, जिनसे मानव-कल्याण की प्राप्ति होती है। ये क्रियाएँ भौतिक पदार्थों से भी सम्बन्धित हो सकती हैं और अभौतिक से भी। इस प्रकार उनकी परिभाषा अधिक व्यापक हो गई है और उनकी धारणा अधिक विस्तृत है। चूँकि यह निश्चित रूप से कह देती है कि केवल उन क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र

में किया जाता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के मापदंड द्वारा नापी जा सकती हैं, इसलिए इसमें मार्शल की परिभाषा की भाँति संदिग्धता नहीं है। प्रो० पीगू की परिभाषा उनसे पूर्व दी गई परिभाषाओं से निश्चय ही अधिक सुधरी हुई है, पर इसमें भी कुछ दोष हैं :

(१) द्रव्य के मापदंड को महत्व देकर प्रो० पीगू ने अपनी परिभाषा में सीमितता की परिस्थिति का, जो आधारभूत है, उल्लेख किया है; पर अप्रत्यक्ष रूप से। यह प्रत्यक्ष रूप से सीमितता की परिस्थिति को और सीमित साधनों द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि को महत्व नहीं देती।

(२) प्रो० पीगू का कल्याण का संबोध (concept) यद्यपि अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अधिक व्यापक कर देता है, पर यह भी असंदिग्ध और निश्चित नहीं है। सुतथ्यता की किसी मात्रा में यह निश्चित करना सम्भव नहीं है कि आर्थिक कल्याण के अन्तर्गत क्या आता है। आर्थिक कल्याण की विषय-वस्तु के बारे में विभिन्न मत हो सकते हैं—कुछ लोगों के आर्थिक कल्याण के बारे में एक प्रकार के और कुछ लोगों के उससे विरोधी विचार हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि सब आर्थिक क्रियाओं का परिणाम कल्याण ही हो। अगर प्रो० पीगू की परिभाषा को शब्दशः माना जाय, तो सुरापान, धूम्रपान आदि क्रियाएँ अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आएँगी क्योंकि इनका फल कल्याण नहीं होता। पर सुरापान, धूम्रपान और इनसे भी बुरी क्रियाएँ अगर मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करती हैं, तो इन का निश्चय ही एक आर्थिक पक्ष होता है।

रॉबिन्स की परिभाषा. प्रो० लायनल रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक अधिक यथार्थ और सुतथ्य परिभाषा दी है जो आजकल साधारणतः स्वीकार कर ली गई है। कुछ अर्थशास्त्री इस परिभाषा के कुछ पक्षों को नहीं मानते हैं और इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर देते हैं, पर प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा के आधारभूत तथ्यों को अधिकांश-अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं। प्रो० रॉबिन्स के बाद दी गई परिभाषाओं का आधार यही परिभाषा है और इसमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके वे बनाई गई हैं।

प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार का अध्ययन दुर्लभ साधनों, जिनके वैकल्पिक उपयोग हों, और लक्ष्यों के सम्बन्ध के रूप में करता है।[1]

1. Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between given ends and scarce means which have alternative uses. "Nature and Significance of Economic Science", 1931.

इस परिभाषा के तीन आवश्यक भाग हैं : (१) लक्ष्य दिए हुए हैं। लक्ष्य का अर्थ वह उद्देश्य है जिसे व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र उद्देश्यों का निर्णय नहीं करता। वह उन्हें दिया हुआ मान लेता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अर्थशास्त्र उद्देश्य निश्चित करने का काम राजनीतिज्ञों, नीतिज्ञों या व्यक्तियों पर छोड़ देता है और केवल इस बात का अध्ययन करता है कि ये लक्ष्य किस प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान नहीं है, बल्कि वास्तविक है। अर्थशास्त्र लक्ष्यों को क्यों निश्चित नहीं करता और दिया हुआ मान लेता है—इस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र लक्ष्यों को दिया हुआ मान लेता है, उनको निश्चित नहीं करता। हो सकता है कि अन्तिम लक्ष्य सुख हो या दुःख, अनन्तर उद्देश्य समाजवाद हो या पूँजीवाद और उपस्थित उद्देश्य बुशशर्ट पहनना हो या कोट, पर जहाँ तक अर्थशास्त्र का क्षेत्र है, ये लक्ष्य या उद्देश्य दिये हुए हैं। अर्थशास्त्र यह नहीं बताता कि इनमें से कौन अच्छे हैं और कौन बुरे, क्या करना चाहिए और क्या नहीं।

(२) अर्थशास्त्र आवश्यकताओं (wants) की संतुष्टि का अध्ययन करता है, जब साधन दुर्लभ होते हैं। यह अर्थशास्त्र की मूल विषय-वस्तु की ओर ध्यान आकर्षित करता है, जो यह है कि आवश्यकताओं को संतुष्ट करने वाले साधनों, जैसे खाद्य-पदार्थ, वस्त्र, सुन्दर वस्तुएँ आदि, की पूर्ति इनकी माँग से कम है (अर्थात् ये दुर्लभ हैं)। परिभाषा इस तथ्य पर बल देती है कि आर्थिक क्रियाएँ तभी संभव हैं जब साधन दुर्लभ हों। चुनाव का कारण साधनों की दुर्लभता है। अगर हमें आवश्यक साधन और समय दुर्लभ न होते और अगर हम इन्हें चाहने पर प्राप्त कर सकते, तो चुनाव की समस्या न उठती। यहाँ इस बात को समझ लेना आवश्यक है कि अगर एक वस्तु की माँग उसकी पूर्ति से थोड़ा भी अधिक है, तो वह दुर्लभ है, भले उसकी पूर्ति करोड़ों इकाइयों में हो। इसके विपरीत, अगर पूर्ति केवल पाँच इकाइयाँ हों और माँग चार इकाइयाँ, तो वह प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मुख्य बात यह है कि आर्थिक क्रियाएँ या चुनाव की समस्या तभी उठती है जब साधन और समय दुर्लभ हों। कुछ वस्तुओं, जैसे हवा, पानी, धूप आदि, के बारे में चुनाव की समस्या नहीं उठती क्योंकि ये प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। अतएव ये अर्थशास्त्र के क्षेत्र में नहीं आतीं।

(३) अपनी परिभाषा में प्रो० रॉबिन्स साधनों के वैकल्पिक उपयोग पर भी बल देते हैं क्योंकि अगर साधनों का केवल एक ही उपयोग हो, तो व्यक्ति की चुनाव करने की क्षमता नियंत्रित (restricted) हो जायगी। अगर टीक

का केवल एक उपयोग, दरवाजे बनाने में, होता तो व्यक्ति केवल टीक की लकड़ी का दरवाजा बनाने या न बनाने में चुनाव कर सकता। पर अगर टीक का उपयोग जहाज, ट्रेन के डिब्बे, मेज़, अलमारी आदि अन्य घरेलू वस्तुएँ बनाने में किया जाय, तो व्यक्ति का चुनाव-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है। चूँकि आर्थिक सिद्धान्त का आधार चुनाव है, इसलिए यह मान लेना आवश्यक है कि साधनों के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं। यह मान लेने से अर्थशास्त्र का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। यह कल्पना पूर्णतः यथार्थिक है क्योंकि अधिकांश वस्तुओं के वास्तव में कई उपयोग होते हैं।

रॉबिन्स की परिभाषा का समालोचनात्मक मूल्यांकन. प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा अर्थशास्त्र का स्पष्ट रूप से वर्णन करती है और अर्थशास्त्र एवं अन्य कलाओं और विज्ञानों के अन्तर को बताती है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) यह अर्थशास्त्र को धन और कल्याण तक संसीमित नहीं रखती, बल्कि उसके क्षेत्र के अन्तर्गत उन सब मानवीय क्रियाओं को, जो चुनाव से संबंधित हैं, ले आती है। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वे सब परिस्थितियाँ आ जाती हैं जहाँ साधन दुर्लभ हों और चुनाव की समस्या हो। इनका परिणाम वैयक्तिक या सामाजिक कल्याण हो या नहीं, इनका संबंध धन से हो या काल्पनिक वस्तुओं और मानसिक संतुष्टि से हो, इससे कोई अन्तर नहीं आता। अगर किसी क्रिया में व्यक्ति या राष्ट्र को विभिन्न वैकल्पिक वस्तुओं या अवसरों के संबंध में चुनाव करना पड़े, तो वह अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आ जाती है। अगर कोई व्यक्ति धन के स्थान पर मोक्ष या निर्वाण चाहता है और अपने समय का उपयोग धन के स्थान पर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करने के लिए करता है, तो उसे चुनाव करना पड़ा और जहाँ तक उसे चुनाव करना पड़ा, यह क्रिया भी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आ जाती है। अगर कोई व्यक्ति दूध न पीकर शराब पीता है या कोई ऐसा कार्य करता है जिसे लोग बुरा समझते हैं, तब भी उसकी क्रिया अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री है क्योंकि उसे चुनाव तो करना ही पड़ा और जो कुछ भी वह करता है उससे उसे संतोष मिलता है। किसी चीज का बुरा या अच्छा होना उसे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर नहीं कर देता। अर्थशास्त्र की अध्ययन-सामग्री होने के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उससे चुनाव की समस्या संबंधित हो। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रो० रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र की यथार्थ और सुतथ्य परिभाषा देने के साथ उसका क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया और उसे अधिक यथार्थिक बना दिया।

(२) इस परिभाषा का तर्कसंगत निष्कर्ष यह है कि क्रियाएँ आर्थिक या

अनार्थिक नहीं होतीं। प्रत्येक मानवीय क्रिया का एक आर्थिक पक्ष है। मतदान एक राजनैतिक क्रिया मानी जाती है, पर व्यक्ति को मत देने के लिए जाने या न जाने और विपक्षी निर्वाचनार्थियों में से एक को छाँटने में चुनाव करना पड़ता है। इसलिए इस क्रिया का भी एक आर्थिक पक्ष है। पहले के अर्थशास्त्री केवल उन क्रियाओं को आर्थिक क्रियाएँ मानते थे जिनके कारण धन या कल्याण मिलता था, पर अब हम जानते हैं कि किसी भी प्रकार की क्रिया का आर्थिक पक्ष होना संभव है।

(३) प्रो० रॉबिन्स ने सामाजिक व्यवहार के स्थान पर मानव-व्यवहार को महत्व दिया है। अर्थशास्त्र न केवल व्यक्ति की समाज से संबंधित क्रियाओं का अध्ययन करता है, बल्कि उन क्रियाओं का भी अध्ययन करता है जिनको करने में वह समाज के सम्पर्क में नहीं आता। व्यक्ति का व्यवहार समाज से संबंधित हो या न हो, अगर उसका आर्थिक पक्ष है तो अर्थशास्त्र उसका अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र निर्जन द्वीप में रहने वाले रॉबिन्सन क्रूसो के व्यवहार का भी अध्ययन करेगा क्योंकि वहाँ भी साधन और समय दुर्लभ थे और उसके सामने चुनाव की समस्या थी। अर्थशास्त्र हिमालय की कन्दराओं में रहने वाले सन्यासी के व्यवहार का भी अध्ययन करेगा क्योंकि ऐसे साधु के सामने भी चिन्तन, शास्त्र-पाठ, चलने-फिरने, सोने आदि का चुनाव करने की समस्या रहेगी। किसी भी समय साधु को चिन्तन और प्रार्थना में चुनाव करना पड़ेगा। उसे विभिन्न प्रकार से उपलब्ध फलों में, जिन्हें वह खा सकता है, भी चुनाव करना पड़ेगा। अतएव अर्थशास्त्र व्यक्ति और समाज, दोनों, का अध्ययन करता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इस बात का निर्णय करता है कि वह क्या करेगा और क्या नहीं, उसकी क्रियाएँ उसे संतोष देंगी या नहीं और कौन क्रियाएँ उसे अधिक संतोष देंगी और कौन कम। पर समाज के लिए चुनाव और संतोष का निर्णय राजनीतिज्ञों या राज्य का प्रबन्ध करने वाले अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।

चुनाव की घटना को हमें विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण से देखना चाहिए। बैन्हम ने इसकी व्याख्या की है और कहा है कि हम आर्थिक निर्णयों को वैयक्तिक निर्णयों और सार्वजनिक निर्णयों में विभाजित कर सकते हैं। वैयक्तिक निर्णय मुख्य चार प्रकार के होते हैं : (१) मनुष्य को इसका निर्णय करना पड़ता है कि वह अपने समय को सवेतन परिश्रम और विश्राम में किस प्रकार विभाजित करेगा। (२) उसे इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि वह अपनी आय का कितना भाग वर्तमान उपभोग पर खर्च करेगा और कितना भाग भविष्य के लिए बचाएगा।

(३) उसे इस बात का निर्णय करना है कि वह अपनी संपत्ति (assets) को किस रूप में रखेगा और संपत्ति के मूल्य को विभिन्न प्रकार की संपत्तियों में किस प्रकार वितरित करेगा। (४) उसे इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि वह अपने व्यय को विभिन्न उपभोग-वस्तुओं (consumers' goods) में किस प्रकार वितरित करेगा।

रॉबिन्स की परिभाषा की मुख्य आलोचना यह है कि इस परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान रह जाता है, जबकि अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान है। इस आलोचना पर हम आगे विचार करेंगे। रॉबिन्स की परिभाषा की अन्य आलोचनाएँ अधिक महत्व की नहीं हैं और विशेष शब्दों या वाक्यांशों के प्रयोग से संबंधित हैं।

प्रोफेसर मेहता की परिभाषा. प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे० के० मेहता के अनुसार "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानवीय व्यवहार का अध्ययन आवश्यकता-विहीन साध्य के साधन के रूप में करता है"।[1] प्रोफेसर रॉबिन्स तथा इस परिभाषा में बहुत-कुछ बातें समान रूप से पाई जाती हैं। जिस प्रकार से प्रोफेसर मेहता मानवीय व्यवहार को परिभाषित करते हैं उससे यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि उनके मस्तिष्क में दुर्लभ साधनों—जिनके वैकल्पिक प्रयोग होते हैं—के चुनाव की समस्या है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अर्थशास्त्री इस बात को मान लेता है कि मनुष्य के पास पर्याप्त तर्कशक्ति होती है जो उसे सर्वोत्तम चुनाव करने में सहायक होती है। कुछ मूलभूत सिद्धान्त होते हैं जो इस प्रकार का चुनाव करने में मनुष्य की सहायता करते हैं। अर्थशास्त्री इन मूलभूत सिद्धान्तों की खोज करता है। इन सिद्धान्तों तथा नियमों को आर्थिक सिद्धान्त कहा जाता है। इस प्रकार मूल रूप में प्रोफेसर रॉबिन्स तथा प्रोफेसर मेहता की परिभाषाएँ एक प्रकार की हैं। दोनों परिभाषाओं में मुख्य अन्तर दो हैं :

(१) प्रोफेसर रॉबिन्स दिये हुए साध्यों के लिए साधन बतलाते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि बहुत से साध्यों को हम दिया हुआ मान सकते हैं तथा उनका निर्णय आर्थिक सिद्धान्तों द्वारा नहीं किया जाता। इसके विपरीत, प्रोफेसर मेहता केवल एक आवश्यकता-विहीनता (wantlessness) साध्य को ध्यान में रखते हैं। आवश्यकता-विहीनता से तात्पर्य उस स्थिति से नहीं होता जिसमें सभी आवश्यकताएँ पूर्ण रूप से खत्म कर दी गई हों और मनुष्य अकर्मण्य हो गया हो, बल्कि उस स्थिति से होता है जिसमें मनुष्य अन्तरात्मा से आदेशित होकर

---

[1] "Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness."

विवेकपूर्ण व्यवहार करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आवश्यकता-विहीन व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं से सन्तोष करेगा जो उसे उपलब्ध है तथा जिन्हें वह न तो अन्य व्यक्तियों को वंचित करके और न अच्छाई तथा दया इत्यादि नैतिक नियमों का उल्लंघन करके प्राप्त करता है। इस प्रकार केवल आवश्यकता-विहीनता को एक साध्य मानकर प्रोफेसर मेहता ने अर्थशास्त्र की परिभाषा को प्रवैगिक बना दिया है। आर्थिक संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग—जो आर्थिक समस्या का मूल है—केवल साधनों में चुनाव के द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी आवश्यकताओं को उपलब्ध संसाधनों की सीमा तक जान-बूझ कर नियन्त्रित करके भी हो सकता है।

यदि दुर्लभ साधनों के बीच चुनाव करने की प्रक्रिया में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय मनुष्य दूसरों के हितों की अवहेलना कर केवल अपने ही लिए संसाधनों की सर्वाधिक मात्रा प्राप्त करने का प्रयास करता है, तो वह स्वयं दुखी होगा और अन्य व्यक्तियों को भी दुखी बनाएगा। इस प्रकार उसकी क्रियाएँ न केवल अविवेकपूर्ण होंगी, अपितु आवश्यकता-सन्तुष्टि करने के प्रमुख उद्देश्य—आनन्द—की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी। प्रोफेसर मेहता की परिभाषा इस प्रकार की विशेष परिस्थिति का अनुमान लगाकर उसके लिए युक्ति बतलाती है। इस प्रकार चुनाव की प्रक्रिया वास्तव में विवेकपूर्ण तो होती ही है, साथ ही साथ व्यक्ति तथा सम्पूर्ण समाज के लिए उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने में सहायता भी प्रदान करती है।

(२) प्रोफेसर मेहता अर्थशास्त्र को आदर्शवादी विज्ञान मानते हैं। उनके अनुसार आदर्शवादी विज्ञान या तो एक साध्य का अन्वेषण करता है या एक साध्य की खोज करता है। साध्य की खोज उसके अन्वेषण से भिन्न होती है। खोज के साधन की विद्यमानता मान ली जाती है, जबकि अन्वेषण में ऐसी कोई मान्यता नहीं होती। साध्य का अन्वेषण (अथवा किसी अन्य वस्तु का अन्वेषण) सम्भव है अथवा नहीं, यह एक महान संशयात्मक विषय है। तर्क के सहारे खोज निकाले गए साध्य को तर्क द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है, परन्तु अन्वेषित साध्य को प्रमाणित करने के लिए इस प्रकार के साधन उपलब्ध नहीं होते। यदि आदर्शवादी विज्ञान एक साध्य का अन्वेषण करता है, तो हमारी परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र आदर्शवादी विज्ञान नहीं है। परन्तु आवश्यकताओं के निराकरण का साध्य, जैसा कि हमने देखा है, मनुष्य के विवेकपूर्ण व्यवहार में सन्निहित है।[1] इस प्रकार अर्थशास्त्र प्रोफेसर रॉबिन्स के अनुसार

1. Studies in Advanced Economic Theory, p. 317.

केवल वास्तविक विज्ञान है, परन्तु प्रोफेसर मेहता के अनुसार यह आदर्शवादी विज्ञान भी है।

विज्ञान एवं कला

प्रो० रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जब कि अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह कला और विज्ञान दोनों है। विज्ञान के दो मुख्य लक्षण हैं: (१) यह एक व्यवस्थित ज्ञान है, और (२) इसमें हम परिणाम प्राप्त करने और निष्कर्षों की पुष्टि करने के लिए प्रयोग कर सकते हैं। भौतिक शास्त्र जैसे कुछ विज्ञानों में, जो अधिक यथार्थ (exact) हैं, नए सिद्धान्तों का आविष्कार करना और पुराने सिद्धान्तों को सत्यापित (verify) करने के लिये सुतथ्य (precise) प्रयोगों को प्रयोगशालाओं में संचालित करना संभव है। पर अन्य विज्ञानों, जैसे खगोल-शास्त्र (astronomy), में प्रयोगशालाओं में प्रयोग करना संभव नहीं है, पर इनमें भी प्रयोग यथार्थ और सुतथ्य होते हैं।

अर्थशास्त्र इन दोनों शर्तों को पूरा करता है इसलिए वह एक विज्ञान हो जाता है। अर्थशास्त्र के विभिन्न नियम, जैसे माँग का नियम, प्रत्याय का नियम (laws of returns) आदि, एक व्यवस्थित ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन नियमों को हम आगमन और निगमन तर्क विधि का उपयोग करके बनाते हैं और इनको सत्यापित करने के लिए प्रयोग कर सकते हैं। अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञानों में मुख्य भेद यह है कि दूसरे में यथार्थ और सुतथ्य प्रयोग किए जा सकते हैं, पर अर्थशास्त्र में हमें कम यथार्थ प्रयोगों से, जो बाजार में या फैक्टरी में किए जाते हैं, संतुष्ट हो जाना पड़ता है। आर्थिक नियम बनाने के लिए जो प्रयोग किए जाते हैं उनमें कई चलों (variables), जैसे परिवर्ती आय, परिवर्ती मूल्य, परिवर्ती रुचियाँ आदि, पर विचार करना पड़ता है। इनमें कई ऐसे हैं जिनमें किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। इन सदैव होने वाले परिवर्तनों के कारण प्रयोग सुतथ्य और यथार्थ नहीं रह पाते। इतने अधिक चलों में से किसी एक में भी परिवर्तन होना परिणाम की शुद्धता (correctness) को प्रभावित करेगा। अतएव अर्थशास्त्री आंशिक और अपूर्ण प्रयोगों से ही संतुष्ट होने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञानों के नियमों के समान यथार्थ और सुतथ्य नहीं होते।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि अर्थशास्त्र के नियम, जो विभिन्न चलों में हेतुक सम्बन्ध (causal relationship) बताते हैं, उपकाल्पनिक और अयथार्थिक (hypothetical and unreal) नहीं हैं। यद्यपि

वे भौतिक विज्ञानों के नियमों के समान यथार्थ नहीं हैं, तथापि वे पर्याप्त सत्यता से यह सूचित कर देते हैं कि दी हुई परिस्थितियों में किस बात के होने की आशंसा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि नियम, चाहे वे अर्थशास्त्र के हों या भौतिक विज्ञानों के, केवल दी हुई परिस्थितियों में ही सत्य होते हैं। अगर ये परिस्थितियाँ न हों, तो कोई विशेष नियम लागू नहीं होगा। अगर कोई सेब पेड़ से टपकता है, तो इस बात की आशंका है कि वह जमीन पर गिरेगा। पर अगर आप टपकते समय उसके नीचे हथेली रख दीजिए, तो वह जमीन पर नहीं गिरेगा। इससे गुरुत्वाकर्षण (grnvitation) का नियम गलत नहीं हो जाता। इस नियम के अनुसार जो परिणाम अपेक्षित था, वह नहीं हुआ क्योंकि आपकी हथेली ने सेब को जमीन पर गिरने से रोक दिया। इसी प्रकार, अर्थशास्त्र में भी अगर परिस्थितियाँ उन प्रतिबन्धों के अनुकूल न हों जिन पर नियम आधारित है, तो नियम लागू नहीं होगा। आर्थिक नियमों की यह कोई अद्वितीयता नहीं है। कोई अपने स्वभाव ही के कारण प्रत्येक नियम से प्रतिबन्धित होता है और केवल दी हुई परिस्थितियों में ही व्यवहृत किया जा सकता है। आर्थिक नियमों का केवल यह दोष है, जो निश्चय ही बहुत बड़ा दोष है, कि चलों के बहुत अधिक संख्या में होने के कारण कई कल्पनाएँ (assumptions) करनी पड़ती हैं और कोई आर्थिक नियम इन कल्पनाओं के अन्तर्गत ही लागू होगा। ये सब परिकल्पनाएँ मार्शल द्वारा प्रयुक्त किये गए वाक्यांश 'अन्य वस्तुओं के समान रहने पर' के अन्तर्गत आ जाती हैं। जैसे माँग के नियम में, जिसके अनुसार एक व्यक्ति किसी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदेगा अगर उसका मूल्य कम हो जाए, समान रहने वाली 'अन्य वस्तुएँ' व्यक्ति की आय, उसके स्वामित्व में अन्य वस्तुओं की राशि, व्यक्ति की रुचियाँ, उसकी पसन्द-ना-पसन्द और अन्य वस्तुओं के मूल्य हैं। अगर इस परिस्थिति में किसी वस्तु का मूल्य कम होता है, तो व्यक्ति संभवतः उसकी अधिक इकाइयाँ खरीदेगा। पर अगर इनमें से कोई भी वस्तु बदल गई और मान लीजिए कि व्यक्ति अधिक निर्धन हो गया, तो उसमें अधिक इकाइयाँ खरीदने की सामर्थ्य नहीं रहेगी और वह अधिक इकाइयाँ नहीं खरीदेगा। अगर वस्तु का मूल्य कम हो जाता है पर, साथ ही साथ, अन्य वस्तुओं का मूल्य सापेक्षतः अधिक कम हो जाता है, तो उपभोक्ता अन्य वस्तुओं की अधिक इकाइयाँ खरीदेगा, न कि इस वस्तु की जिस पर हम विचार कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर माँग का नियम क्रियान्वित किया जाता है, तो अन्य परिस्थितियाँ समान रहनी चाहिएँ।

माशल के अनुसार अथशास्त्र के नियम ज्वार-भाटा के नियमों के सदृश हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक शास्त्र या गणित

के नियमों की कोटि के नहीं हैं। वे केवल इस बात पर बल देना चाहते थे कि जिस प्रकार ज्वार-भाटा के नियम कई चलों पर आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार अर्थशास्त्र के नियम भी कई चलों पर आश्रित होते हैं। पर, चाहे अर्थशास्त्र के नियम यथार्थ हों या अयथार्थ और चाहे वे दी हुई दशाओं में लागू होते हों या नहीं, उनमें नियम के गुण हैं; इसलिए वे सब प्रकार से नियम हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र, जो तर्क पर आधारित है, इतना ही वैज्ञानिक है जितना कोई अन्य विज्ञान।

कला से हमारा तात्पर्य ज्ञान का व्यवहार (application) है। कोई बढ़ई लकड़ी चीरते या उसकी सतह को चिकनी बनाते समय विज्ञान के किसी सिद्धान्त का व्यवहार कर रहा है। इसी प्रकार एक चित्रकार जब कॅनवस पर चित्र बनाता है, तब वह विज्ञान के किसी सिद्धान्त के आधार पर कार्य कर रहा है। एक गाता हुआ संगीतकार, एक काव्य-सर्जन में मग्न कवि या एक कार्यरत नट, सब अपने कार्य से संबंधित सिद्धान्तों का उपयोग कर रहे हैं। ये सब कलाकार हैं। इसी प्रकार अर्थशास्त्र की कला भी है। एक गृहिणी, जो यह निश्चित करती है कि वह आलू खरीदेगी या पेन्सिल या बच्चे के लिए कपड़ा, सम-सीमांत उपयोगिता नियम का व्यवहार कर रही है। जब एक-एक केले खरीदता हुआ व्यक्ति अधिक केले खरीदने के बदले सिनेमा जाता है, तो वह अपनी क्रिया से बताता है कि केलों की सीमान्त उपयोगिता के ह्रासमान होने के कारण वह केलों को नापसन्द करने लगता है। यह ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का व्यवहार है। जब एक उत्पादक सापेक्षत: अधिक महँगे श्रम को मशीन से प्रतिस्थापित करता है, तब वह प्रतिस्थापन के सिद्धान्त का व्यवहार कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे अर्थशास्त्र का विज्ञान है उसी प्रकार अर्थशास्त्र की कला भी है। अर्थशास्त्र कला और विज्ञान दोनों है।

वास्तविक या आदर्शवादी
(Normative versus Positive)

किसी विज्ञान को वास्तविक कहने का अर्थ यह होता है कि वह विज्ञान कार्य और कारण में संबंध स्थापित करता है। वह बताता है कि अगर हम कोई काम करें, तो उससे अमुक फल की प्राप्ति होगी। यह केवल 'क्या है' का अध्ययन करता है, 'क्या होना चाहिए' का नहीं। दूसरी ओर, एक आदर्शी विज्ञान हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। आदर्शी होने के लिए अर्थ-शास्त्र को वैयक्तिक उपभोक्ता को और राज्य के संचालकों को यह बताना पड़ेगा

कि किन्हीं दी हुई परिस्थितियों में उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार वास्तविक अध्ययन में किसी चीज के अच्छे या बुरे का प्रश्न नहीं उठता; अपितु केवल परिणाम, जो दी हुई परिस्थितियों में निश्चयतः प्राप्त होगा, का प्रश्न उठता है। पर एक आदर्शी विज्ञान में पहला सवाल अच्छे और बुरे के बारे में उठता है। एक आदर्शी विज्ञान के प्रारम्भ में यह बताया जाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। तत्पश्चात् वह इस बात का अध्ययन करेगा कि जो बताया गया है उसके अनुसार कार्य हो रहा है या नहीं, और अगर हो रहा है तो कहाँ तक। क्योंकि कोई कार्य अच्छा समझा जाता है, इसलिए आदर्शी उपगमन (approach) उसे करने का सुझाव देता है। इसके विपरीत, जब वह कहता है कि कोई काम नहीं करना चाहिए, वह उसे बुरा समझता है। अतएव आदर्शी विज्ञान में भौतिकता का भी स्थान होता है।

प्रो० रॉबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्र अपने को केवल कार्य-कारण संबंधों के विश्लेषण तक सीमित रखे। इसे क्या अच्छा है, क्या बुरा या क्या करना चाहिए और क्या नहीं के संबंध में मौन रहना चाहिए। किसी दूसरे को, यथा राजनीतिज्ञ, नीतिशास्त्री या स्वयं व्यक्ति को, यह बताना चाहिए कि अब क्या करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि लक्ष्यों को दिया हुआ मान लेना चाहिए और अर्थशास्त्र को केवल लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों और रीतियों को खोजने के कार्य तक ही सीमित रखना चाहिए। अन्य शब्दों में, अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है, न कि आदर्शी। अर्थशास्त्र को शुद्धतः वास्तविक बनाने के दो कारण हैं :

(१) प्रो० रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को विज्ञान कहा है और विज्ञान तर्क (logic) पर आधारित होता है। अतएव अर्थशास्त्र को केवल उन स्थितियों तक सीमित रखना चाहिए जो तर्क के आधार पर निर्धारित की जा सकती हैं। तर्क की सहायता से हम कार्य-कारण सम्बन्ध का अध्ययन कर सकते हैं, अर्थात् हम निश्चित कार्यों का संभावित परिणाम जान सकते हैं। पर तर्कशास्त्र इसका निर्णय नहीं कर सकता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। तर्कशास्त्र कार्यों के वैकल्पिक रूपों के लाभ और हानि मात्र बता सकता है। इन वैकल्पिक रूपों में किसे छाँटा जाय, इसका अन्तिम निर्णय पूर्णतः व्यक्ति की भावनाओं पर आश्रित होता है। कोट या बुशशर्ट पहनने के लाभ भी हैं और हानियाँ भी। पर हम पूर्णतः तर्कसम्मत रीतियों से यह नहीं बता सकते कि कोट पहनना चाहिए या बुशशर्ट। यह पूर्णतः भावनाओं पर निर्भर है। इसी प्रकार समाजवाद और पूँजीवाद के लाभ और हानियाँ दोनों हैं, पर इनमें कौन अधिक अच्छा है यह शुद्धतः तर्कसम्मत रीतियों से नहीं ज्ञात हो सकता। दूसरी तरह से हम इसे यों कह

सकते हैं कि मानवीय कार्यों में तर्क का बहुत उपयोग होता है, पर तर्क ही सब कुछ नहीं है। एक समय ऐसा आता है जब किसी कार्य का निर्णय करते समय तर्क किसी प्रकार की सहायता नहीं करता और अन्तिम निर्णय अन्तर्ज्ञान (intuition) के आधार पर करना पड़ता है। चूँकि हमने अर्थशास्त्र को विज्ञान कहा है और विज्ञान पूर्णतः तर्कसमम्त होता है, अतएव यह उचित होगा कि आदर्शी विचारों को अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर रखा जाय क्योंकि ये भावनाओं पर आधारित होते हैं।

(२) अन्य क्षेत्रों की भाँति आर्थिक विचारों में भी श्रम-विभाजन होना चाहिए। चूँकि जीवन की अवधि सीमित है और किसी के पास पर्याप्त समय नहीं है, इसलिए कोई व्यक्ति प्रत्येक काम नहीं कर सकता। यही बात अर्थशास्त्र में भी लागू होती है। अतएव यह अधिक अच्छा रहेगा कि अर्थशास्त्र अपने को ताथ्यिक अध्ययन और तर्कसम्मत रीति से कार्य-कारण सम्बन्ध खोजने में सीमित रखे और क्या करना चाहिए और क्या नहीं के निर्णय का कार्य अन्य लोगों, जैसे राजनीतिज्ञो और नीतिशास्त्रियों, पर छोड़ दे। अगर अर्थशास्त्र दोनों कार्य, अर्थात् कार्य-कारण सम्बन्ध का अध्ययन और साथ ही साथ अच्छे-बुरे का निर्णय, करे तो वह इनमें से किसी एक को अच्छी तरह और कुशलतापूर्वक करने में समर्थ नहीं होगा। उपलब्ध समय से सर्वाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अर्थ-शास्त्र को शुद्धतः मानव-व्यवहार के वास्तविक पक्ष का अध्ययन करने में सीमित रखना चाहिए।

अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान बनाने के पक्ष में ये दो मुख्य युक्तियाँ हैं। अगर हम वस्तु-स्थिति का सूक्ष्मतः अध्ययन करें, तो ये युक्तियाँ विश्वासोत्पादक नहीं लगतीं। यह सच है कि अर्थशास्त्र को आदर्शी बनाने के लिए हमें तर्क और भावनाओं, दोनों, के आश्रित होना पड़ेगा और हम शुद्धतः तार्किक रीतियों का उपयोग नहीं कर पाएँगे, पर वास्तविकता यह है कि मनुष्य तार्किक और भावुक दोनों है और कोई मानवीय-व्यवहार से संबंधित अध्ययन शुद्धतः तर्कसम्मत नहीं हो सकता। अगर वह मनुष्य पर विचार करता है, तो विषय के स्वभावानुसार यह आवश्यक है कि वह भावना और तर्क, दोनों, का उपयोग करे क्योंकि मनुष्य के ये दोनों लक्षण सहगामी हैं। पुनः, यद्यपि श्रम-विभाजन अच्छा है और इसके द्वारा समय का उपयोग अधिक मितव्ययिता के साथ किया जाना संभव है, तथापि श्रम-विभाजन उचित स्थान पर होना चाहिए। श्रम का गलत विभाजन हानिकर हो सकता है। ऐसा श्रम-विभाजन जिसमें एक व्यक्ति केवल खाना खाए और दूसरा केवल पानी पिए, हास्यास्पद और विवेकशून्य होगा। किसी दौड़ में यह अवश्य ही आश्चर्यजनक होगा कि एक व्यक्ति तो लगभग पूरी दूरी दौड़े और जैसे

ही लक्ष्य निकट आए, कोई दूसरा व्यक्ति उसका स्थान ले ले। इसी प्रकार, अगर अर्थशास्त्र कार्य-कारण सम्बन्ध का अध्ययन करे और क्या करना चाहिए और क्या नहीं का निर्णय दूसरों पर छोड़ दे, तो समय का मितव्ययी उपयोग होने के बदले समय और शक्ति, दोनों, की अत्यधिक हानि होगी। वह व्यक्ति, जिसने समस्या का अध्ययन किया है और कार्य-कारण सम्बन्ध खोज निकाला है, यह बताने के लिए सबसे उपयुक्त है कि क्या किया जाना चाहिए और क्या नहीं। अगर किसी दूसरे व्यक्ति को निर्णय करना है, तो उसे सर्वप्रथम पहले के अनुसंधान के परिणामों का अध्ययन करना पड़ेगा, तब वह इस बात का निर्णय कर पाएगा कि क्या अच्छा है और क्या बुरा। इससे केवल समय नष्ट होगा और ऐसा करने से कोई अधिक अच्छे परिणाम भी नहीं मिलेंगे। प्रो० रॉबिन्स के अलावा कई अन्य अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र वास्तविक और आदर्शी, दोनों, होना चाहिए और इसे विश्लेषण करने के साथ-साथ क्या करना चाहिए और क्या नहीं के बारे में सुझाव देने चाहिएँ।

प्रोफेसर मेहता के अनुसार अर्थशास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान है क्योंकि यह मानवीय व्यवहार का अध्ययन एक विशेष साध्य के साधन के रूप में करता है। यदि अर्थशास्त्र के स्वरूप से सम्बन्धित यह विचार प्रोफेसर रॉबिन्स के विचार से भिन्न है, तो इस भिन्नता का कारण यह है कि हम लोग एक विशेष साध्य को मान लेते हैं और सभी मानवीय क्रियाओं पर उस साध्य-विशेष के साधनों के रूप में विचार करते हैं, जबकि प्रोफेसर रॉबिन्स इस प्रकार के साध्य-विशेष को नहीं स्वीकार करते। इस भिन्नता के कारण रॉबिन्स की परिभाषा अर्थशास्त्र को शुद्ध तथा सरल वास्तविक विज्ञान मानती है, जबकि इसके विपरीत, हम लोगों की परिभाषा ठीक उसी प्रकार अर्थशास्त्र को आदर्शवादी विज्ञान मानती है, जिस प्रकार अन्य सभी विज्ञान आदर्शवादी हो सकते हैं।

अन्य विज्ञानों से संबंध

अर्थशास्त्र अन्य विज्ञानों और कलाओं से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि यह मानवीय व्यवहार का अध्ययन तभी करता है जब साधन दुर्लभ हों। यह मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए चुनाव की घटना पर विचार करता है। अगर साधन दुर्लभ न हों और प्रत्येक वस्तु की प्रचुरता हो, तो अर्थशास्त्र का अस्तित्व नहीं रहेगा, पर अन्य विज्ञान बने रहेंगे। अगर साधन दुर्लभ न भी हों, तब भी राजनैतिक संगठन होगा, इतिहास लिखा जाएगा और नीतिज्ञ और उपदेशक भी होंगे। ऐसी स्थिति में भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, गणित और अन्य

भौतिक विज्ञान होंगे, पर अर्थशास्त्र न रहेगा क्योंकि साधन दुर्लभ नहीं हैं। यह अर्थशास्त्र को अन्य विज्ञानों और कलाओं से स्पष्टतः अलग कर देता है।

पर, यद्यपि अर्थशास्त्र अपने प्रकार का एक ही विज्ञान है, तथापि इसका अन्य विज्ञानों से घनिष्ठ संबंध है। इसका घनिष्ठतम संबंध राजनीति-शास्त्र से है। यह संबंध इतना निकट का है कि पहले अर्थशास्त्र को 'पॉलिटिकल इकॉनॉमी' कहा जाता था। उस काल में अर्थशास्त्र को राजनीति-शास्त्र के अन्तर्गत माना जाता था और इसका कार्य राज्य के हितों को बढ़ाने के लिए राज्य के आदेशों का अनुसरण करना मात्र माना जाता था। पर अब इस बात का स्पष्टतः अनुभव कर लिया गया है कि यद्यपि राजनैतिक संगठन का आर्थिक क्रियाओं पर महत्वपूर्ण ढंग से प्रभाव पड़ता है, तथापि अर्थशास्त्र राजनीति से पूर्णतः स्वतंत्र है। अगर राज्य न भी हो और हम केवल एक व्यक्ति पर विचार कर रहे हों, तब भी चुनाव की आर्थिक घटना होगी। इस दशा में व्यक्ति स्वयं चुनाव कर लेगा, पर अगर राज्य है, तो वह नागरिकों के बारे में कई बातों का चुनाव स्वयं कर लेगा और अर्थशास्त्र इन उद्देश्यों की प्राप्ति में लग जाएगा। दूसरे शब्दों में, चाहे राज्य हो या न हो और राजनैतिक संगठन का कोई भी रूप क्यों न हो, अर्थशास्त्र का अस्तित्व रहेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वयं राजनैतिक संगठन अंशतः लोगों के आर्थिक विचारों और आर्थिक संगठनों पर निर्भर रहता है। किसी जगह पूँजीवादी राज्य होगा या समाजवादी, यह अंशतः इस बात पर निर्भर रहेगा कि लोग किस प्रकार के आर्थिक संगठन को चाहते हैं। यह राजनीति और अर्थशास्त्र के घनिष्ठ संबंध को दिखाता है।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र का भेद स्पष्ट रखना चाहिए। समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानव-अस्तित्व के सब पक्ष, यथा आर्थिक, राजनैतिक, नैतिक और ऐतिहासिक आ जाते हैं। यह एक सर्वव्यापी सामाजिक विज्ञान है; पर अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल उसी मानवीय-व्यवहार तक सीमित है जहाँ मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए चुनाव किया जाता है। समाजशास्त्र तथा कल्याणकारी अर्थशात्र (welfare economics) में बहुत कुछ साम्य है क्योंकि दोनों में आदर्शीय निर्णय (value judgments) की भावना सम्मिलित है। सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत क्या-क्या बातें आती हैं, इसके विषय में अलग-अलग व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं, परन्तु सामाजिक कल्याण को सर्वाधिक बनाते समय सामाजिक वातावरण तथा वास्तविक सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत क्या-क्या बातें सम्मिलित हैं, इसके विषय में लोगों के विचारों पर पूर्ण ध्यान देना होगा।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान भी अर्थशास्त्र से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। उपयोगिता या संतुष्टि एक पूर्णतः मानसिक प्रतिभास (phenomenon) है और संतुष्टि क्या है इस विषय में मनोविज्ञान ही सूचना देता है—भले ही यह सूचना अपूर्ण और आंशिक क्यों न हो। सब मानवीय व्यवहार की पृष्ठभूमि में मनुष्य का मस्तिष्क है और जब हम आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करते हैं, मनोविज्ञान बार-बार सामने आ जाता है। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का संबंध घनिष्ठतर है। इसका प्रमाण 'आर्थिक कल्याण' के संबोध से मिल जाता है। अगर अर्थशास्त्र का कार्य जन कल्याण की ओर ले जाना है, तो पहले हमें यह निर्णय करना होगा कि कल्याण क्या है। यह नीतिशास्त्र का कार्य है। आर्थिक विचारों में और आर्थिक संगठन को बनाने में हमें सदैव किसी नैतिक आदर्श को ध्यान में रखना होता है। अर्थशास्त्र नैतिक आदर्श को नीतिशास्त्र से लेता है। एक नैतिक आदर्श से एक प्रकार के परिणाम निकलेंगे और दूसरे नैतिक आदर्श से बिलकुल दूसरे प्रकार के। यद्यपि रॉबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र नैतिक आदर्शों का निर्णय नहीं करता और उन्हें दिया हुआ मान लेता है, तथापि यह उल्लेखनीय है कि स्वयं नैतिक आदर्श अंशतः आर्थिक संगठन और आर्थिक विचारों के आधार पर निर्मित होते हैं। अर्थशास्त्र मानवीय व्यवहार से संबंधित वह सामग्री प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर नीतिशास्त्र निष्कर्ष निकालता है और नैतिक आदर्श स्थापित करता है।

अर्थशास्त्र इतिहास से घनिष्ठतः संबंधित है। अर्थशास्त्र लिखित इतिहास के अनुभव और सामग्री से बहुत कुछ प्राप्त करता है और यह आर्थिक विचारों और आर्थिक संगठन को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भाग लेता है। संबंध की घनिष्ठता इस तथ्य से जानी जा सकती है कि अर्थशास्त्र में एक 'ऐतिहासिक स्कूल' था जिसने आर्थिक विचारों और संगठन की रचना करने में इतिहास की खोजों के महत्व को बल दिया। इतिहास उन आर्थिक घटनाओं और तथ्यों को लिखता है जो वर्तमान काल में हो रहे हैं। अगर आर्थिक घटनाएँ दूसरी होतीं तो ऐतिहासिक मार्ग भी अलग होता। यह अर्थशास्त्र और इतिहास के घनिष्ठ संबंध को बताता है।

किसी देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की तुलना जीव-विद्या से सम्बन्धित विधियों से की जा सकती है। व्यक्ति सोच-समझकर चुनाव करते हैं या चुनाव करते प्रतीत होते हैं। उनके निर्णय सदैव एक रूप तथा सुनिश्चित नहीं होते। फिर भी देश की आर्थिक व्यवस्था का व्यवहार अधिकांशतः समझा जा सकता है तथा उसके विषय में भविष्यवाणी भी की जा सकती है। इससे यह बात बिल्कुल

स्पष्ट हो जाती है कि देश की आर्थिक व्यवस्था जीवित प्राणी के सदृश होती है जिसके विभिन्न अंशों के व्यवहारों में कुछ विरोध तथा भिन्नता होने के बावजूद भी उनके विकास तथा पतन का बहुधा एक निश्चित क्रम होता है। अर्थशास्त्र भौतिक विज्ञानों से भी बहुत कुछ लेता है। संस्थिति, 'स्थैतिक और प्रवैगिक' और 'श्रुति-संबंध' (functional relationship) के संबोध इनसे लिये गए हैं। अपनी गवेषणाओं में भौतिक शास्त्री, रसायन-शास्त्री और अन्य वैज्ञानिक लोगों की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हैं। अगर लोग हवाई जहाज में उड़ना चाहें, परमाणु-शक्ति का उपयोग करना चाहें, गर्म कपड़े और जूते पहनना चाहें, तो भौतिक वैज्ञानिकों को अपना ध्यान इन वस्तुओं को बनाने के साधनों और रीतियों पर देना पड़ेगा। अगर लोगों की आवश्यकताएँ दूसरी होतीं, तो गवेषणा की प्रगति दूसरे ही मार्गों में होतीं। गणित उन रीतियों को प्रस्तुत करता है जिनका उपयोग अर्थशास्त्र अपने निष्कर्षों को यथार्थतर और सुतथ्यतर रूप में व्यक्त करने के लिए करता है। पिछले कुछ वर्षों से अर्थशास्त्र और गणित का संबंध इतना घनिष्ठ हो गया है कि अर्थशास्त्र के अधिकांश सिद्धान्त और सब प्रवैगिक सिद्धान्त गणित के माध्यम से उपस्थित किए जाते हैं। एक अच्छा अर्थशास्त्री होने के लिए एक अच्छा गणितज्ञ होना आवश्यक हो गया है। जब हम गणित के मार्ग का अनुसरण करते हैं तब हमें इस बात का पता लगता है कि जिसे गणितज्ञ वास्तव में गणित कहते हैं उससे हम अभी कितने दूर हैं। सच्चा गणितज्ञ एक दार्शनिक होता है। ठीक ही कहा गया है कि गणित संख्याओं का तर्क है। इससे एक मौलिक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि हमारे सभी बाह्य वस्तुओं को अर्थ तथा विषय-सामग्री प्रदान करने का कार्य मानव-मस्तिष्क ही करता है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों एवं कलाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर यह स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र अन्य विज्ञानों से बिल्कुल भिन्न है। अर्थशास्त्र आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए समय तथा दुर्लभ साधनों के बीच चुनाव (choice) करने से सम्बन्धित है।

अध्याय २

कल्याणकारी अर्थशास्त्र

(Welfare Economics)

कल्याणकारी अर्थशास्त्र उन सभी उपायों तथा साधनों का अध्ययन हैं जिनसे न केवल व्यक्ति को, वरन् सम्पूर्ण समाज को सर्वाधिक आर्थिक कल्याण तथा सन्तोष को प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत सामाजिक कल्याण परखने की कसौटी, संस्थिति की दशाएँ तथा मनोवांछित सीमा तक समाज के आर्थिक कल्याण को लाने की विधि इत्यादि का अध्ययन भी सम्मिलित है। समस्या केवल उस मापदण्ड के निर्धारण की ही नहीं है जिसके आधार पर हम यह बतला सकें कि एक व्यक्ति एक दिए हुए वातावरण में अन्य वातावरण की अपेक्षा अधिक सुखी रहता है अथवा कम या उसका आर्थिक कल्याण अपरिवर्तित रहता है, वरन् समस्या उस मापदण्ड के निर्धारण करने की है जिससे हम यह परख सकें कि समाज का आर्थिक कल्याण एक समय से दूसरे समय में बढ़ा है अथवा घटा है। यह सम्भव है कि अपने आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने के उद्देश्य से व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले कार्य से अन्य व्यक्तियों के भी आर्थिक कल्याण में साथ-साथ वृद्धि हो या उनके आर्थिक कल्याण में कोई परिवर्तन न हो। लेकिन सामान्यतः यह पाया जाता है कि अपने आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने के उद्देश्य से व्यक्ति तथा व्यक्ति के समूह द्वारा किए गए प्रयासों से अन्य व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों के आर्थिक कल्याण में कमी हो जाती है। इससे एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसमें यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि सम्पूर्ण समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हुई है अथवा कमी।

वास्तव में आर्थिक कल्याण को सामान्य कल्याण से, जिसके अन्तर्गत लोगों के सुख तथा आध्यात्मिक प्राप्ति इत्यादि बातें आती हैं, पृथक् नहीं किया जा सकता। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि एक धनी व्यक्ति निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुखी हो, फिर भी भौतिक सुख सामान्य सुख का एक महत्वपूर्ण भाग होता है। दी हुई दशाओं के अन्तर्गत एक धनी व्यक्ति निर्धन की अपेक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है और इस प्रकार वह अपने को सामान्य कल्याण (general welfare) के निकट लाता है। इसी प्रकार

समाज में जहाँ व्यक्ति पहले से अधिक धनी हैं उन्हें आर्थिक तथा सामान्य कल्याण अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। लेकिन जब हम कल्याणकारी अर्थशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तब हम अपने को केवल आर्थिक कल्याण तक ही सीमित रखते हैं तथा सामान्य कल्याण—जिसके अन्तर्गत सुख, आध्यात्मिक प्राप्ति इत्यादि आते हैं—पर विचार नहीं करते।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र तथा वास्तविक अर्थशास्त्र में अन्तर. कल्याणकारी अर्थशास्त्र को अर्थशास्त्र के एक पृथक् भाग के रूप में रखना आवश्यक हो गया है क्योंकि वास्तविक अर्थशास्त्र (positive economics), जो उपभोग, उत्पादन, विनिमय, मूल्य तथा वितरण के सिद्धान्तों का अध्ययन करती है, कल्याणकारी अर्थशास्त्र की समस्याओं पर विचार करने में नहीं समर्थ हो सकती। वास्तविक अर्थशास्त्र तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र में मुख्यतः तीन प्रमुख अन्तर हैं :

(१) अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की प्रक्रिया में एक व्यक्ति पहले यह निर्णय करके, कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या है, उसके अनुसार कार्य करता है। यहाँ पर भी इसमें भेद करना सम्भव है कि मानवीय व्यवहार का वास्तविक निर्देशन कौन करता है और उसके व्यवहार का निर्देशन किसे तथा किस प्रकार चाहिए, यदि व्यक्ति को सर्वाधिक आर्थिक कल्याण प्राप्त कराना हो। साथ-साथ यहाँ यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि व्यक्ति इस बात का स्वयं ध्यान रखता है कि वास्तव में उसके व्यवहार का निर्देशन किस प्रकार होना चाहिए तथा उसी के अनुसार वह कार्य भी करता है क्योंकि व्यक्ति अपने वास्तविक हित का स्वयं सर्वोत्तम निर्णायक होता है।

परन्तु जब हम व्यक्ति की क्रियाओं पर उसके अन्य व्यक्तियों पर पड़े प्रभाव के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तब मतभेद की सम्भावना दिखलाई पड़ती है। जबकि एक व्यक्ति यह सोच सकता है कि उसका व्यवहार न केवल उसके सर्वोत्तम हित में है बल्कि पूरे समाज के, अन्य व्यक्तियों के लिए ऐसा सोचना आवश्यक नहीं है। वे यह भी सोच सकते हैं कि यदि उस व्यक्ति के कार्य भिन्न प्रकार के होते, तो कदाचित् समाज का अधिक कल्याण होता। "यद्यपि वैयक्तिक दृष्टिकोण से विचार करने पर वास्तविक तथा आदर्शवादी (कल्याणकारी) अर्थशास्त्र में कोई भेद नहीं हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करने पर दोनों में भेद करना सम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति अपने लिए क्या सर्वोत्तम समझता है तथा वह (या अन्य व्यक्ति) समाज के लिए क्या सर्वोत्तम समझता है, इन दोनों में अन्तर है। इस प्रकार जब एक व्यक्ति वैसा ही कार्य करता है

जैसा कि वह अपने लिए सर्वोत्तम समझता है तब यह आवश्यक नहीं है कि उसके कार्य समाज के दृष्टिकोण से भी सर्वोत्तम हों। यदि 'चाहिए' शब्द को सामाज़िक महत्व प्रदान किया जाय, तब 'क्या किया गया है' तथा 'क्या किया जाना चाहिए' में भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी सामाजिक दृष्टिकोण को ग्रहण करने के कारण ही यह सामान्य विश्वास हो गया है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन दो विभिन्न दृष्टि-कोणों—वास्तविक तथा आदर्शवादी—से किया जा सकता है।" वास्तविक अर्थशास्त्र सर्वाधिक सामाजिक कल्याण को जानने के लिए कोई मापदण्ड नहीं प्रदान करता क्योंकि इसमें आदर्शीय निर्णय (value judgments) नहीं सन्निहित है। यह तो केवल कारण और परिणाम के सम्बन्ध की व्याख्या तथा अध्ययन करता है। इसलिए अर्थशास्त्र का एक पृथक् भाग रखना आवश्यक हो जाता है जिसे 'कल्याणकारी अर्थशास्त्र' कहते हैं। कल्याणकारी अर्थशास्त्र का कार्य यह निर्णय करना होता है कि आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से व्यक्ति तथा समाज के लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा।

(२) वास्तविक अर्थशास्त्र या तो आर्थिक व्यष्टिभाव (micro economic) या आर्थिक समष्टिभाव (macro economic) का अध्ययन हो सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तविक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत या तो एक वस्तु की पूर्ति, माँग तथा मूल्य का अध्ययन कर सकते हैं या समस्त माँग (aggregate demand), समस्त पूर्ति (aggregate supply) तथा कुल बिक्री-प्राप्ति (total sale proceeds) का अध्ययन कर सकते हैं। अन्य शब्दों में, वास्तविक अर्थशास्त्र में हम अपने अध्ययन के लिए या तो एक इकाई ले सकते हैं या सम्पूर्ण। कल्याणकारी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति के आर्थिक कल्याण में हुए परि-वर्तनों का अध्ययन सम्भव है, परन्तु वास्तव में सामाजिक कल्याण में हुए परि-वर्तन अधिक महत्वपूर्ण हैं। अतः समस्या पर आर्थिक समष्टिभाव (macroeco-nomic) के दृष्टिकोण से विचार करना अधिक सार्थक होगा। कल्याणकारी अर्थ-शास्त्र में आर्थिक व्यष्टिभाव का अध्ययन अधिक सार्थक नहीं होगा और न ही कोई महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध करेगा।

(३) कल्याणकारी अर्थशास्त्र तथा वास्तविक अर्थशास्त्र की उपगमन विधि में भी अन्तर होता है। "वास्तविक अर्थशास्त्र में एक सिद्धान्त की जाँच करने की सामान्य विधि उसके निष्कर्षों की जाँच है, परन्तु कल्याणकारी साध्य (welfare proposition) की जाँच करने की सामान्य विधि उसके पूर्व-अनुमानों की जाँच है। इस महत्वपूर्ण बात को भुला नहीं देना चाहिए। वास्तविक अर्थशास्त्र में हम अपने पूर्व-अनुमानों को जितना चाहें उतना सरल बना सकते हैं क्योंकि

इसमे इस बात का विश्वास होता है कि सिद्धान्त के औचित्य की जॉच उस समय की जायेगी जब हम निष्कर्षों को वास्तविक जगत की स्थिति मे लागू करेंगे। कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे इस प्रकार का विश्वास हमे नही होता। इसका परिणाम यह होता है कि हमें अपने पूर्व-अनुमानो की सूक्ष्म परीक्षा अत्यन्त ध्यान-पूर्वक तथा विस्तार के साथ करनी होती है। प्रत्येक पूर्व-अनुमान को अपने पैर पर खडा होना चाहिए। हम उन्हे अधिक सरल नही बना सकते और न तो हम ऐसी आशा ही कर सकते है कि दो गलत पूर्व-अनुमान किसी प्रकार से एक दूसरे को रद्द करके एक मान्य निष्कर्ष निकालेंगे। वास्तविक अर्थशास्त्र मे इस प्रकार की प्रक्रिया बहुत प्रचलित तथा आवश्यक होती है"। उदाहरणार्थ यदि हम यह मान लें कि लोग सर्वोदय समाज को चाहते है जिसमे आर्थिक आत्मनिर्भरता तथा आवश्यकता-विहीनता वांछित उद्देश्य हो, तब हम एक भिन्न प्रकार के निष्कर्ष निकालेंगे। इसके विपरीत, यदि हमारा उद्देश्य बडे पैमाने के उत्पादन तथा मुक्त व्यापार के साथ ऐसी पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाधिक भौतिक पदार्थ की प्राप्ति हो, तब हमारे निष्कर्ष भिन्न प्रकार के होगे, क्योकि एक समाज जो पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को पसन्द करता है उसमे सर्वोदय समाज की परिकल्पनाओ के आ.ार पर निकाले गए निष्कर्ष सामाजिक या अन्य किसी प्रकार के कल्याण को सर्वाधिक करने मे समर्थ नहीं हो सकेंगे। अत: जहॉ तक कल्याणकारी अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, यदि हम उचित निष्कर्ष प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमे उचित परि-कल्पनाओ को मानना भी पड़ेगा।

प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र. प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे, जिसके साथ मार्शल तथा प्रोफेसर पीगू का नाम सम्बद्ध है, न तो आर्थिक कल्याण को निर्धारित करने वाले आधार का पता लगाना अधिक मुश्किल था और न ही इस बात को जानना ही मुश्किल था कि आर्थिक कल्याण के अन्तर्गत क्या क्या बातें सम्मिलित हैं। प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र निम्न तथ्यो पर आधारित है:—(१) **उपयोगिता की मापनीयता पर.** इसका अर्थ यह हुआ कि किसी वस्तु या सेवा द्वारा किसी व्यक्ति को प्राप्त सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उप-योगिता (सन्तोष) मापनीय है तथा द्रव्य या अन्य किसी इकाई के माध्यम से व्यक्त की जा सकती है। इस प्रकार हम सीमान्त उपयोगिता के बढने अथवा घटने की दर जानकर उस बिन्दु का पता लगा सकते है जहॉ पर कुल उपयोगिता सबसे अधिक हो। यह हमेशा मान लिया जाता है कि किसी वस्तु के उपभोग से एक

व्यक्ति को प्राप्त सीमान्त उपयोगिता अन्य व्यक्तियों के पास उपलब्ध इस वस्तु या अन्य वस्तुओं की मात्रा तथा उनकी सीमान्त उपयोगिता से स्वतन्त्र होती है। (२) **उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना** (inter-personal comparisons of utility). इसका अर्थ यह हुआ कि हम किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की तुलना दो या दो से अधिक व्यक्तियों में कर सकते हैं तथा इस बात का पता लगा सकते हैं कि उस व्यक्ति की सीमान्त उपयोगिता में हुआ ह्रास, जिसके पास वस्तु की अधिक इकाइयाँ हैं, ऐसे व्यक्ति की सीमान्त उपयोगिता में हुई वृद्धि—जिसके पास वस्तु की कम इकाइयाँ हैं—से कम है अथवा अधिक। इससे हमें यह जानने में सहायता मिलेगी कि परिवर्तन के फलस्वरूप पूरे समाज की कुल उपयोगिता (सन्तोष) में वृद्धि हुई है अथवा कमी। और (३) **आय में क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास का सिद्धान्त लागू होना.** इसका अर्थ यह हुआ कि एक रुपये (आय) की सीमान्त उपयोगिता निर्धन व्यक्ति के लिए अधिक होती है तथा धनी व्यक्ति के लिए कम क्योंकि ज्यों-ज्यों व्यक्ति धनी होता जाता है, त्यों-त्यों उसके लिए रुपये (आय) की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।

"उपयोगिता मापनीय है। इस परिकल्पना के अन्तर्गत हम दो समयों में आय के वितरण में हुए परिवर्तन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं जब कि विभिन्न व्यक्तियों को आय द्वारा प्राप्त उपयोगिताओं अथवा सीमान्त उपयोगिताओं की तुलना सम्भव हो। अर्थशास्त्री इसे 'उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना की समस्या' कहते हैं। कार्डिनलिस्टों (cardinalists) की यह सामान्य धारणा थी कि इस प्रकार की तुलना सम्भव है। उन लोगों ने यह मान लिया कि प्रतिकूल सूचना के अभाव में सभी व्यक्ति एक रूप सुख-प्राप्ति-यन्त्र (pleasure machine) होते हैं। इस परिकल्पना के अन्तर्गत यह बात निहित है कि एक प्रकार के आर्थिक वातावरण में (दी हुई आय तथा सापेक्ष्य मूल्य इत्यादि) प्रत्येक व्यक्ति को समान कुल सन्तोष की प्राप्ति होगी तथा अन्य सभी व्यक्तियों की तुलना में उसे आय में एक इकाई वृद्धि अथवा कमी होने से समान सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने यह भी मान लिया कि क्रमागत उपयोगिता-ह्रास-नियम कुल आय में भी लागू होता है। इन दोनों परिकल्पनाओं को ध्यान में रखकर उन लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि निर्धन व्यक्ति की आय की सीमान्त उपयोगिता धनी व्यक्ति की आय की सीमान्त उपयोगिता से अधिक होती है। फलस्वरूप किसी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन से, जिनसे आय का समान वितरण हो, सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी तथा जिससे आय का अधिक असमान वितरण हो उससे सामाजिक कल्याण में कमी होगी।

इस निष्कर्ष का कारण यह है कि यदि हम किसी धनी व्यक्ति की आय से एक पौण्ड ले लें और उसको हम निर्धन व्यक्ति को दे दें, तो इसके फलस्वरूप उस व्यक्ति तथा समाज के कल्याण में हुई कमी, समाज को प्राप्त हुए लाभ से कम होगी क्योंकि निर्धन व्यक्ति के लिए आय की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है"।

इन सरल परिकल्पनाओं के अन्तर्गत इस बात का पता लगाना अधिक मुश्किल नहीं है कि व्यक्ति या सरकार की क्रियाओं द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी अथवा कमी। मान लीजिए प्रत्येक व्यक्ति के पास वे सभी वस्तुएँ तथा सेवाएँ हैं—जैसे पुस्तक, कमीज, बाइसिकिल इत्यादि—जो उसके पास पहले थीं और अब किसी एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ (उदाहरणार्थ कमीजों की) हो जाती हैं। इस स्थिति में कुल सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी क्योंकि अन्य सभी व्यक्तियों की कुल उपयोगिता (सन्तोष) तो अपरिवर्तित रहती है, परन्तु उस व्यक्ति की जिसके पास कमीजो की अधिक मात्रा है, कुल उपयोगिता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार यदि सामाजिक हित में सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाय कि धनी व्यक्तियों पर कर लगा कर निर्धन व्यक्तियों की भलाई के लिए उसका व्यय करे, जिसका अन्य शब्दों में यह अर्थ हुआ कि धनी व्यक्ति कुछ वस्तुओं के उपयोग से वञ्चित कर दिये जाते हैं, तथा वे वस्तुएँ निर्धन व्यक्तियो को प्रदान की जाती हैं, इससे हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि सामाजिक कल्याण में वृद्धि हुई है अथवा कमी। सामाजिक कल्याण में हुए परिवर्तन का ठीक पता हम समाज को प्राप्त कुल सन्तोष (कुल उपयोगिता) में से धनी व्यक्तियो के सन्तोष में हुई कमी को घटाकर तथा उसमें निर्धन व्यक्तियो को प्राप्त सन्तोष को जोड़कर, लगा सकते हैं। शेष योग यह दिखलायेगा कि समाज को प्राप्त सन्तोष (उपयोगिता) में, जो सामाजिक कल्याण का एक अंग है, वृद्धि हुई है अथवा कमी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी प्रकार का कर या धन को पुनर्वितरित करने की किसी अन्य प्रणाली द्वारा निर्धन व्यक्तियों को प्राप्त सामाजिक कल्याण में वृद्धि, धनी व्यक्तियो के कल्याण में हुई कमी से कहीं अधिक है। चरम सीमा पर, ऐसी कर-प्रणाली या धन को पुनर्वितरित करने की अन्य विधि, जो निर्धन व्यक्तियों के सन्तोष में उतनी ही वृद्धि करती है जितनी धनी व्यक्तियो के कल्याण में कमी, उचित है क्योंकि इससे समाज के कुल कल्याण में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस आधार पर केवल ऐसे ही परिवर्तन अनुचित समझे जाते हैं जिनसे धनी व्यक्तियों के कुल सन्तोष में कमी निर्धन व्यक्तियों को प्राप्त कुल सन्तोष में हुई वृद्धि से कहीं अधिक होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि समाज के लिए सर्वोत्तम स्थिति उस समय होगी जब सभी वस्तुओं और सेवाओं की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान हो, अन्य शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि रुपये की अन्तिम इकाई द्वारा निर्धन तथा धनी सभी व्यक्तियों को समान सन्तोष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार की स्थिति उस समय नहीं होगी जब कि धनी व्यक्तियों की आय में इतनी कमी हो जाती है कि जिससे उनकी कार्य-संचालन तथा उद्यम करने की प्रवृत्ति कुण्ठित हो जाती है। यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि "धन का असमान वितरण आर्थिक व्यवस्था की उत्पादकता में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए आवश्यक है। अन्ततः उत्पादकता की वृद्धि इस प्रकार भी होनी चाहिए जिससे समाज का निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी निरपेक्ष रूप में पहले की अपेक्षा (जब धन का समान वितरण था) अधिक सुखी हो"। लेकिन वितरण तथा उत्पादन दोनों पहलुओं को दृष्टि में रखकर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि उपयोगिता मापनीय हो तथा उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना सम्भव हो तो किस प्रकार से व्यक्ति तथा समाज का आर्थिक कल्याण अधिकतम किया जा सकता है।

हानिपूर्ति का सिद्धान्त (compensation principle). जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सर्वाधिक वास्तविक कल्याण पर विचार करने में वास्तविक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि कोई व्यक्ति अपने अधिक पसन्द किये गए स्थान पर तभी पहुँच सकता है जब कोई अन्य व्यक्ति उससे कम पसन्द किए गए स्थान पर पहुँचे। प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र में सीमान्त उपयोगिताओं के योग के द्वारा कुल उपयोगिता का पता लगाकर, जो परिवर्तन के फलस्वरूप हुआ, इस कठिनाई को दूर किया गया और इस बात का पता भी लगाया जा सका कि पूरे समाज को सर्वाधिक सामाजिक कल्याण किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र के अनुसार उपयोगिता मापनीय नहीं है अतः हम व्यक्ति तथा समाज में सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता में हुए परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं जान सकते। इससे हमारे सम्मुख एक कठिन समस्या उपस्थित होती है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए पैरेटो की देन के आधार पर प्रोफेसर निकोलस काल्डर तथा जे० आर० हिक्स ने 'हानिपूर्ति सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। इससे नवीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र का जन्म हुआ। काल्डर-हिक्स के अनुसार "हम दो अवधि में हुए आर्थिक कल्याण की वृद्धि का पता लगा सकते हैं, यदि दूसरी अवधि में जिन व्यक्तियों को परिवर्तन से लाभ हुआ वे सफलता-

पूर्वक उन व्यक्तियों को घूस देकर सन्तुष्ट कर लेते हैं, जिन्हें इस प्रकार के परिवर्तन से हानि हुई तथा जिन लोगों ने इस प्रकार के परिवर्तन का विरोध नहीं किया। इस प्रकार ये भी पहली अवधि की अपेक्षा अधिक सुखी तथा सम्पन्न हो जाते हैं। अन्य शब्दों में, हानि उठाने वाले व्यक्तियों की हानिपूर्ति करने के बाद भी लाभ उठाने वाले व्यक्तियों के पास अधिक वास्तविक आय शेष रह जाती है। चित्रात्मक रूप में इसका यह अर्थ हुआ कि दूसरी अवधि में हुई आय में वृद्धि के फलस्वरूप कम-से-कम सभी व्यक्ति एक ही अनधिमान वक्र (indifferencc curve) पर होंगे जिस पर वे पहली अवधि में थे तथा कम-से-कम एक व्यक्ति ऐसा होगा जो अन्य की अपेक्षा अधिक ऊँचे अनधिमान वक्र पर होगा। यह कहा गया कि इस प्रकार का निष्कर्ष यथार्थ होगा चाहे वास्तव में हानिपूर्ति का भुगतान किया गया हो अथवा नहीं। इसलिए यह आय के वितरण से सम्बंधित उन सभी नैतिक विचारों से मुक्त है जिन्होंने उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना की समस्या को अत्यधिक कठिन बना दिया था। इस प्रकार यह आर्थिक कल्याण में हुए परिवर्तन के लिए एक वस्तुनिष्ठ (objective) निर्देशक प्रस्तुत करता है।"

यद्यपि उपयोगिता को नापकर यह जानना सम्भव नहीं है कि एक व्यक्ति को उपभोग के द्वारा कितना सन्तोष प्राप्त होता है, परन्तु यह जानना पूर्णरूप से सम्भव है कि एक व्यक्ति एक प्रकार के वस्तु-संयोगों को अधिक पसन्द करता है अथवा दूसरे प्रकार के, या वह दोनों में तटस्थ है। हम यह नहीं बतला सकते कि व्यक्ति एक वस्तु-संयोग से दूसरे वस्तु-संयोग को कितना अधिक पसन्द करता है क्योंकि इसकी जानकारी उसी समय प्राप्त हो सकती है जब उपयोगिता मापनीय हो, परन्तु यह बतलाना हमेशा सम्भव है कि एक व्यक्ति एक प्रकार के वस्तु-संयोग को अधिक पसन्द करता है अथवा दूसरे प्रकार के। यही अनधिमान वक्र विधि का आधार है। काल्डर-हिक्स का उद्देश्य इस प्रकार की विधि को कल्याणकारी अर्थशास्त्र में प्रयोग करना है जहाँ पर हमारा सम्बन्ध दो या दो से अधिक व्यक्तियों से होता है। हानिपूर्ति-सिद्धान्त का प्रयोग कर यह बतला देना सम्भव है कि एक प्रकार की वस्तुओं का संयोग जिसे पूरे समाज ने दूसरी अवधि में चुना वह उतना ही अच्छा है जितना पहली अवधि में चुना गया वस्तुओं का संयोग। ऐसी स्थिति में पूरा समाज एक ही अनधिमान वक्र पर होगा। इसके विपरीत, यदि समाज द्वारा दूसरी अवधि में चुनी गई वस्तुओं का संयोग पहली अवधि में चुनी गई वस्तुओं के संयोग की अपेक्षा अधिक पसन्द किया जाता है तब इसका अर्थ यह हुआ कि परिवर्तन के फलस्वरूप सामाजिक कल्याण में वृद्धि हुई है तथा अब समाज अधिक ऊँचे अनधिमान वक्र पर है।

काल्डर-हिक्स के सिद्धान्त की दो महत्वपूर्ण आलोचनाएँ की गई हैं : (१) जैसा कि प्रोफेसर आई० एम० डी० लिटिल ने इंगित किया, "यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थकों ने बतलाया कि नैतिक दृष्टिकोण के विरुद्ध केवल आर्थिक दृष्टिकोण से आय का वास्तविक पुनर्वितरण हम लोगों को यह कहने से नहीं रोक सकता कि अमुक प्रकार का पुनः संगठन वांछनीय है फिर भी इन लोगों ने सम्भाव्य कल्याण तथा वास्तविक कल्याण में भ्रम उत्पन्न किया"।[1] (२) जैसा कि प्रोफेसर स्किटोवस्की ने इंगित किया, "इस प्रकार की दशाओं की कल्पना की जा सकती है जहाँ पर परिवर्तन तो हुआ हो, परन्तु हानिपूर्ति न दी गई हो। दूसरी अवधि में इतना अधिक आय का पुनर्वितरण हुआ हो कि द्वितीय अवधि की कसौटी इस बात को इंगित करती हो कि प्रथम अवधि की स्थिति में वापस जाने पर आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। ऐसी स्थिति उस समय होगी जब प्रथम अवधि से द्वितीय अवधि में जाने से जिन लोगों को हानि होती है वह हानि इतनी अधिक है कि प्रथम अवधि में वापस जाने से उन्हें इतना अधिक लाभ होगा कि पहली स्थिति में परिवर्तन से जिन्हें लाभ हुआ, उन्हें अब हानिपूर्ति देने के बाद भी कुछ शेष रह जाता है। ऐसी स्थितियों में तथाकथित काल्डर-हिक्स के सिद्धान्त को बिना सोचे-समझे स्वीकार करने का परिणाम यह होगा कि उसमें एक आर्थिक स्थिति से दूसरी आर्थिक स्थिति में बराबर आना-जाना लगा रहेगा। कभी प्रथम अवधि से दूसरी अवधि में जाने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी, तो कभी दूसरी से प्रथम अवधि में जाने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी।"

"परिणामतः जो स्किटोवस्की (Scitovsky) करते हैं उसका उद्देश्य यह बतलाना है कि परिवर्तन के बाद ही आय के पुनर्वितरण के प्रभाव पर विचार करना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् परिवर्तन के पूर्व भी इसकी सम्भावनाओं पर विचार कर लेना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ की परिवर्तन की सम्भावनाओं पर ही विचार करना पर्याप्त नहीं है क्योंकि जब केवल सम्भावनाओं पर ही विचार किया जाता है तब, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है, सिद्धान्त के दृष्टिकोण से, पुनसंगठन के द्वारा, समाज पहले से अधिक सम्पन्न भी हो सकता है तथा कम सम्पन्न भी। अतः यह जानने के लिए कि आय के वितरण का प्रभाव समाज पर अच्छा पड़ा है अथवा बुरा, हमें दोनों स्थितियों की तुलना आय के पुनर्वितरण के पश्चात् करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि किस स्थिति में व्यक्ति अधिक सम्पन्न होता है। परिवर्तन के पूर्व आय के सर्वोत्तम वितरण को लीजिए

---

1. 'Prof J. K. Mehta, Lectures on Modern Economic Theory', p. 61.

और परिवर्तन के बाद आय के सर्वोत्तम वितरण को लीजिए और तुलना करके देखिए कि क्या पहली स्थिति से दूसरी स्थिति में सभी लोग (उनके अतिरिक्त जिनकी स्थिति पहले से खराब नहीं हुई है) अधिक सम्पन्न हैं ? यदि लोग अधिक सम्पन्न हैं, तो हम यह कह सकते हैं कि पुनर्संगठन के द्वारा सामाजिक कल्याण में वृद्धि हुई है।"

प्रोफेसर स्किटोवस्की ने काल्डर-हिक्स के सिद्धान्त को अधिक मान्य बनाने के लिए कुछ संशोधन प्रस्तुत किए जिनका आशय इस प्रकार है : "प्रथम अवधि से दूसरी अवधि के परिवर्तन को मान्य बनाने के लिए न केवल इस परिवर्तन के फलस्वरूप लाभ उठाने वाले व्यक्तियों को हानि उठाने वाले व्यक्तियों को हानि-पूर्ति देकर भी स्वयं अधिक सम्पन्न होना चाहिए, वरन् यह भी देखना चाहिए कि हानि उठाने वाले व्यक्ति लाभ उठाने वाले व्यक्तियों को घूस देकर उन्हें परिवर्तन करने से न रोक सकें।"

वास्तविक कठिनाई जो उपस्थित होती है वह यह है कि एक अवधि से दूसरी अवधि में परिवर्तन की प्रक्रिया में आय के वितरण में अनेक परिवर्तन होते हैं जिससे सामाजिक कल्याण काफी प्रभावित होता है। इसलिए इस सामान्य निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है कि आगामी अवधि में अधिक आर्थिक कल्याण होगा, यदि जो परिवर्तन करते हैं, या जो पहली स्थिति में वापस आना पसन्द करते हैं वे अन्य व्यक्तियों को घूस देकर उन्हें परिवर्तन के लिए राजी कर लेते हैं। सामाजिक कल्याण के आधार पर विचार करते समय आय के वितरण के प्रभाव पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रोफेसर आई० एम० डी० लिटिल ने यह सुझाव दिया है कि "केवल राष्ट्रीय उत्पादन की सीमा (जो हानिपूर्ति-सिद्धान्त का भी आशय है) को ही यदि हम आर्थिक कल्याण के परिवर्तन को निर्देशित करने की कसौटी मान लें, तो यह एक महान भ्रम होगा। इसलिए उन्होंने यह सुझाव दिया कि 'हिक्स-काल्डर-स्किटोवस्की के सिद्धान्त में यह जोड़ देना चाहिए 'बशर्ते कोई अनुचित परिवर्तन आय के वितरण में नहीं होना चाहिए'। जैसा कि लिटिल लिखते हैं, "वितरणात्मक दृष्टिकोण से विचार करना विशेषरूप से आवश्यक हो जाता है क्योंकि परिवर्तन जो स्पष्ट रूप से हानिपूर्ति-सिद्धान्त को संतुष्ट करते हैं (उदाहरणार्थ किसी मशीन का आविष्कार जिससे उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है) उनमें आय के पुनर्वितरण की भावना बहुत कुछ अंश में निहित है। उदाहरणस्वरूप वे यह बतलाते हैं कि बहुत से व्यक्तियों के मतानुसार औद्योगिक क्रान्ति द्वारा बहुत समय तक आर्थिक कल्याण में कमी हुई क्योंकि इसके परिणाम-स्वरूप आय के वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।"

लेकिन कठिनाई यह है कि एक बार जब हम आय के वितरण के प्रभाव को ध्यान में लाते हैं तब उसी प्रकार की जटिलताएँ सामने आती हैं, जिस प्रकार की जटिलताएँ सामाजिक कल्याण पर उपयोगिता की मापनीयता के दृष्टिकोण से विचार करने में उपस्थित हुई थीं। एक विशेष प्रकार से धन का पुनर्वितरण अच्छा है या बुरा—इसका निर्णय हम केवल तर्क के ही आधार पर नहीं कर सकते। बहुत कुछ अंश तक यह विभिन्न मतों पर आधारित है इसलिए इसमें आदर्शीय निर्णय (value judgments) निहित हैं। एक प्रकार के व्यक्ति यह कह सकते हैं कि एक विशेष प्रकार से धन का पुनर्वितरण समाज के सर्वाधिक हित में है और दूसरे प्रकार के व्यक्ति यह कह सकते हैं कि यह वितरण समाज के सर्वाधिक हित में नहीं है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बर्गसन, सैमुएल्सन तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने 'सामाजिक कल्याण फलन' (social welfare function) का आविष्कार किया है। "यह युक्ति केवल उस साधन को प्रदर्शित करती है जिसके द्वारा अर्थशास्त्री अपने सीमित विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते हुए अपने सैद्धान्तिक मॉडल में अपने उन आदर्शीय निर्णयों को व्यक्त कर सकता है जिन्हें वह सोचता है कि व्यवहार में सरकार द्वारा उसे या अन्य किसी सामाजिक संस्था को प्रदान किया जाएगा"।

"बिना किसी आदर्श के आदर्शीय कथन असम्भव है। कुछ स्थान पर कल्याणकारी अर्थशास्त्र को अर्थशास्त्र के बाहर से कुछ नैतिक कल्याणकारी क्रियाओं को अवश्य लाना चाहिए। किस प्रकार का उद्देश्य वांछनीय है, यह वास्तव में अर्थशास्त्र का कोई वैज्ञानिक प्रश्न नहीं है। इससे यह भ्रान्त धारणा दूर हो जानी चाहिए कि सामाजिक कल्याण फलन (social welfare function) का यह अर्थ नहीं है कि इसमें कुछ विशिष्ट तथा असामान्य साध्य होते हैं। किसी भी प्रकार के पूर्व-निर्धारित साध्य अर्थशास्त्री के अकपटपूर्ण निगमन मिल के कच्चे अन्न के समान है तथा वह इस बात को हमेशा व्यक्त कर सकता है कि निर्धारित साध्य अपूर्ण तथा असंगत हैं। 'सामाजिक कल्याण-कार्य' का संबोध, भाषा के समान जितना व्यापक है उतना ही रिक्त तथा उतना ही आवश्यक।"

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त अभी असन्तोषजनक स्थिति में हैं। सर्वाधिक सामाजिक कल्याण की स्थिति प्राप्त करने के लिए या तो हमें उपयोगिता की मापनीयता पर, या पूरे समाज के आर्थिक कल्याण पर हुए आय के पुनर्वितरण के प्रभाव सम्बन्धित आदर्शीय निर्णयों पर, अथवा राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा अर्थशास्त्र के चिन्तन में प्रदान किये गए आदर्शीय निर्णयों पर ही अवलम्बित होना पड़ेगा।

परन्तु हमें केवल ऐसी ही स्थिति की आशंसा करनी होगी क्योंकि कल्याण की समस्या का सम्बन्ध ऐसे मनुष्यों से है जिनकी क्रियाएँ किसी निश्चित तार्किक ढाँचे पर आधारित नहीं होतीं। यदि अर्थशास्त्री अपने विश्लेषण को वस्तुओं के तार्किक पक्ष तक ही सीमित रखेगा तब मानवीय क्रियाओं, जो केवल आंशिक रूप में ही तार्किक होती हैं, पर विचार करते समय वह कठिनाइयों में पड़ जायेगा।

अध्याय ३

आर्थिक शब्दों का अर्थ

(Meaning of Economic Terms)

अर्थशास्त्र में सबसे महत्वपूर्ण समस्या 'अर्घ' या दूसरे शब्दों में मूल्य-निर्धारण की है। किसी वस्तु का मूल्य बाजार में निर्धारित होता है। इसलिए हमारे लिए 'मूल्य', 'वस्तु' और 'बाजार' का अर्थ समझना आवश्यक है। मार्शल ने मूल्य-निर्धारण में समय को भी सम्मिलित किया। अतएव हमें 'अल्प और दीर्घ अवधि' का अर्थ स्पष्टतः समझना होगा। मूल्य-निर्धारण माँग और पूर्ति पर आश्रित होता है अतः हम माँग और पूर्ति सारणियों या माँग और पूर्ति वक्रों का अध्ययन करेंगे। अगर हम अधिक विस्तार से देखें और माँग की सारणी के पीछे छिपे तथ्य को देखें तो हम उपभोक्ता के दृष्टिकोण से 'सीमान्त उपयोगिता' पाते हैं और उत्पादक के दृष्टिकोण से 'सीमान्त आय'। अगर हम पूर्ति-वक्र का सविस्तार अध्ययन करें, तो हमें उत्पादन की औसत और सीमान्त लागत एवं वास्तविक लागत मिलती हैं। इन समस्याओं को समझने में हमें उपयोग किए जाने वाले विभिन्न शब्दों के यथार्थ अर्थ के बारे में सावधान रहना चाहिए। किसी शब्द को परिभाषित करने का काम सदैव कठिन होता है, और प्रत्येक लेखक इन शब्दों की अपनी परिभाषा देता है। अगर हम सब सम्भव परिभाषाओं की, जो दी गई हैं और दी जा सकती हैं, विवेचना करें तो हमें बहुत समय लगेगा अतएव हम केवल सीमित विवेचना और लगभग शुद्ध परिभाषाएँ देकर ही संतुष्ट हो जाएँगे।

मूल्य. पुराने अर्थशास्त्रियों ने विनिमय-अर्घ और उपयोग-अर्घ में अन्तर दिखाया था। पर आजकल साधारणतः 'अर्घ' (value) का उपयोग विनिमय-अर्घ (value-in-exchange) के लिए और उपयोगिता का प्रयोग उपयोग-अर्घ (value-in-use) के लिए किया जाता है। इस का अर्थ यह हुआ कि किसी वस्तु का द्रव्य के रूप में अर्घ ही उसका मूल्य है। मूल्य 'वस्तु की प्रति इकाई रुपये' के रूप में दिया जाता है। जब हम कहते हैं कि एक साइकिल का मूल्य १०० रु०, एक रेडियो का मूल्य ३०० रु० और एक कार का मूल्य १० हजार रुपया है, तब हमारे कहने का अर्थ यह होता है कि क्रेता के लिए इन

वस्तुओं का द्रव्य के रूप में अर्थ इनके मूल्य के बराबर है, पर, यद्यपि यह सोचना सुविधाजनक है कि मूल्य द्रव्य के रूप में दिया जाता है, तथापि 'किसी वस्तु का मूल्य वह दर है जिसके अनुसार उस वस्तु का किसी दूसरी वस्तु से विनिमय किया जा सकता है'। अर्थात् हम वस्तु **य** के मूल्य को वस्तु **र** के रूप में सोच सकते हैं और कहते हैं कि **य** की १ इकाई के बदले **र** की ८, १० या २० इकाइयों का विनिमय किया जा रहा है। इसका अर्थ यह होगा कि **र** के रूप में **य** का मूल्य बढ़ रहा है। एक वस्तु-विनिमय (barter) वाली अर्थ-व्यवस्था में एक वस्तु का मूल्य हमेशा दूसरी वस्तु के रूप में व्यक्त किया जाएगा क्योंकि वहाँ द्रव्य का प्रचलन नहीं है। पर एक द्रव्य-अर्थ व्यवस्था में भी, जहाँ सब लेन-देन द्रव्य द्वारा किए जाते हैं, कभी-कभी एक वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के रूप में सोचना सुविधाजनक होता है।

हम केवल उपभोग-वस्तुओं के मूल्य जैसे मकान, रोटी मक्खन, रेडियो, और उत्पादन-वस्तुओं के मूल्य, जैसे कपास, जूट, लोहे के टुकड़े आदि के बारे में ही नहीं सोचते, बल्कि उत्पादन के साधनों, जो उत्पादन-वस्तुओं के अन्तर्गत आ जाते हैं, के मूल्य के बारे में भी सोचते हैं। मजदूर को दी जाने वाली मजदूरी, पूँजी पर दिया जाने वाला ब्याज, भूमि के लिए दिया जाने वाला अधिशेष (rent) ये सब मूल्य हैं जो उत्पादन के साधनों द्वारा की गई सेवाओं के लिए दिए जाते हैं। ये सब उत्पादन के साधन की सेवाओं के उपयोग के लिए किए जाने वाले द्रव्य के रूप में भुगतान हैं। ये साधारणतः मजदूरी, ब्याज और अधिशेष कहे जाते हैं, ताकि यह परिलक्षित हो सके कि ये विभिन्न उत्पादन के साधनों को मिलते हैं और जिससे इनमें और उपभोग-वस्तुओं एवं अन्य उत्पादन-वस्तुओं के मूल्य में अन्तर स्थापित किया जा सके। पर आधारतः वस्तुओं के मूल्य में और सेवाओं के मूल्यों में कोई अन्तर नहीं है।

हम मूल्य पर बिना वस्तु तथा बाजार के नहीं विचार कर सकते। मूल्य का संबोधन (concept) 'वस्तु' और 'बाजार' के विचारों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है और बिना वस्तु और बाजार के हम मूल्य के बारे में सोच भी नहीं सकते। किसी वस्तु का मूल्य तभी होगा जब वह उपयोगी हो और जब वह दुर्लभ हो अर्थात् जब उसकी माँग पूर्ति से अधिक हो। वायु, पानी, धूप आदि निःशुल्क पदार्थों का उपयोगी होते हुए भी कोई मूल्य नहीं है, (दूसरे शब्दों में इनका प्रति इकाई मूल्य शून्य है) क्योंकि ये दुर्लभ नहीं हैं। अतएव, किसी वस्तु का मूल्य होने के लिए दोनों शर्तों का, यथा उपयोगिता का होना और दुर्लभ होना, एक ही साथ पूरा होना आवश्यक है।

किसी वस्तु या सेवा का मूल्य 'प्रति इकाई' के रूप में दिया जाता है और समय के प्रत्येक क्षण में यह माँग और पूर्ति की दशाओं पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में, मूल्य माँग और पूर्ति-वक्रों के मध्यश्छेद (intersection) से ज्ञात होता है। यह तथ्य कि मूल्य माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है, दूसरे प्रकार से यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि यह माँग और पूर्ति का श्रित (function) है। इसका अर्थ यह हुआ कि माँग और पूर्ति के अल्प-परिवर्तन, या पूर्ति को समान रखकर माँग के अल्प-परिवर्तन, या माँग को समान रखकर पूर्ति के अल्प परिवर्तन मूल्य में परिवर्तन कर देंगे। यदि माँग को समान रखा जाय, तो मूल्य पूर्ति का श्रित हो जाएगा और यदि पूर्ति को समान रखा जाय, तो मूल्य माँग का श्रित हो जाएगा। अगर पूर्ति और माँग दोनों साथ साथ बदल रहे हों, तो मूल्य दोनों का श्रित होगा। जैसे माँग और पूर्ति मूल्य को निर्धारित करते हैं, वैसे ही मूल्य माँग और पूर्ति को निर्धारित करता है। मान लीजिए किसी विशेष मूल्य, १० रु० प्रति इकाई, पर वस्तु की माँग १०० इकाइयाँ और उसकी पूर्ति ११० इकाइयाँ है। अब अगर मूल्य गिर जाता है, तो वस्तु की माँग और पूर्ति भिन्न होगी। कम मूल्य में माँग बढ़ जाएगी और पूर्ति घट जाएगी। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक किसी निश्चित मूल्य में माँग और पूर्ति बराबर नहीं हो जाएँगे अर्थात् जब तक संस्थिति (equilibrium) नहीं आ जाएगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्य, माँग और पूर्ति का श्रित-संबंध (functional relationship) द्विपक्षीय है। इस द्विपक्षीय समायोजन की क्रिया को मूल्य-तंत्र (price mechanism) कहते हैं। अगर हम एक वस्तु के मूल्य के स्थान पर बाजार में सब संबंधित वस्तुओं के मूल्यों पर एक साथ विचार करें, तो हम मूल्य-व्यवस्था पर विचार करते हैं।

पदार्थ (goods). मूल्य किसी वस्तु या सेवा का, जो 'पदार्थ' के सामान्य वर्ग को बनाते हैं, होता है। बोलचाल में हम वस्तु का यथार्थ (exact) प्रयोग नहीं करते। उदाहरणार्थ, हम समझते हैं कि सब सिगरेटें एक वस्तु हैं, पर वास्तव में विभिन्न प्रकार की सिगरेटें एक वस्तु नहीं हैं। साधारण व्यक्ति सोचता है कि आखिर सिगरेटें एक वस्तु हैं क्योंकि उनके भौतिक लक्षण समान हैं, पर हमारे दृष्टिकोण से किसी चीज के भौतिक लक्षण उसे एक वस्तु नहीं बनाते, बल्कि उपभोक्ताओं के विचार उसे एक वस्तु बनाते हैं। अगर दो प्रकार की सिगरेटों के भौतिक गुण पूर्णतः एकसे हों, पर अगर उपभोक्ता अज्ञान या अभिनति (bias) के कारण[1]

[1]. अभिनति या तो उपभोक्ता की दुर्बलता के कारण हो सकती है या उत्पादकों

उन्हें विभिन्न समझते हों, तो वे एक वस्तु नहीं रहेंगी। हमारे दृष्टिकोण से वस्तु की परिभाषा प्रतिस्थापन-योग्यता (substitute ability) पर आधारित है। विभिन्न इकाइयाँ एक वस्तु तब होती हैं, जब वे एक दूसरे का पूर्ण प्रतिस्थापन (perfect substitute) होती हैं। गोल्ड-फ्लेक सिगरेटें एक वस्तु हैं क्योंकि प्रत्येक गोल्ड-फ्लेक सिगरेट दूसरी का पूर्णस्थापन है। पर गोल्ड फ्लेक और कैप्सटन, सिगरेट होते हुए भी, एक वस्तु नहीं हैं क्योंकि कैप्सटन पीने वाला गोल्ड फ्लेक पीना पसन्द नहीं कर सकता। पर अगर कोई उपभोक्ता सिगरेटों के प्रकार पर विचार न करता हो और दोनों प्रकार की सिगरेटों को पीने के लिए समान रूप से तैयार हो, तो जहाँ तक उसका संबंध है, ये दोनों प्रकार की सिगरेटें एक वस्तु हो जाती हैं। अगर हम तर्कानुसार निष्कर्ष निकालें, तो अन्त में ऐसी विभिन्न वस्तुएँ, जैसे जूते, कमीजें, मक्खन और रोटी भी कुछ दशाओं में एक वस्तु हो सकती हैं।[1] मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास निश्चित द्रव्य-राशि है जिसे वह विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च कर रहा हो। अब उसे यह सोचना है कि वह अगले दो रुपये किस प्रकार खर्च करे कि उसे अधिकतम संतुष्टि मिले। इन दो रुपयों को वह पुस्तक खरीदने या सिनेमा जाने में खर्च कर सकता है। अगर ये विकल्प उसे यथार्थतः समान संतुष्टि देते हैं, तो वे इस समय के लिए एक दूसरे के पूर्ण प्रतिस्थापन हैं और वे एक ही वस्तु हैं। पर, यद्यपि इस प्रकार का विवरण पारिभाषिक रूप से शुद्ध है, तथापि विभिन्न चीजों को एक वस्तु बना देना किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता। केवल कुछ सरलीकृत दशाओं में ही विभिन्न चीजें एक दूसरे की पूर्ण प्रतिस्थापन हो

द्वारा उत्पाद भिन्नन (product differentiation) करके कृत्रिमतः सृजी जा सकती है। उत्पाद-भिन्नन उत्पादकों के उन प्रयत्नों के कारण होता है जिनके द्वारा वे अपनी वस्तु को बाजार में उपलब्ध अन्य समान वस्तु से अलग दिखाते हैं, जैसे पैकिंग, विज्ञापन आदि।

१. तुलना कीजिए: "अगर प्रस्तुत समस्या में यह माना जा सके कि विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्य नहीं बदलते हैं, तो भौतिक पदार्थों के एक समूह का प्रतिपादन सदैव ऐसे किया जा सकता है जैसे वे एक वस्तु की इकाइयों में विभाज्य हों। जब तक अन्य उपभोग-पदार्थों के मूल्य अपरिवर्तनीय माने जाते हैं, ये एक साथ एक वस्तु 'द्रव्य' या 'सामान्य क्रय-शक्ति' कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार, अन्य स्थानों में, यदि सापेक्ष मूल्यों के परिवर्तनों की उपेक्षा की जाय, तो सब प्रकार के श्रम को समरूप मानना वैध है", J. R. Hicks, Value and Capital.

सकती हैं। अगर हम सब उपभोक्ताओं पर और उन विभिन्न रीतियों पर, जिनके अनुसार वस्तुएँ संयोजित की जा सकती हैं, विचार करें अर्थात्, दूसरे शब्दों में; अगर हम बाजार में उपलब्ध सब पदार्थों पर विचार करें, तो ऐसी विभिन्न वस्तुओं, जैसे पुस्तकें, मक्खन, सिनेमा, को एक वस्तु बनाकर वर्गीकरण करना उपयोगी नहीं हो सकता। पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार परिभाषित करके हम 'बन्दूकें या मक्खन' (guns versus butter) वाक्यांश की व्याख्या कर सकते हैं। यद्यपि बन्दूकें और मक्खन एक वस्तु नहीं हैं, पर सामान्य रूप में वे इस अर्थ में एक दूसरे के पूर्ण प्रतिस्थापन हो सकते हैं कि, किसी दिए हुए समय में, कोई राष्ट्र अपने संसाधनों का उपयोग मक्खन के उत्पादन या बन्दूकों के बनाने में कर सकता है। अर्थ-समस्या के विस्तृत विवेचन में पुस्तकों, मक्खन और सिनेमा या मक्खन और बन्दूकों को विभिन्न वस्तुएँ मानना अधिक सुविधाजनक होगा। अतएव किसी वस्तु पर विचार करते समय हमें उसके भौतिक लक्षणों एवं उसके प्रति उपभोक्ताओं की अभिवृत्ति (attitude) को एक साथ लेना चाहिए।

कोई चीज (thing) तभी वस्तु या पदार्थ कहलाती है, जब उसमें उपयोगिता तथा दुर्लभता होती है। इन दोनों शर्तों का एक साथ और एक ही समय में पूरा किया जाना आवश्यक है। अगर किसी वस्तु या सेवा में उपयोगिता होती है, पर अगर वह दुर्लभ नहीं होती, तो उसे 'निःशुल्क पदार्थ' (free good) कहा जाता है, ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि वह दुर्लभ नहीं है। मानव-जाति के लिए हवा, पानी, धूप बहुत उपयोगी हैं, पर ये दुर्लभ नहीं हैं। ये किसी आर्थिक समस्या को जन्म नहीं देते, इसलिए 'निःशुल्क पदार्थ' कहे जाते हैं। दूसरी ओर, वे वस्तुएँ, जो उपयोगी और दुर्लभ हैं, 'आर्थिक पदार्थ' कहलाती हैं। निःशुल्क पदार्थों और आर्थिक पदार्थों का अन्तर सर्वथा व्यवच्छिन्न (water tight) नहीं है। एक वस्तु जो आज निःशुल्क पदार्थ है कल, दुर्लभ होने पर, आर्थिक पदार्थ हो सकती है। आर्थिक पदार्थ निःशुल्क पदार्थ हो सकते हैं, अगर वे दुर्लभ न हों और माँग से पूर्ति अधिक होने के अर्थ में प्रचुर हों।

आर्थिक वस्तुओं को विभिन्न रीतियों से विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। आस्ट्रीयन अर्थशास्त्रियों ने इन्हें निम्न श्रेणी (lower order) अर्थात उपभोग-पदार्थ या वे पदार्थ जो उपभोक्ताओं के निकट हैं और उच्च श्रेणी के पदार्थ अर्थात वे पदार्थ जो उपभोक्ताओं से दूर हैं, यथा उत्पादन-पदार्थ, जैसे कच्चा माल, अर्ध-निर्मित पदार्थ आदि, विभाजित किया। यह भी संभव है कि हम आर्थिक पदार्थों को पहले वस्तुओं और सेवाओं में विभाजित करें और फिर वस्तुओं को

उपभोग पदार्थों और उत्पादन-पदार्थों में बाँटें। ये वर्गीकरण उदाहरण के रूप में दिये गए हैं और इस प्रकार के कई वर्गीकरण कर सकना संभव है।

धन (wealth). धन की परिभाषा भी आर्थिक पदार्थों की परिभाषा पर आधारित है। किसी समय एक व्यक्ति का धन उसके आर्थिक पदार्थ, अर्थात वस्तुएँ और सेवाएँ, हैं। उपयोगिता, दुर्लभता और स्थानान्तरणियता (transferability) धन के मुख्य लक्षण कहे जाते हैं। ये सब लक्षण आर्थिक वस्तुओं में पाए जाते हैं। किसी व्यक्ति के धन में वे सब भौतिक और अभौतिक पदार्थ सम्मिलित किए जाते हैं, जो द्रव्य में परिवर्तित किए जा सकते हैं। भौतिक वस्तुओं के उदाहरण मकान, रेडियो, कार आदि हैं और अभौतिक वस्तुओं के उदाहरण प्रतिलिप्यधिकार (copyright), ख्याति (good will), एकस्वाधिकार (patent rights) आदि हैं। अगर हम व्यापक दृष्टि से देखें, तो धन के अन्तर्गत ऐसी चीजें जैसे व्यक्तिगत सौन्दर्य, सदाचरण और आध्यात्मिक गुण भी आने चाहिए क्योंकि ये भी अन्य भौतिक और अभौतिक पदार्थों के सदृश उपयोगी एवं दुर्लभ हैं, पर चूँकि स्थानान्तरणीय नहीं हैं या, दूसरे शब्दों में, द्रव्य में नहीं बदले जा सकते, अतएव ये धन में सम्मिलित नहीं किए जाते। जब हम राष्ट्रीय धन के बारे में सोचते हैं, तो व्यक्तियों के धन के योग में सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे सड़कें, अस्पताल, पार्क आदि, जोड़ देते हैं। इस संगणन में हमें दुहरी गणना से बचना पड़ता है, अन्यथा एक ही व्यक्ति का धन एक से अधिक बार सम्मिलित कर लिया जायगा। अगर हम सड़कों, अस्पतालों और सार्वजनिक कार्यों को राष्ट्रीय धन में सम्मिलित करते हैं, तो वास्तविक राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए हमें इसमें से सार्वजनिक ऋण और अन्य सार्वजनिक दायित्वों (liabilities) को घटा देना चाहिए। राष्ट्रीय धन और राष्ट्रीय भाज्य (dividend) की गणना करने में यह कई कठिन समस्याओं को जन्म देती है।

पूँजी (capital). पूँजी धन के उस भाग को कहते हैं जो (१) उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है, तथा (२) जिसका सम्बन्ध समय से होता है अर्थात् यह अपनी पूरी सेवाओं को एक बार के प्रयोग में नहीं प्रदान करता, बल्कि उत्पादन के साधन के रूप में पूर्ण रूप से प्रयोग होने में समय लगता है। यदि हम पूँजी पर पदार्थ के रूप में विचार करें, तो हम देखेंगे कि एक पूँजी पदार्थ (capital goods) भी होती है, जैसे कागज, सीमेंट तथा अन्य वस्तुओं को बनाने के मशीन तथा यन्त्र, जो इन पदार्थों के निर्माण करने में सहायता प्रदान करते हैं तथा जिनसे एक निश्चित समय (यथा २५-३० वर्ष) तक कार्य लिया जा सकता है और फिर उन्हें इसके बाद बेचा या हटाया जा सकता है। उपभोग-पदार्थ (consumer

goods) जैसे केला या दूध एक ही प्रयोग के योग्य होते हैं तथा अपनी सारी सेवाओं को एक बार ही प्रदान करते हैं। वास्तव में 'पूँजी पदार्थ' तथा 'उपभोग-पदार्थ' को स्पष्ट रूप से दो अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जा सकता। साइकिल, रेडियो, कलम तथा मोटरकार उस हद तक उपभोग-पदार्थ कहे जायेंगे जिस हद तक उनका वास्तविक प्रयोग किया जाता है। मान लीजिए एक व्यक्ति अपनी कार का प्रयोग इतनी लापरवाही के साथ करता है कि वह केवल एक ही बार चलाने से खराब हो जाती है, तब उसे केले तथा दूध के समान उपभोग-पदार्थ कहा जायेगा। इसके विपरीत, यदि एक व्यक्ति एक कार खरीद कर उसे गैरेज में बन्द करके रखता है तब वही कार पूँजी-पदार्थ (विनियोग-पदार्थ) का रूप ग्रहण कर लेगी। किस सीमा तक एक वस्तु पूँजी-पदार्थ है या उपभोग-पदार्थ है, यह वस्तु के प्रयोग की विधि पर आधारित है। यदि पदार्थ-पूँजी है तब 'ब्याज' की समस्या उत्पन्न होगी, जो पूँजी द्वारा की गई सेवाओं का प्रतिफल होती है। चूँकि पदार्थ-पूँजी को प्राप्त करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है, इसलिए ब्याज को हमेशा प्रतिशत तथा प्रतिवर्ष के रूप में व्यक्त किया जाता है। 'पूँजी' द्राव्यिक अंश को कहते हैं तथा 'पदार्थ-पूँजी' उसके वस्तु-अंश को कहते हैं।

बाजार (market). बोल-चाल में बाजार शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए किया जाता है जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं। पर भले ही हम साधारण बोलचाल में बाजार का प्रयोग करते समय एक स्थान को सोचते हों, मगर स्थान जैसी किसी चीज के हुए बिना भी बाजार होना संभव है। एक स्थानीय बाजार या मंडी किसी स्थान तक सीमित होने के कारण बाजार नहीं है, बल्कि इसलिए बाजार है क्योंकि वहाँ क्रेता और विक्रेता निकट संबंध में आते हैं। अतएव स्थान का होना महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि क्रेताओं और विक्रेताओं में निकट संबंध का होना महत्वपूर्ण है। ऐसी दशाओं को सोचा जा सकता है जिनमें एक ही स्थान में क्रेता और विक्रेताओं का स्वतंत्र संपर्क न हो और इसलिए वहाँ वास्तव में एक बाजार न हो। इस दशा में स्थान का केवल वही भाग 'बाजार' कहा जाएगा जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं में परस्पर संपर्क स्वतंत्र और निकट होगा। दूसरी ओर, अगर स्थान के न होते हुए भी क्रेताओं और विक्रेताओं का एक दूसरे से टेलीफोन या किसी अन्य कारण से स्वतंत्र और निकट संबंध है, तो वे एक 'बाजार' बनाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाजार से 'अर्थशास्त्री किसी ऐसे संगठन को समझते हैं, जिसके द्वारा किसी विशेष वस्तु के क्रेता

और विक्रेता एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं और उसका मूल्य निश्चित करने में समर्थ होते हैं'।

प्रत्येक वस्तु का, जिसका केवल एक मूल्य हो, हमें अलग बाजार सोचना चाहिए। 'पूर्ण बाजार' (perfect market) का यही अर्थ होगा। अन्तर्निहित विचार यह है कि क्रेता और विक्रेता, दोनों, को पूर्ण ज्ञान है, और इस अर्थ में पूर्ण गतिशीलता है कि अगर कोई एक विक्रेता थोड़ा भी अधिक मूल्य लेता है, तो क्रेता उसे छोड़कर दूसरे से, जो सस्ते मूल्य में बेचने को राजी है, वस्तु को खरीद लेगा। अगर क्रेता विक्रेता द्वारा माँगे गए मूल्य से थोड़ा भी कम देना चाहता हो, तो विक्रेता वस्तु को उसे नहीं बेचेगा, बल्कि किसी दूसरे क्रेता को, जो माँगा हुआ मूल्य देने को तैयार है, बेचेगा। इस प्रकार के बाजार की कल्पना हम यह सोचकर कर सकते हैं कि क्रेताओं और विक्रेताओं में मोल-भाव चलेगा और इसके फलस्वरूप केवल एक मूल्य निर्धारित होगा जिसके अनुसार लेन-देन होगा। 'पूर्ण बाजार' के इस संबोध के अन्तर्गत सबसे निकट संभवतः गाँव की अनाज मंडी आती है। मगर वास्तविक दुनिया में बाजार 'अपूर्ण' होते हैं क्योंकि क्रेताओं और विक्रेताओं को पूर्ण ज्ञान नहीं होता और उनमें पूर्ण गतिशीलता नहीं होती। एक अपूर्ण बाजार (imperfect market) में एक ही समय एक ही वस्तु के विभिन्न मूल्य हो सकते हैं। बाजार की अपूर्णता का कारण उपभोक्ताओं का अज्ञान, आलस्य और अभिनति हो सकता है या उत्पादक द्वारा किया गया उत्पाद-भिन्नन (product differentiation) हो सकता है, जिसके द्वारा वे उपभोक्ताओं को इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि उनकी वस्तु अन्य प्रतिस्पर्द्धियों की वस्तु से अलग है।

हम एक वस्तु के लिए, जिसकी प्रत्येक इकाई दूसरी का पूर्ण प्रति-स्थापन है, एक बाजार लेते हैं। अगर कई वस्तुएँ ऐसी हों, जो एक दूसरे के पूर्ण प्रतिस्थापन न हों, उनके लिए कई बाजार साथ-साथ होंगे। यह बिल्कुल संभव है कि ये बाजार एक साथ अर्थात एक ही स्थान पर हों। पर अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए हमें प्रत्येक बाजार पर अलग विचार करना होगा। अगर ये वस्तुएँ पूर्ण प्रतिस्थापन न हों, बल्कि निकट प्रतिस्थापन हों, तो ऐसा बाजार, जिसमें ये सब आती हैं, अपूर्ण बाजार होगा और अगर निकट प्रतिस्थापन न होकर ये पूर्ण प्रतिस्थापन हो जायँ, तो एक पूर्ण बाजार होगा जिसमें केवल एक मूल्य प्रचलित होगा।

अल्प और दीर्घ काल (short and long period). फर्म या उद्योग की संस्थिति की दशा में मूल्य निर्धारण करने में और किसी भी प्रकार के आर्थिक

विश्लेषण में हम अल्प और दीर्घ काल में भेद करते हैं। आर्थिक परिस्थितियों का समझना सुगम बनाने के लिए मार्शल ने समय की धारणा को अर्थशास्त्र में स्थान दिया। इस प्रकार उसने अर्थशास्त्र के कई विरोधाभासों (paradoxes) और परावचनों (contradictions) को विघटित किया।

अल्प और दीर्घ काल में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर उस समय के कारण है, जो किसी प्रक्रिया (process) को पूर्ण करने में और समायोजन (adjustment) होने में लगता है। अगर समायोजन करने के लिए और दी हुई दशाओं के लिए पर्याप्त समय नहीं है, तो इसे अल्प काल कहा जाता है। पर अगर समायोजन करने के लिए और प्रक्रिया को पूरा करने के लिए पर्याप्त समय है, तो यह दीर्घ काल है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अल्प काल और दीर्घ काल के विचार सापेक्षिक हैं और अल्प काल का कालान्तर (duration) प्रत्येक वस्तु के लिए अलग हो सकता है।

अवधि को इस प्रकार दो भागों में बाँटना स्वाभाविक है। अल्प काल में वस्तु या उत्पादन के साधन की पूर्ति या फर्म का आकार दिया हुआ और स्थिर है और बदला नहीं जा सकता। दीर्घ काल में वस्तु या उत्पादन के साधन की पूर्ति या फर्म का आकार बढ़ाया या घटाया जा सकता है।

इस बात को स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि अल्प काल और दीर्घ काल सापेक्षिक हैं। विभिन्न वस्तुओं के लिए अल्प काल का कालान्तर विभिन्न होगा, जैसे मोची के द्वारा बनाए गए जूतों के लिए शायद एक दिन अल्प काल हो सकता है क्योंकि एक दिन से कम समय में जूतों की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती। अगर एक दिन का समय दिया हुआ हो तो स्थानीय जूता-उत्पादक अधिक जोड़ी जूतों का उत्पादन कर सकता है। दूसरी ओर यंत्रों के द्वारा फैक्टरी में निर्मित जूतों के लिए अल्प काल शायद तीन महीने का हो क्योंकि शायद इससे कम समय में जूतों की पूर्ति में वृद्धि करना संभव न हो और तीन महीने बाद जूतों की पूर्ति में, जिसका कारण मूल्य में वृद्धि हो जाना हो, वृद्धि हो सके। साइकिल-उत्पादन में अल्प काल छः महीने का और कार-निर्माण में एक साल से भी अधिक का हो सकता है। जहाजों, इंजनों और बड़े यन्त्रों के लिए, जिनकी रचना जटिल होती है और जिनका निर्माण अधिक समय में होता है, अल्प काल सापेक्षतः दीर्घ होगा। पुनः यह आवश्यक नहीं है कि किसी विशेष वस्तु के लिए अल्प काल का कालान्तर सदैव समान रहे। प्रचलित परिस्थितियों पर आश्रित होने के कारण अल्प काल अल्पतर और दीर्घतर हो सकता है।

इस विषय में दूसरी समझने की बात यह है कि सब संबंधित बाजारों में,

यथा उत्पादन के साधनों के बाजार और निर्मित वस्तुओं के बाजार, एक ही समय में अल्प काल की दशाएँ नहीं भी हो सकती हैं। जब वस्तु-बाजार में दीर्घकाल हो तो साधन-बाजार अल्पकाल में भी हो सकता है और जब वस्तु-बाजार सुदीर्घकालीन (secular) परिवर्तनों का, अर्थात अतिदीर्घ-कालीन परिवर्तनों का, अनुभव कर रहा हो तो साधन-बाजार, जो वस्तु-बाजार से पिछड़ा रहता है, में केवल दीर्घकाल हो।

प्रो० एफ० एच० नाइट[1] ने वस्तु और साधन-बाजार में अल्प और दीर्घ काल का बहुत सुतथ्य और व्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्या को तीन भागों में बाँटा है :

प्रथम भाग. वस्तुओं की पूर्ति और संतुष्ट की जाने वाली आवश्यकताएँ दी हुई हैं। यह समय के किसी क्षण में प्राप्त होने वाली स्थिति है। इस स्थिति में वस्तु-बाजार में बाजार-मूल्य की समस्या आती है। पर वितरण, अर्थात साधन के मूल्य निर्धारण, की समस्या नहीं होती।

द्वितीय भाग. उत्पादक संसाधनों (productive resources), यथा श्रम, पूँजी, कच्चा माल आदि, की पूर्ति और संतुष्ट की जाने वाली आवश्यकताएँ दी हुई हों। इस स्थिति में वस्तु-बाजार में सामान्य मूल्य (normal price) निर्धारण की समस्या उपस्थित होती है। यह मार्शल का दीर्घकालीन सामान्य मूल्य है। इस अवधि में उपलब्ध संसाधनों की सहायता से उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना और घटाना संभव है। हम अधिक कारों, इंजनों या साइकिलों का उत्पादन इन्हीं दिए हुए संसाधनों से कर सकते हैं और यह संसाधनों के सापेक्षिक मूल्य पर आश्रित होगा। इस स्थिति में प्रत्येक वस्तु की पूर्ति उसके मूल्य का श्रुत (function) होगी। पर अब भी उत्पादन के साधनों, यथा श्रम, पूँजी, साहसोद्यम आदि, की पूर्ति स्थिर और दी हुई है। उत्पादन के साधनों को केवल बाजार-मूल्य की समस्या होगी। इन साधनों की पूर्ति इनके मूल्य का श्रुत नहीं होगी।

तृतीय भाग. उत्पादन के साधन और उत्पादक संसाधनों की पूर्ति और, साथ-साथ, आवश्यकता-व्यवस्था (system of wants) बदल सकती हैं। उत्पादक अधिक कारों, इंजनों या साइकिलों का उत्पादन न केवल वर्तमान संसाधनों की सहायता से कर सकते हैं, बल्कि संसाधनों और सज्जा की, जो बढ़ाई और घटाई जा सकती हैं, सहायता से भी कर सकते हैं। इससे वस्तुओं के सामान्य मूल्य के संबंध में अति दीर्घकालक परिवर्तनों की समस्या उपस्थित होती है। इस स्थिति में वितरण

---

1. F. H. Knight, Risk, Uncertainty and Profit, p. 144.

की दीर्घकालिक समस्या, अर्थात् उत्पादन के साधनों के सामान्य मूल्य-निर्धारण की समस्या, उत्पन्न होती है।

वस्तु-बाजार और साधन-बाजार की दीर्घ और अल्प काल, जो एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं, की यह असमानता अर्थशास्त्र में कई महान जटिलताओं को जन्म देती है। यदि वस्तु और साधन बाजार में एक साथ और एक समय में अल्प या दीर्घकाल होते, तो आर्थिक विश्लेषण बहुत अधिक सरल हो गया होता।

मार्शल के विचारों के आधार पर अल्प और दीर्घ काल के उपर्युक्त वर्गीकरण से थोड़ा-सा बदला हुआ वर्गीकरण करना संभवतः अधिक अच्छा होगा। पहले वर्ग को अति-अल्प काल कहा जाय जिसकी अवधि कुछ घंटे या कुछ दिन हो और जिसमें वस्तु की पूर्ति स्थिर और दी हुई हो। इसमें कदाचित वे राशियाँ भी रखी जा सकती हैं जिनके बारे में सोचा जा रहा हो। यह पूर्ति और प्रचलित माँग, जिसे मार्शल ने बाजार-मूल्य कहा था, को जन्म देगी।

मार्शल के अनुसार अल्प काल वह अवधि है जिसमें वस्तुओं की पूर्ति चालू उत्पादन को बदल कर बढ़ाई या घटाई जा सकती है। पर जो इतना दीर्घ नहीं है कि इस वस्तु का उत्पादन करने वाली सज्जा (equipment) में ऐसे परिवर्तन किए जा सकें जिससे वह अधिक या कम का उत्पादन कर पाए। फर्म-सिद्धान्त की शब्दावली में हम यह कह सकते हैं कि अल्प काल में उत्पादन में परिवर्तन अल्पकालिक सीमान्त लागत-वक्र के किसी दूसरे बिन्दु पर उत्पादन करके किए जा सकते हैं। प्रत्येक संयन्त्र (plant) का आकार-प्रकार अपरिवर्तनीय माना जाना चाहिए। क्रियाशीलता के अनुमाप (scale of operation) में कोई परिवर्तन नहीं होंगे और न ही नए फर्म, अल्प काल में, उद्योग में प्रवेश कर सकेंगे। इस अवधि में पूर्ति और प्रचलित माँग की दशाएँ अल्पावधि सामान्य मूल्य (short run normal price) को जन्म देंगी।

अगर हम समय की दीर्घतर अवधि लेते हैं, जो ऐसी हो कि उत्पाद की राशि में न केवल वर्तमान संसाधनों और सज्जा से परिवर्तन किए जा सकें, बल्कि वर्तमान फर्मों के आकार में परिवर्तन करके और उद्योग में फर्मों की संख्या घटा-बढ़ा कर भी किए जा सकें, तो पूर्ति की दशाएँ माँग की दशाओं के साथ दीर्घावधि सामान्य मूल्य (long period normal price) को जन्म देंगी।

अगर हम इससे भी दीर्घ अवधि लें, जिसमें न केवल फर्मों का आकार बदला जा सके, बल्कि सब अन्तर्निहित आर्थिक प्रतिकारकों (factors), जैसे जनसंख्या, कच्चे माल की पूर्ति, पूँजी की पूर्ति की सामान्य दशाएँ आदि, को बदला

जा सके, तो माँग की दशाओं के साथ पूर्ति की दशाओं पर विचार करने से हमें दीर्घावधि सामान्य मूल्य के अतिदीर्घकालीन परिवर्तन ज्ञात होंगे।

इस प्रकार हमें चार विभिन्न समस्याएँ मिलती हैं, जिनका सम्बन्ध निम्न से है :

(१) बाजार मूल्य,
(२) अल्पावधि सामान्य मूल्य,
(३) दीर्घावधि सामान्य मूल्य, और
(४) दीर्घावधि सामान्य मूल्य के अतिदीर्घकालीन परिवर्तन।

अल्प और दीर्घ काल को हम किसी भी प्रकार परिभाषित क्यों न करें, उनसे किसी दी हुई स्थिति में यह स्पष्टतः निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता कि अल्प काल कहाँ समाप्त होता है और दीर्घ काल कहाँ से शुरू होता है। वास्तविक संसार में कई अल्प काल साथ-साथ चलते हैं और अल्प काल का दीर्घकाल में इस प्रकार विलयन होता है कि हम यह बताने में समर्थ नहीं होते कि कहाँ अल्प काल समाप्त होता है और कहाँ से दीर्घकाल शुरू होता है। मान लीजिए, किसी वस्तु के लिए अल्पकाल तीन महीने का है। तीन महीने की एक अवधि किसी विशेष दिन ९ बजे प्रातः शुरू होती है, दूसरी अवधि इसके एक मिनट बाद, तीसरी अवधि ९ बजकर २ मिनट पर और इसी प्रकार कई अल्पावधियाँ पानी की तरंगों की भाँति साथ-साथ चलती हैं और यह बताना संभव नहीं है कि कोई दीर्घावधि किस अल्पावधि के बाद शुरू होती है। इस स्थिति में हम तीन महीने और इससे अधिक समय में भेद नहीं कर सकते और इसलिए अल्प काल और दीर्घ काल में स्पष्ट अन्तर नहीं बता सकते। पर, इन बाधाओं के होते हुये भी, आर्थिक विश्लेषण के हेतु अल्प काल और दीर्घ काल में भेद करना लाभप्रद है।

माँग और पूर्ति वक्र (demand and supply curves). अर्थशास्त्र में संस्थिति उस दशा को समझा जाता है जिसमें माँग और पूर्ति बराबर हों। इसलिए माँग और पूर्ति के अर्थों को स्पष्टतः समझना आवश्यक है।

किसी वस्तु या सेवा की माँग उसकी उन इकाइयों के बराबर है जिसे क्रेता किसी मूल्य पर खरीदते हैं और उसकी पूर्ति उन इकाइयों के बराबर है, जिन्हें उत्पादक किसी निश्चित मूल्य पर बेचने को राजी हों। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम (१) एक वस्तु की, (२) इकाइयों के रूप में, और (३) किसी निश्चित मूल्य पर माँग और पूर्ति का विचार करते हैं। हम सामान्य रूप से माँग और पूर्ति की चर्चा नहीं कर सकते, बल्कि किसी विशेष वस्तु की एक विशेष मूल्य पर माँग और पूर्ति कह सकते हैं।

पर यह याद रखना चाहिए कि किसी एक मूल्य पर जितनी इकाइयाँ माँगी

और पूरी (supplied) की जाती हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि यह जानना कि मूल्य-परिवर्तन के फलस्वरूप माँग और पूर्ति में कितना परिवर्तन हुआ, महत्वपूर्ण है क्योंकि हम न केवल एक मूल्य पर होने वाले माँग और पूर्ति के समायोजन को जानना चाहते हैं, बल्कि उस समायोजन को जानना चाहते हैं जो मूल्य में परिवर्तन होने पर होता है। परिवर्तनशील मूल्यों के माँग और पूर्ति पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने के लिए हमें श्रित-सम्बन्ध (functional relation) का अध्ययन करना होगा। श्रित-सम्बन्ध बताता है कि मूल्य में होने वाले अल्प परिवर्तनों के कारण माँग और पूर्ति में क्या परिवर्तन होते हैं। इसके विपरीत, माँग और पूर्ति के अल्प परिवर्तनों के फलस्वरूप किस प्रकार मूल्य-परिवर्तन होता है। माँग को मूल्य का श्रित इस अर्थ में कहा जाता है कि वस्तु के मूल्य के घटने या बढ़ने के कारण माँग में इतनी इकाइयों से वृद्धि या कमी होती है। इसी प्रकार पूर्ति भी मूल्य का श्रित है क्योंकि हम यह जान सकते हैं कि मूल्य के परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ति में इतनी इकाइयों से कमी या वृद्धि होगी। जिस प्रकार पूर्ति और माँग मूल्य के श्रित हैं, उसी प्रकार मूल्य माँग और पूर्ति का श्रित है। समय के किसी क्षण में मूल्य माँग और पूर्ति को प्रभावित करता है और माँग एवं पूर्ति एक दूसरे को तथा मूल्य को प्रभावित करते हैं। इसे हम निम्नलिखित रूप से दिखा सकते हैं :

$$\text{माँग} \rightleftarrows \text{मूल्य} \rightleftarrows \text{पूर्ति}$$

यह प्रक्रिया सन्तत रूप से (continuously) तब तक चलती रहेगी, जब तक किसी विशेष मूल्य पर माँग और पूर्ति बराबर न हो जाएँ। यह दशा संस्थिति की है और जब तक परिस्थितियों में फिर से परिवर्तन न हो जाय, तब तक के लिए यह समायोजन अन्तिम होगा।

माँग (Demand). माँग उपयोगिता पर आधारित है। एक उपभोक्ता किसी वस्तु, जैसे पेन्सिल, की माँग करता है क्योंकि वह उसके लिए उपयोगी है। किसी वस्तु की उपयोगिता आवश्यकता उत्पन्न (create) करती है और अगर उपभोक्ता के पास आवश्यकता को संतुष्ट करने के साधन हैं और वह उन्हें संतुष्ट करने के लिए तैयार है, तो आवश्यकताएँ माँग में बदल जाती हैं। इसका अध्ययन हम 'ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता' वाले अध्याय में करेंगे। इस प्रकार माँग तब उत्पन्न होती है जब आवश्यकता हो, उसे संतुष्ट करने की इच्छा और साधन हों। अगर पदार्थ मुफ्त में मिल जायँ, दूसरे शब्दों में, अगर वे दुर्लभ न हों, तो एक निश्चित मूल्य पर पदार्थ की कुछ इकाइयों की माँग

करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अगर वे प्रचुर परिमाण में हों, तो वे उसे माँगने मात्र से मिल जाएँगे और एक निश्चित मूल्य पर निश्चित इकाइयों के अर्थ में माँग उत्पन्न नहीं होगी। अतएव माँग तभी उत्पन्न होती है जब उपयोगिता और दुर्लभता हो।

माँग-श्रित (demand function) का या, दूसरे शब्दों में, मूल्य के अल्प परिवर्तन एवं माँग के अल्प परिवर्तन के सम्बन्ध का, अध्ययन करने के लिए हम माँग-सारणी या माँग-वक्र पर विचार करते हैं। माँग-सारणी एक तालिका है, जो (परिवर्तनशील) मूल्यों और (परिवर्तनशील) माँग के सम्बन्ध को दिखाती है। निम्नलिखित सारणी में १० रु० मूल्य पर एक वस्तु **क** की ४ इकाइयों की माँग की जाती है, ९ रुपया मूल्य होने पर ७ इकाइयों की, इत्यादि।

वस्तु क के लिए माँग सारिणी

प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)	माँग की इकाइयाँ
१०	४
९	७
८	१०
७	१४
६	२०
५	३०

यही चीज माँग-वक्र के रूप में व्यक्त की जा सकती है (चित्र १)। **क** के प्रति इकाई मूल्य को हम y-axis पर अंकित करते हैं और जितनी इकाइयों की माँग की जाती है उसे x-axis पर। माँग वक्र DD दाहिनी ओर गिरता है। इस प्रकार यह दिखाता है कि मूल्य के गिरने पर माँग बढ़ जाती है और मूल्य के बढ़ने पर माँग गिर जाती है। ऐसा होने का कारण ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त है। किसी वस्तु की अगली इकाइयाँ कम संतुष्टि देती हैं, अतएव उपभोक्ता उन्हें तभी खरीदने के लिए तैयार होगा जब उसका मूल्य कम हो जाय। इसलिए उसे अधिक इकाइयाँ, जिनकी सीमान्त उपयोगिता कम हो गई है, खरीदने का प्रलोभन वस्तु का मूल्य कम करके ही दिया जा सकता है। हीन पदार्थों के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं की माँग मूल्य के घटने पर बढ़ जाएगी
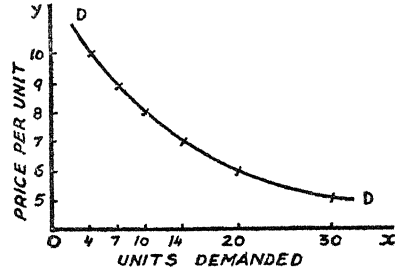
चित्र १

और मूल्य के बढ़ने पर घट जाएगी। पर हीन पदार्थों के लिए, किसी विशेष स्थिति में, मूल्य के बढ़ने पर माँग बढ़ और मूल्य के घटने पर माँग घट सकती है।[1] पर यह एक अपवादी (exception) स्थिति है और व्यवहार में साधारणतः नहीं पाई जाती।

उपर्युक्त माँग-वक्र या माँग सारणी कुछ परिकल्पनाओं (assumptions) के आधार पर बनाए जाते हैं। मार्शल ने इन परिकल्पनाओं को 'अन्य चीजें समान रहने पर' कहकर व्यक्त किया। जब हम माँग-वक्र खींचते हैं, तो समान रहने वाली चीजें हैं : (१) उपभोक्ता की आय, (२) उसकी रुचियाँ, पसन्द-नापसन्द, और (३) बाजार में उपलब्ध अन्य सब वस्तुओं के मूल्य। अगर ये चीजें समान रहें और किसी वस्तु **क** का मूल्य गिर जाय, तो संभवतः उसकी अधिक इकाइयों की माँग होगी। पर अगर उपर्युक्त शर्तों में कोई एक भी बदल जाती है, तो उपभोक्ता उस वस्तु की अधिक इकाइयाँ नहीं भी खरीदेगा। मान लीजिए किसी वस्तु के मूल्य में १० प्रतिशत कमी हो जाती है, पर साथ-साथ उपभोक्ता पहले की अपेक्षा निर्धन हो जाता है, तो उसमें अधिक इकाइयाँ खरीदने की क्षमता नहीं रहेगी। यह भी हो सकता है कि जितना वह पहले खरीद रहा था उतना भी न खरीदे। यदि, दूसरी ओर, उसकी आय तो समान रहे, पर उसकी रुचि इस प्रकार बदल जाय कि वह इस वस्तु को नापसन्द करने लगे या पहले की अपेक्षा कम पसन्द करने लगे, तो मूल्य के गिरने पर भी वह उस वस्तु की अधिक इकाइयों को नहीं माँगेगा। यदि व्यक्ति की द्राव्यिक आय और उसकी रुचियाँ समान रहें, पर जब इस वस्तु के मूल्य में १० प्रतिशत कमी होती है, तब अन्य वस्तुओं के मूल्य में २० या २५ प्रतिशत कमी हो जाय, तो उसे अन्य वस्तुएँ अधिमान्य (preferable) होंगी और इसलिए वह **क** की अधिक इकाइयाँ खरीदने के बदले अन्य वस्तुओं की अधिक इकाइयाँ माँगेगा। अतएव, माँग-वक्र खींचने और माँग एवं मूल्य के श्रुत-संबंध का अध्ययन करने के लिए हमें मानना पड़ता है कि उपभोक्ता की आय, उसकी रुचियाँ और अन्य वस्तुओं के मूल्य समान रहें। इन परिकल्पनाओं के अन्तर्गत यह कहना संभव है कि हीन पदार्थों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के लिए मूल्य के घटने पर माँग बढ़ती है और मूल्य के बढ़ने पर माँग घट जाती है।

अब हम 'माँग की वृद्धि' पर अधिक स्पष्टता से विचार करेंगे। हमारी मान्यताओं के अन्तर्गत माँग में वृद्धि केवल मूल्य के गिरने पर होगी। अगर अन्य चीजें समान रहें, तो माँग का उसी मूल्य पर या अधिक मूल्य पर बढ़ना संभव नहीं है।

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए 'ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता' का अध्याय देखिए।

माँग उससे कम मूल्य पर ही बढ़ सकती है। अगर उपभोक्ता की आय, उसकी रुचियाँ और अन्य वस्तुओं के मूल्य बदल जायँ, तो हमें एक दूसरा माँग-वक्र खींचना पड़ेगा क्योंकि कोई माँग-वक्र केवल इन्हीं मान्यताओं के अन्तर्गत सार्थक है।

व्यवहार में यह संभव है कि वस्तु क पूर्णत: विभाज्य न हो और मूल्य के अल्प परिवर्तनों के कारण माँग के अल्प परिवर्तनों पर विचार करना संभव न हो। इसके फलस्वरूप माँग-वक्र सरल और संतत नहीं होगा। इस स्थिति में माँग-वक्र खंडित रेखा के सदृश होगी और इसमें विकुंचन (kinks) होंगे। पर सिद्धान्त में यह मान लेते हैं कि वस्तु क पूर्णत: विभाज्य है और एक सरल और संतत माँग वक्र खींचना संभव है।

अब तक हमने वस्तु क के लिए व्यैक्तिक माँग-वक्र पर विचार किया। इस वस्तु के बाजार-माँग-वक्र (market demand curve) पर विचार करना संभव है। किसी वस्तु का बाजार-माँग-वक्र प्रत्येक मूल्य पर व्यक्तियों द्वारा बाजार में माँगी गई कुल राशि दिखाएगा। इसे प्राप्त करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों की किसी वस्तु की माँगों को जोड़ दिया जाता है। बाजार-माँग-वक्र का आकार व्यैक्तिक माँग-वक्र की भाँति होगा और वह, जैसा चित्र नं० २ में दिखाया गया है, बाएँ से दाहिने को गिरेगा। बाजार-माँग-वक्र खींचने के लिए हमें एक अतिरिक्त मान्यता यह करनी पड़ती है कि बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या समान रहती है। अगर बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या बदल जाती है, तो बाजार-माँग-वक्र का स्थान् भी बदल जाएगा; उदाहरणस्वरूप अगर नगर में मेला लगे, तो बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ जाएगी और माँग वक्र DD से विवर्तित (shift) हो कर D'D' हो जाएगा (चित्र २) जबकि दूसरी ओर अगर उपभोक्ताओं की संख्या घट जाती है, तो माँग-वक्र DD से विवर्तित होकर D" D" हो जाएगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ताओं की संख्या के बढ़ने पर उसी मूल्य पर माँग में वृद्धि हो जाएगी। जब DD माँग-वक्र था, तब OP मूल्य पर वस्तु की OM इकाइयों की माँग थी। अगर अन्य चीजें समान रहें और उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ जाए, तो माँग की दशा D'D' वक्र दिखाएगा और अब OP मूल्य पर OM' इकाइयों की माँग होगी। दूसरी ओर
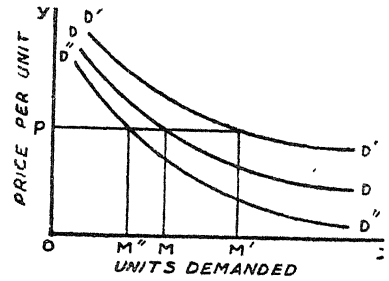
चित्र २

अगर, अन्य चीजें समान रहें और बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या घट जाय, तो माँग-वक्र D"D" हो जाएगा और उसी मूल्य OP पर केवल OM" इकाइयों की माँग की जाएगी।

पूर्ति (Supply). जिस प्रकार माँग उपयोगिता पर आधारित है उसी प्रकार पूर्ति दुर्लभता पर आधारित है। अगर कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है या इस अर्थ में प्रचुर है कि उसकी पूर्ति माँग से अधिक है, तो किसी विशेष मूल्य पर कितनी इकाइयों की पूर्ति की जाएगी, इसका प्रश्न नहीं उठेगा। किसी वस्तु की किसी दिए हुए मूल्य पर कितनी इकाइयाँ पूरी (supplied) की जाएँगी, इस पर विचार करने का कारण उसकी दुर्लभता और उपयोगिता है। माँग की भाँति, पूर्ति-सारणी और पूर्ति-वक्र होते हैं। किसी वस्तु क की ५ रु० प्रति इकाई मूल्य पर ६ इकाइयाँ पूरी की जाती हैं। इससे अधिक मूल्य, ६ रु० प्रति इकाई, पर पूर्ति बढ़कर १६ हो जाती है। इस प्रकार मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति बढ़ती है। यह हमें पूर्ति-सारणी देती है।

वस्तु 'क' की पूर्ति सारणी

प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)	पूर्ति की इकाइयाँ
५	६
६	१६
७	२१
८	२५
९	२८
१०	३०

इन बिन्दुओं को एक वक्र के रूप में अंकित करके हम पूर्ति-वक्र प्राप्त कर सकते हैं। हम वस्तु का प्रति इकाई मूल्य y-axis पर दिखाते हैं और पूर्ति की गई इकाइयों को x-axis पर। चित्र ३ में दिखाया गया पूर्ति-वक्र SS मूल्य और पूर्ति में श्रित-सम्बन्ध दिखाता है। मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति बढ़ती है और मूल्य के कम होने पर पूर्ति घटती है। माँग और पूर्ति के वक्रों और सारणियों में दो मुख्य अन्तर हैं :
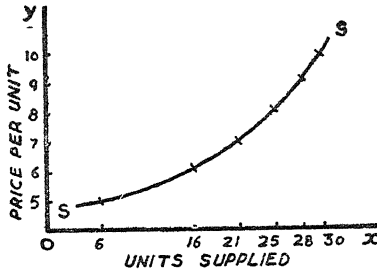
चित्र ३

(१) माँग और मूल्य में विलोम सम्बन्ध (inverse relation) होता है अर्थात् मूल्य के बढ़ने पर माँग कम हो

जाती है और मूल्य के घटने पर बढ़ जाती है। पर पूर्ति और मूल्य के परिवर्तन एक ही दिशा में होते हैं। जब मूल्य गिरता है, तो पूर्ति कम हो जाती है और जब मूल्य बढ़ता है, तो पूर्ति बढ़ जाती है। यह सामान्य स्थिति है। पर कुछ दशाओं में, जैसे वृद्धिमान प्रतिफलन (increasing returns) में, ऐसा पूर्ति-वक्र हो सकता है, जो माँग-वक्र के समान बायें से दाहिनी ओर गिरता हो। इस प्रकार का पूर्ति-वक्र यह दिखाएगा कि मूल्य के गिरने पर पूर्ति बढ़ती है और मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति घटती है। पूर्ण प्रतियोगिता और दीर्घकाल में पूर्ति-वक्र का साधारण रूप चित्र ३ के वक्र की भाँति होगा। पर, जैसा हम आगे देखेंगे, एकाधिकार में पूर्ति-वक्र का वही आकार हो सकता है जो माँग-वक्र का है अर्थात् वह बायीं से दाहिनी ओर गिर सकता है।

(२) पूर्ण प्रतियोगिता (perfect competition) की दशाओं में हम वैयक्तिक और बाजार-माँग-वक्र, दोनों खींचते हैं, पर साधारणतः एक, बाजार-पूर्ति-वक्र, ही खींचा जाता है। पूर्ण स्पर्द्धा में वैयक्तिक पूर्ति-वक्र का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि कल्पनानुसार प्रत्येक प्रदायक बाजार में बेचे जाने वाले कुल उत्पाद (total output) के एक छोटे अंश की पूर्ति करता है, और यद्यपि सिद्धान्ततः किसी वैयक्तिक उत्पादक का पूर्ति-वक्र उसकी औसत लागत से मालूम होता है, तथापि इससे कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। पूर्ण स्पर्द्धा की दशाओं में हम बाजार-पूर्ति-वक्र से संव्यवहार (deal) करते हैं जबकि एकाधिकार की दशाओं में वैयक्तिक पूर्ति-वक्र महत्वपूर्ण हो जाता है।

बाजार-पूर्ति-वक्र विभिन्न फर्मों के, जो एक पूर्णतः स्पर्द्धी बाजार को संघटित (constitute) करती हैं, उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost) के आधार पर खींचा जाता है। हम किसी दी हुई सीमान्त लागत पर की जाने वाली पूर्ति को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक फर्म (उत्पादक) द्वारा दी हुई सीमान्त लागत पर प्रदत्त (supplied) राशि को जोड़ देते हैं।[१] एक दूसरी सीमान्त लागत लेने पर हम उस राशि को जान सकते हैं जिसकी पूर्ति प्रत्येक फर्म इस सीमान्त लागत पर करेगी। इस प्रकार हमें विभिन्न लागतों पर प्रदत्त की जाने वाली राशियों की एक श्रेणी (series) मिलेगी; जो बाजार-पूर्ति-वक्र बताती है।

बाजार-पूर्ति-वक्र उन राशियों को दिखाता हैं जिनकी पूर्ति विभिन्न मूल्य पर की जाती है। यह दो परिकल्पनाओं के अन्तर्गत खींचा जाता है : (१) बाजार

---

१ हम आगे चलकर देखेंगे कि पूर्णतः स्पर्धी दशाओं में संस्थिति में मूल्य उत्पादन की सीमान्त और, साथ-साथ, औसत लागत के बराबर होता है।

में फर्मों (उत्पादकों) की संख्या स्थिर रहती है, (२) जिन लागत की दशाओं में फर्म क्रियाशील (operating) है, वे परिवर्तित नहीं होतीं। अगर फर्मों की संख्या बढ़ जाती है, तो किसी विशेष मूल्य पर प्रदत्त राशि बढ़ जाएगी और फर्मों की संख्या के घट जाने पर यह राशि कम हो जाएगी। अगर लागत की दशाएँ बदल जाती हैं और कुछ फर्में अधिक कुशल हो जाती हैं, तो मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति में होने वाली वृद्धि उस स्थिति की अपेक्षा कहीं अधिक होगी जिसमें फर्मों की कुशलता में वृद्धि नहीं होती। लागत की दशाओं के अपरिवर्तित रहने से हमारा तात्पर्य यह है कि फर्मों का आकार, विभिन्न उत्पादन के साधनों की कुशलता, और साहसोद्यमी की, जो इन सब साधनों को जुटाता है, कुशलता, ये सब अपरिवर्तित रहती हैं। अगर ये परिस्थितियाँ बदलती रहें, तो हमें पूर्ति-वक्र को भी फिर से खींचना होगा। परिवर्तनशील दशाओं में एक दिए हुए पूर्ति-वक्र के कोई माने नहीं होंगे। फर्मों की संख्या और लागत की दशाओं के बदल जाने पर एक नया पूर्ति-वक्र खींचना पड़ेगा। पूर्ण स्पर्द्धा की दशाओं में हम एक विशेष वस्तु के बाजार-पूर्ति-वक्र पर विचार करते हैं। इसको दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि हम एक उद्योग के, जो मान लीजिए क वस्तु का उत्पादन करता है, पूर्ति-वक्र को खींचते हैं।

बाजार-पूर्ति-वक्र को खींचने में कुछ जटिलताएँ आ जाती हैं। ये जटिलताएँ वैयक्तिक और बाजार के माँग-वक्र को खींचने में नहीं आतीं। किसी वैयक्तिक विक्रेता की वस्तु के लिए आरक्षित माँग (reserve demand) हो सकती है। आरक्षित माँग होने का अर्थ यह है कि अगर मूल्य गिरता है, तो वह वस्तु को बेचने के बदले उसका उपयोग स्वयं करने लगे या उस वस्तु को स्वयं रख ले। अतएव बाजार के पूर्ति-वक्र को खींचते समय हमें विक्रेता की आरक्षित माँग पर भी विचार करना पड़ता है। पर पूर्ण स्पर्द्धा की सरलीकृत दशाओं में यह जटिलता उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि हम यह परिकल्पना कर लेते हैं कि उत्पादक बहुत बड़ी संख्या में होते हैं जिसके कारण प्रत्येक उत्पादक कुल राशि का बहुत छोटा हिस्सा पूरा करता है। इस स्थिति में किसी विशेष उत्पादक के थोड़ी अधिक या कम राशि की पूर्ति करने से कोई अन्तर नहीं होगा, पर अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार की दशाओं में पूर्ति-वक्र खींचते समय आरक्षित माँग महत्वपूर्ण हो जाती है। अपूर्ण प्रतियोगिता में एक अन्य जटिलता के उत्पन्न होने का कारण यह है कि किसी एक फर्म की लागत की दशाएँ अंशतः संस्पर्द्धी (rival) फर्मों की लागत की दशाओं पर आश्रित होती हैं। अतएव किसी वस्तु का पूर्ति-वक्र अंशतः बाजार में उपलब्ध अन्य संस्पर्धी वस्तुओं के पूर्ति-वक्र पर

आश्रित होता है। यह जटिलता पूर्ण स्पर्द्धा की सरलीकृत दशाओं में नहीं मिलती और तभी उत्पन्न होती है जब अपूर्ण स्पर्द्धा हो। हम इन जटिलताओं पर, जो उच्च अध्ययन का भाग हैं, विचार नहीं करेंगे।

औसत और सीमान्त आगम (average and marginal revenue). आधुनिक अर्थशास्त्र में संस्थिति का सबोध सीमान्त आगम आय और सीमान्त लागत की समानता के रूप में होता है। अतएव हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम सीमान्त लागत और सीमान्त आगम में तथा औसत लागत और औसत आगम में स्पष्ट भेद करें।

बाजार-माँग-वक्र उन राशियों को बताता है जिनकी विभिन्न मूल्यों पर माँग की जाएगी। उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से किसी बिन्दु पर माँग-वक्र के नीचे आने वाला क्षेत्रफल उस कुल द्रव्य-राशि को बताता है जिसका उपभोक्ता उस मूल्य पर उस वस्तु को खरीदने में व्यय करने के लिए राजी हैं। अगर हम विपणि-माँग-वक्र (market demand curve) पर विक्रेताओं के दृष्टिकोण से विचार करें, तो माँग वक्र के नीचे आने वाला क्षेत्रफल किसी वस्तु के लिए किसी मूल्य पर कुल विक्रयागम (sale proceeds) दिखाता है। अतएव माँग-वक्र को औसत आगम-वक्र कहा जाता है।

औसत आगम वक्र (average revenue curve) के नीचे आने वाला क्षेत्रफल, किसी बिन्दु पर उस कुल आगम को दिखाता है जो कोई विक्रेता एक वस्तु को उस विशेष मूल्य पर बेचने पर प्राप्त करता है। थोड़ा अधिक या कम मूल्य पर कुल विक्रयागम (या कुल आय) भिन्न होगी। कुल विक्रयागम (या कुल आय) औसत आगम-वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर अलग होगा। कुल आगम किस प्रकार बदलता है, यह सीमान्त आय बताती है।

सीमान्त आय एक इकाई अधिक या कम बेचने पर कुल आय में होने वाले परिवर्तन को बताती है। अधिक यथार्थ भाषा में "फर्म के उत्पाद के किसी स्तर पर सीमान्त आय वह आय है जिसका अर्जन फर्म अपनी उत्पत्ति की एक अन्य (सीमान्त) इकाई बेचकर करेगी। बीजगणितानुसार, यह अर्जित कुल आय में वह वृद्धि है जो उत्पत्ति की $n-1$ इकाइयों के बदले n इकाइयाँ बेचकर प्राप्त होती है, जहाँ n कोई दी हुई संख्या है"। विकल्पेन (alternatively), सीमान्त लागत को हम कुल आय की उस वृद्धि के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, जो n इकाइयों के स्थान पर $n+1$ इकाइयाँ बेचकर प्राप्त होती है।

विक्रीत इकाइयो की संख्या	औसत आगम (अर्थात् प्रति इकाई मूल्य)	कुल आगम (अर्थात्, कुल विक्रयागम)	सीमान्त आगम
	रु०	रु०	रु०
१	१०	१०	१०
२	६	१८	८
३	७	२१	३
४	६·५०	२६	५

उपर्युक्त उदाहरण में, दो इकाइयाँ वेचने पर कुल विक्रयागम १८ रु० है और एक इकाई बेचने पर कुल विक्रयागम (sale proceeds) १० रु० है। इस प्रकार जब दो इकाइयाँ बेची जा रही है, तब सीमान्त आगम ८ रुपया है। अगर तीन इकाइयाँ बेची जा रही हों, तो कुल आगम २१ रु० है और सीमान्त आगम ३ रुपया। अगर चार इकाइयाँ बेची जा रही हो, तो कुल आगम २६ रु० है और सीमान्त आगम ५ रुपया। प्रत्येक अवस्था में सीमान्त आगम एक इकाई अधिक या कम वेचने से कुल आगम में होनेवाले अन्तर को जान कर प्राप्त होता है।

एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सीमान्त और औसत आय में एक निश्चित संबध होता है। जब औसत आय-वक्र (उपभोक्ताओ के दृष्टिकोण से माँग-वक्र) नीचे को गिरता है, तो सीमान्त आगम-वक्र भी नीचे को गिरेगा, पर उसका ढाल पहले की अपेक्षा अधिक प्रवण (steep) होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि औसत आय (अर्थात मूल्य) के, जो कुल आय को बेची गई इकाइयो की संख्या से विभाजित करके मिलता है, अवरोह (fall) से पहले सीमान्त आय में अवरोह होता है। अगर औसत आय-वक्र एक अनुभूमिक सरल रेखा है, अर्थात औसत आय या मूल्य स्थिर है, तो सीमान्त आय भी स्थिर होगी और औसत आय-वक्र एवं सीमान्त आय-वक्र एक ही होगे। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुभूमिक माँग-वक्र के लिए औसत आय सदैव सीमान्त आय के बराबर होती है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ में प्रत्येक फर्म का औसत आय-वक्र x axis के समानान्तर अनुभूमिक सरल रेखा है क्योंकि कोई एक विक्रेता अपने कार्य से वस्तु के विक्रय-मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता। ऐसी दशा में औसत आय सदैव सीमान्त आय के बराबर होगी। पूर्णतः स्पर्द्धी संस्थिति की दशा मे, जो सीमान्त आय और सीमान्त लागत की समानता से दिखाई जाती है, सीमान्त लागत भी मूल्य के बराबर हो जाती है क्योंकि सीमान्त आय और मूल्य हमेशा बराबर होते है। अपूर्ण स्पर्द्धा या एकाधिकार की दशा में प्रत्येक फर्म का औसत आय-वक्र नीचे को गिरता है और सीमान्त आय सदैव औसत आय से कम रहती है। संस्थिति

में सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है, पर मूल्य सीमान्त लागत के बराबर नहीं होता।

सीमान्त आय का संबोध सीमान्त लागत के संबोध के सदृश है, पर इसका उद्भव सीमान्त लागत की अपेक्षा अभिनव है। १६३०–४० के प्रारम्भिक काल में सीमान्त आय का अन्वेषण (invention) होने के कारण आर्थिक विचार अधिक यथार्थ और सुतथ्य हो गए।

औसत और सीमान्त लागत (average and marginal cost). लागत के स्वभाव पर विचार करते समय हम या तो द्राव्यिक लागत को ले सकते हैं या वास्तविक लागत को। द्राव्यिक लागत हमें संस्थिति की दशाओं को सुतथ्यत: जानने तथा उत्पादक की हानि और लाभ जानने में सहायता देती है। किसी उत्पादक का हानि-लाभ औसत लागत और औसत आय की तुलना करने से प्राप्त होता है और प्रत्येक उत्पादक (फर्म) के लिए संस्थिति-बिन्दु सीमान्त लागत और सीमान्त आय की समानता से निर्धारित होता है। अतएव, हमें सीमान्त और औसत लागत के सुतथ्य अर्थ को जानना चाहिए।

औसत लागत, कुल द्राव्यिक लागत को उत्पादित इकाइयों की संख्या से विभाजित करके प्राप्त की जाती है। फर्म के उत्पाद के किसी स्तर पर औसत लागत को उत्पादित इकाइयों की संख्या से गुणा करने पर हम कुल लागत निकाल सकते हैं। इसी प्रकार अगर हम औसत आय (या मूल्य) से बेची गई इकाइयों की संख्या को गुणा करें, तो हम कुल विक्रयागम जान सकते हैं। अगर औसत आगम और औसत लागत बराबर हों, तो कुल लागत और कुल विक्रयागम भी बराबर होंगे और उत्पादकों को न हानि होगी और न लाभ।

उत्पादित इकाइयों की संख्या	प्रति इकाई औसत लागत (रुपयों में)	कुल लागत (रुपयों में)	सीमान्त लागत (रुपयों में)
१	१०	१०	१०
२	८	१६	६
३	६	१८	२
४	७·५०	३०	१२
५	११	५५	२५

सीमान्त आय की भाँति सीमान्त लागत एक इकाई अधिक या कम उत्पादित करने से कुल लागत में होने वाली वृद्धि या कमी है। उपर्युक्त उदाहरण में जब

दो इकाइयों का उत्पादन किया जा रहा है, तब कुल लागत १६ रुपया है और सीमान्त लागत ६ रु० है (अर्थात उत्पाद के इन दो स्तरों पर कुल लागतों का अन्तर, यथा १६—१० रु०)। जब तीन इकाइयों का उत्पादन किया जा रहा है, तब कुल लागत १८ रु० है और सीमान्त लागत २ रुपया और जब पाँच इकाइयों का उत्पादन किया जा रहा है, तब कुल लागत ५५ रुपया है और सीमान्त लागत २५ रुपया।

माँग-वक्र में सीमान्त आय या तो औसत आय के बराबर होती है (जब औसत आय-वक्र अनुभूमिक सरल रेखा होती है), या औसत आय से कम होती है (जब औसत आय वक्र नीचे को गिरता है)। पर सीमान्त लागत या तो (१) औसत लागत के बराबर होगी, अगर औसत लागत-वक्र अनुभूमिक सरल रेखा है; या (२) औसत लागत-वक्र से कम होगी, अगर औसत लागत-वक्र गिर रहा है, जैसा वृद्धिमान प्रतिफल (increasing returns) की दशाओं में होता है; या (३) औसत आय से अधिक होगी, अगर औसत आय-वक्र ऊपर को उठता हुआ है, जैसा ह्रासमान प्रतिफल की दशाओं में होता है। अगर हम एक ऊर्ध्व-बाहु औसत लागत-वक्र (U-shaped average cost curve) लें, जो प्रत्याय की सब दशाओं अर्थात् वृद्धिमान, स्थिर और ह्रासमान, को दिखाता है, तो सीमान्त लागत-वक्र सर्वप्रथम गिरेगा और फिर उठना शुरू होगा और औसत लागत-वक्र को उसके निम्नतम बिन्दु पर काटेगा। यह गणितीय रीति से सिद्ध किया जा सकता है, पर एक साधारण व्याख्या है कि "जब औसत लागत-वक्र गिरता है, तो सीमान्त लागत-वक्र उसके नीचे होता है। समरूपतः, जब औसत लागत-वक्र उठता हुआ होता है, तब सीमान्त लागत-वक्र औसत लागत-वक्र से अधिक होता है। अतएव जब औसत लागत-वक्र का गिरना बन्द हो जाता है, पर उठना शुरू नहीं होता, तब सीमान्त लागत वक्र औसत लागत-वक्र को काटता है, ताकि जब औसत लागत-वक्र का उठना शुरू हो, तब सीमान्त लागत वक्र उसके ऊपर रहे।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त लागत-वक्र औसत लागत-वक्र को उसके न्यूनतम बिन्दु पर क्यों काटता है।

अब हम यह देखेंगे कि औसत लागत-वक्र ऊर्ध्वबाहु (U-shaped) क्यों होता है। फर्म की लागतें दो प्रकार की होती हैं। कुछ लागतें इस अर्थ में अपरिवर्ती या अनुपूरक (fixed or supplementary) होती हैं कि वे उत्पाद की वृद्धि पर नहीं बढ़ती हैं। वे सदैव के लिए एक बार लगाई जाती हैं, जैसे यन्त्रों, प्राविधिक सज्जा, इमारतों, कार्यालय आदि की लागतें। चाहे फर्म अधिक इकाइयों का उत्पादन करे या कम का या बिल्कुल न करे, ये लागतें लगानी ही पड़ेंगी और ये न्यूनाधिक

स्थिर रहती हैं। पर जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, प्रति इकाई ये लागतें कम होती जाती हैं। चित्र ४ में वक्र FC प्रति इकाई अपरिवर्ती लागत दिखाता है। जैसा चित्र से स्पष्ट है, उत्पादन के बढ़ने पर प्रति इकाई अपरिवर्ती लागत कम होती जाती है। फर्म की कुल लागतें प्राथमिक या परिवर्ती (prime or variable) होती हैं। ये लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ बढ़ती हैं, जैसे श्रम, कच्चा माल, रसायनिकों आदि की लागतें। अगर अधिक इकाइयों का उत्पादन किया जाता है, तो अधिक श्रम, अधिक कच्चे माल तथा अधिक शक्ति का उपयोग करना होगा और लागतें बढ़ जाएँगी। अगर केवल एक या दो फर्में अधिक उत्पादन करती हैं, तो यह संभव है कि अन्य संकोचनशील फर्मों में उपयोग किए जाने वाले श्रम, कच्चे माल आदि का उपयोग ये फर्में करने लगें और इसलिए प्रति इकाई परिवर्ती लागत में वृद्धि न हो। पर अगर हम पूरे उद्योग पर विचार करें, तो अधिक उत्पादन के कारण श्रम, कच्चे माल, रसायनिकों आदि की माँग बढ़ जाएगी और चूँकि बाजार में इनकी पूर्ति स्थिर है, इसलिए इनके मूल्य बढ़ जाएँगे। फलस्वरूप प्रत्येक फर्म की प्रति इकाई परिवर्ती लागत बढ़ जाएगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्र ४ में परिवर्ती लागत दिखाने वाला वक्र VC उत्पाद के बढ़ने पर क्यों ऊपर को उठता है। उत्पादन की औसत लागत दिखाने वाला वक्र AC इन दो वक्रों FC और VC को जोड़ने से प्राप्त होता है। औसत लागत-वक्र का निम्नतम बिन्दु उस स्थान पर होता है, जहाँ ह्रासमान प्रति इकाई अपरिवर्ती लागत वृद्धिमान प्रति इकाई परिवर्ती लागत के बराबर होती है। ऊर्ध्वबाहु औसत लागत-वक्र
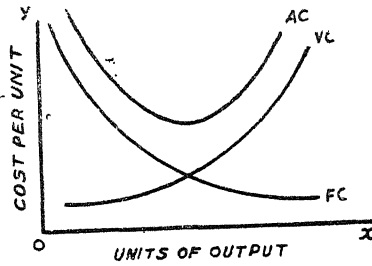
चित्र ४

वृद्धिमान, स्थिर और ह्रासमान प्रतिफल की दशाओं में फर्म की लागत की दशाओं का पूरा वर्णन करता है। सर्वप्रथम, वृद्धिमान प्रतिफल मिलता है क्योंकि औसत अपरिवर्ती लागत के घटने की दर औसत परिवर्ती लागत के बढ़ने की दर की अपेक्षा अधिक है। औसत लागत-वक्र AC के निम्नतम बिन्दु के बाद औसत परिवर्ती लागत के बढ़ने की दर औसत अपरिवर्ती लागत के घटने की दर से अधिक है। इस प्रकार हमें ह्रासमान प्रत्याय या वृद्धिमान औसत लागत की दशाएँ मिलती हैं। औसत लागत-वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्थिर प्रतिफल या स्थिर प्रति इकाई उत्पाद की लागत की दशाएँ हैं और इस बिन्दु पर औसत परिवर्ती लागत के

बढ़ने की दर औसत अपरिवर्ती लागत के घटने की दर के बराबर है। फलस्वरूप उस स्थान पर स्थिर लागत की दशाएँ हैं।

अवसर लागत (opportunity cost). अब तक हमने उत्पादन की द्राव्यिक लागतों पर विचार किया। सब व्यावहारिक समस्याओं के लिए ये ही महत्वपूर्ण हैं। पर द्राव्यिक लागतों पर विचार करते समय यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि लागत अन्ततः मूल्य निर्धारित करती है या मूल्य अन्ततः लागत निर्धारित करता है। साधारणतः यह प्रतीत होता है कि द्राव्यिक लागतें मूल्य निर्धारित करती हैं—अगर किसी वस्तु के उत्पादन की लागत १० रुपया है तो पूर्ण स्पर्धा की दशाओं में उसका मूल्य १० रुपया होगा। पर इतनी ही शुद्धता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि वस्तुतः १० रुपया लागत १० रुपया आशंसित (expected) मूल्य के द्वारा निर्धारित की गई। अगर उत्पादक को मूल्य के १० रुपया होने की आशंसा न होती, तो वह अग्रे (in advance) १० रु० लागत नहीं लगाता। अतएव अन्त्य विश्लेषण में यह बताना कठिन है कि लागत मूल्य को निर्धारित करती है या मूल्य लागत को। यह कठिनाई उसी प्रकार की कठिनाई है जैसे यह तय करने की कि बीज से पेड़ उत्पन्न होता है या पेड़ से बीज, या अंडा पहले था कि मुर्गी।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या का हल निकालने का प्रयत्न यह कह कर किया कि अन्ततः मूल्य द्राव्यिक लागत पर आश्रित नहीं रहता बल्कि वास्तविक लागत पर निर्भर करता है। वास्तविक लागत से उनका तात्पर्य उत्पादन के लिए किये जाने वाले कष्ट और त्याग से था। मेज का मूल्य कुर्सी से दूना होने का कारण यह है कि मेज बनाने में कुर्सी बनाने का दूना कष्ट और त्याग उठाना पड़ता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य होने का कारण यह है कि उस वस्तु को बनाने में त्याग और कष्ट उठाना पड़ता है। किसी वस्तु का मूल्य उसको बनाने में किए गए त्याग और कष्ट का अनुपाती (proportional) होता है। निःशुल्क पदार्थों का, यथा पानी, वायु, धूप आदि, कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि इनके उत्पादन में किसी प्रकार का त्याग और कष्ट नहीं उठाना पड़ता। दूसरी ओर, कार, रेडियो, किताबों आदि का मूल्य होता है क्योंकि उन्हें बनाने में त्याग और कष्ट सहना पड़ता है। अतएव वास्तविक लागत वह त्याग या कष्ट है जो किसी वस्तु को बनाने में और सेवा को देने में उठाना पड़ता है।

यह त्याग और कष्ट उन श्रमिकों का है जो वस्तुओं का उत्पादन करने में काम करते हैं और उनके माता-पिताओं का है जो उन्हें पालते-पोसते हैं। पूँजी-

पत्तियों का त्याग या कष्ट परिवर्जन (abstinence) या प्रतीक्षा करने म है। चूँकि भूमि ईश्वर-दत्त उपहार है, जिसके लिए कोई त्याग या कष्ट नः करना पड़ता, इसलिए भूमि को दिया जाने वाला प्रतिफल, अधिशेष (rent, क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार मूल्य-निर्धारण में भाग नहीं लेता। मूल्य निर्धारण करने के लिए किसी वस्तु के उत्पादन के सब त्याग और कष्ट को जोड़ दिया जाता है। इस उपगमन विधि के विरुद्ध कई आपत्तियाँ हैं :

(१) हम कष्ट और सुख की यथार्थ प्रकृति नहीं जानते। इनका परिमाप नापा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त, यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक श्रम, जिसके लिए शोधन (payment) किया जाता है, कष्टदायक है। संगीतज्ञ, कलाकार या अध्यापक का कार्य, वास्तव में, कष्टदायक न होकर सुख देने वाला हो सकता है। इन स्थानों पर काम करने वाले व्यक्तियों को दुःख के बदले सुः मिल सकता है। वस्तुतः आलस्य श्रम से अधिक पीड़ाकर हो सकता है।

(२) यदि पीड़ा और त्याग अन्ततः मूल्य निर्धारित करते हैं, तो यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों का शोधन, जो द्राव्यिक लागतों को संघटित करता है, उत्पादन में होने वाली पीड़ा और त्याग का अनुपाती हो। पर ऐसा हमेशा नहीं होता। उदाहरणार्थ कुलियों, खनिकों, संमार्जकों (scavengers) आदि का शोधन उनके कार्य की पीड़ा और त्याग की अपेक्षा कहीं कम होता है। दूसरी ओर, सिनेमा-अभिनेत्रियों, प्रशासी अधिकारियों, नर्तकों आदि को इनके कार्य के त्याग और पीड़ा की तुलना में कहीं अधिक शोधन किया जाता है। अगर उत्पादन के साधनों का शोधन, और इसके फलस्वरूप द्राव्यिक लागत, पीड़ा और त्याग का अनुपाती नहीं है, तो मूल्य किस प्रकार पीड़ा और त्याग के अनुपात में हो सकता है?

अतएव आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने पीड़ा और त्याग के इस बन्धन को दिया है। आधुनिक अर्थशास्त्र में वास्तविक लागत अवसर-लागत या 'परित्य विकल्प' है। अन्त्य दृष्टिकोण से मेज बनाने की वास्तविक लागत उसे बना की पीड़ा और त्याग नहीं है, बल्कि यह तथ्य है कि मेज बनाने के कारण हम, मान लीजिए, एक दरवाजा, जो उन्हीं संसाधनों से बनाया जा सकता था जिनसे मेज बनाया गया, नहीं बना सकते। कुली के काम करने की लागत कार्य में किया जाने वाला त्याग या पीड़ा नहीं है, बल्कि यह है कि कुली कोई दूसरा क जैसे खेतिहर मजदूर, नहीं कर सकता। 'परित्यक्त विकल्प' (forego alternative) या 'खोया हुआ अवसर' मूल्य की घटना की मूलाधार व्याख्या करता है। यही अवसर-लागत या परित्यक्त विकल्प दुर्लभता,

अध्याय ५

संस्थिति का सिद्धान्त

(The Equilibrium Concept)

आधुनिक अर्थशास्त्र पर संस्थिति-विश्लेपण[1] (equilibrium analysis) के रूप में विचार किया जाता है। सर्वप्रथम उन दशाओं का वर्णन किया जाता है जो संस्थिति की स्थिति में प्रवर्तमान (prevail) होती हैं और तत्पश्चात् हम वास्तविकता का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार हम यह जानना चाहते हैं कि विद्यमान दशाओं में और उन दशाओं में जिनकी आशंसा संस्थिति में की जाती है, क्या अन्तर है। इस तुलना के आधार पर हम संस्थिति को प्राप्त करने की रीतियाँ जान सकते हैं।

संस्थिति का अर्थ (meaning of equilibrium). आर्थिक तर्क के आधार को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम संस्थिति के बारे में स्पष्ट रूप से समझें और उन दशाओं को जानें जिनमें संस्थिति प्राप्त होती है। संस्थिति का विचार भौतिक विज्ञानों से लिया गया है। इनमें संस्थिति का अर्थ दशा है जिसमें दो बराबर और विपरीत बल एक दूसरे का विलोपन (cancel) कर देते हैं और इस प्रकार वस्तु स्थिर रहती है। अर्थशास्त्र में हम माँग तथा पूर्ति पर विचार करते हैं और इन्हें विपरीत दिशाओं में कार्य करने वाला बल माना जा सकता है। माँग और पूर्ति के बराबर होने पर संस्थिति की दशा उत्पन्न होगी। इस संबंध में दो बहुत महत्वपूर्ण बातें ये हैं :—

(१) माँग और पूर्ति किसी मूल्य पर बराबर हो सकती हैं। अतएव, संस्थिति किसी मूल्य पर प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक बाजार में संस्थिति पर विचार करते हैं जहाँ केवल एक वस्तु और उसका केवल एक मूल्य होता है। संस्थिति तब प्राप्त होती है जब किसी मूल्य पर माँग और पूर्ति बराबर होते हैं। हम इससे अधिक जटिल दशाओं पर भी विचार कर सकते हैं; जैसे जब परस्पर-संबन्धित मूल्य होते हैं और एक बाजार में विविध वस्तुओं की माँग पूर्ति की जाती है। यहाँ भी, यद्यपि मूल्य परस्पर-संबन्धित है, हम प्रत्येक वस्तु की माँग और पूर्ति किसी विशेष मूल्य पर सोचते हैं।

---

१. 'संस्थिति' को 'संतुलन' भी कहा जाता है।

यदि एक वस्तु पर एक समय में सोचने के स्थान पर हम समस्त (aggregate) पर विचार करते हैं, तो हम किसी दी हुई राष्ट्रीय आय पर बचत और विनियोग के बराबर होने के रूप में संस्थिति पर विचार कर सकते हैं। लोग अपनी द्राव्यिक आय का या तो उपभोग करते हैं या उसे बचा लेते हैं। यदि हम समस्त पर विचार करते हैं, तो द्रव्य में राष्ट्रीय आय आवश्यक रूप से सेवाओं और वस्तुओं की कुल प्रदा (output) के बराबर होगी। द्राव्यिक आय के स्थान पर पदार्थों की कुल प्रदा पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि ये पदार्थ या तो उपभोग-पदार्थ हो सकते हैं या विनियोग पदार्थ। इस प्रकार

$$Y = C + S$$

या, कुल प्रदा $= C' + I$

यहाँ Y द्रव्य में राष्ट्रीय आय, C उपयुक्त द्रव्य-आय और S बचाई गई द्रव्य-आय है तथा C' उपभोग-पदार्थों की प्रदा और I विनियोग-पदार्थों की प्रदा है। समस्त के रूप में देखने से द्रव्य के रूप में राष्ट्रीय आय (Y) कुल प्रदा के बराबर होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि $S = I$। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के किसी स्तर पर बचत, विनियोग के बराबर होती है।

(२) संस्थिति की कल्पना सदैव समय की अवधि के रूप में की जाती है। जब हम किसी मूल्य पर माँग और पूर्ति की बराबरी या राष्ट्रीय आय के किसी स्तर पर बचत और विनियोग की बराबरी की सोचते हैं तब हमें समय के किसी क्षण या अल्पकाल या दीर्घकाल को भी सोचना पड़ता है। यह हो सकता है कि वही संस्थिति समय के साथ चलती रहे, पर कुछ अन्य स्थितियों में, संस्थिति के दिए हुए क्षण के बाद नहीं भी चल सकती और दशाओं के बदल जाने पर एक नई संस्थिति प्राप्त हो सकती है। जैसा हम अभी देखेंगे, स्थैतिक दशाओं (static conditions) में संस्थिति का समय में विस्तार होता है (extends over time) अर्थात् संस्थिति की वही दशाएँ समय के एक क्षण में, अल्पकाल और दीर्घ काल में प्राप्त होती हैं; पर प्रवैगिक दशाओं (dynamic conditions) में संस्थिति समय के एक क्षण में या अति अल्पकाल में हो सकती है। दशाओं के बदल जाने पर एक नई संस्थिति प्राप्त होगी। इन स्थितियों में हमें समय पर विचार करना पड़ता है और संस्थिति को समय से स्वतंत्र नहीं किया जा सकता।

यदि हम फर्म या उद्योग की संस्थिति पर विचार करें, तो हम इसे दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि संस्थिति वह दशा है जिसमें उत्पाद का प्रसार या संकोचन करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं होती। जब हम उद्योग की संस्थिति पर सोचते हैं तो हम कहते हैं कि किसी विशेष मूल्य पर वस्तु की कुल माँग उसकी कुल

पूर्ति के बराबर है। पर किसी उद्योग में वस्तु की कुल पूर्ति उस उद्योग की विभिन्न फर्मों के उत्पाद से बनती है। यदि विभिन्न फर्में प्रसार या संकोचन कर रही हों, तो वस्तु की कुल पूर्ति स्थिर नहीं रह सकती। इसलिए हम कहते हैं कि संस्थिति में फर्मों (या उत्पादकों) द्वारा उत्पाद का प्रसार या संकोचन करने की कोई प्रवृत्ति नहीं होगी। पर, जैसा हम प्रतिनिधि फर्म के अध्याय में देखेंगे, कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने उद्योग की संस्थिति की कल्पना उस दशा में भी की है जब कुछ फर्में प्रसार और कुछ संकोचन कर रही हों। बशर्ते समय के किसी क्षण में प्रसारी फर्मों (expanding firms) का प्रसार संकोची फर्मों (contracting firms) के संकोचन के बिलकुल बराबर हो।

क्या संस्थिति प्राप्त की जा सकती है? कुछ व्यक्तियों ने संस्थिति-विश्लेषण की समालोचना इस आधार पर की है कि संस्थिति वास्तविक दुनिया में कभी नहीं मिलती। उनका कहना है कि कृत्रिम दशाओं के अध्ययन का कोई लाभ नहीं है। उनके मतानुसार संस्थिति की दशाओं में, जो कभी प्राप्त नहीं होतीं, क्या होगा इसका वर्णन करना बेकार है। पर ये समालोचनाएँ सार-पूर्ण नहीं हैं क्योंकि:

(१) यद्यपि यह सच है कि समय के किसी क्षण में वास्तविक दुनिया की दशाएँ यथार्थ रूप से अर्थशास्त्रियों द्वारा वर्णित दशाओं के समान नहीं होतीं, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं है कि संस्थिति की ओर सदैव प्रवृत्ति रहती है। यदि आर्थिक न्यास पर्याप्त अवधि तक अपरिवर्तित रहें, तो संस्थिति वास्तव में प्राप्त हो सकती है। अतएव, संस्थिति की दशाओं का मनसेक्षण (visualize) करना और तत्पश्चात् यह जानना कि वास्तविक दुनिया की संस्थिति की ओर कितनी प्रवृत्ति है, पूर्णतः वैध है। यदि वास्तविक दुनिया में संस्थिति की ओर प्रवृत्ति तक न होती तो संस्थिति की दशाओं का अध्ययन बेकार होता।

(२) वास्तव (reality) में संस्थिति कभी-कभी किसी मूल्य पर कुल माँग और कुल पूर्ति के बराबर होने के अर्थ में प्राप्त होती है। वास्तविक कठिनाई यह है कि किसी विशेष मूल्य पर कुल माँग और कुल पूर्ति की यह बराबरी केवल अति अल्प काल में रहती है और आर्थिक व्यवस्था में कार्य करने वाली कई जटिल शक्तियों से अलग करके स्पष्टतः नहीं जानी जा सकती। क्षण मात्र में संस्थिति प्राप्त होती है और नष्ट हो जाती है और फिर प्राप्त होती है। यह क्रम चलता रहता है। स्थैतिक विश्लेषण में हम संस्थिति की दशाओं का अध्ययन ऐसे करते हैं मानो कि वे स्थायी हैं और सदैव चलती रहेंगी। हम मान लेते हैं कि जिन शक्तियों के कारण संस्थिति होती है, वे स्थिर और अपरिवर्तित रहती हैं, पर वास्तविक दुनिया में ये शक्तियाँ स्थिर नहीं रहतीं और संस्थिति स्थायी नहीं

होती। यदि किसी प्रकार माँग और पूर्ति को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ स्थिर रखी जा सकें, तो संस्थिति बनी रहेगी।

(३) केवल अर्थशास्त्र में ही नहीं, बल्कि सब मानव व्यवहारों में हम संस्थिति-दशाओं के वर्णन का मनसेक्षण करते हैं। हम पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण सत्य, पूर्ण शुचिता का मनसेक्षण करते हैं, यद्यपि ये वास्तविक संसार में कहीं नहीं मिलते। जो कुछ हम वास्तव में पाते हैं वह सौन्दर्य, सत्य और शुचिता का लेशमात्र है। पर यदि हम पूर्ण सौन्दर्य, पूर्ण सत्य और पूर्ण शुचिता का मनसेक्षण न करें, तो हम यह नहीं बता सकते कि किसी व्यक्ति में ये कितनी मात्रा में हैं। क्योंकि वास्तविक दुनिया में पूर्ण सौन्दर्य नहीं है, इसलिए हम यह नहीं कहते कि सौन्दर्य का संबोध बेकार है। समरूपतः यद्यपि संस्थिति की दशाएँ वास्तविक दुनिया में नहीं मिलतीं, हमें यह नहीं कहना चाहिए कि संस्थिति की दशाओं का अध्ययन अनुपयोगी और व्यर्थ है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दशाओं के एक दिए हुए कुलक (set) में संस्थिति के प्राप्त होने की आशंका की जाती है। यदि वह वास्तव में प्राप्त होता है, तो इसमें आश्चर्यजनक या न्याय्य कुछ नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि यदि संस्थिति प्राप्त होती है तो अच्छा है और यदि संस्थिति प्राप्त नहीं होती तो कुछ बुरा है। यही रॉबिन्स (Robbins) के इन कथनों का कि 'संस्थिति केवल संस्थिति है' और 'संस्थिति के चारों ओर समनुमोदन की कोई आच्छाया नहीं है'[१] अन्तर्निहित अर्थ है कि संस्थिति विश्लेषण का उद्देश्य कार्य-कारण के संबंध का विश्लेषण करना है, यह बताना नहीं कि क्या अच्छा है और क्या बुरा।

निगमन और आगमन रीतियाँ (deductive and inductive methods). आर्थिक विश्लेषण में हम निगमन रीति[२] या आगमन रीति[३] का उपयोग कर सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि संस्थिति की दशाओं में वस्तु-स्थिति का वर्णन करने अर्थात आर्थिक नियमों का व्युत्पादन (derive) करने के लिए हम निगमन या आगमन रीतियों का उपयोग कर सकते हैं।

निगमन रीति में हम मानव-व्यवहार के सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्तों से अर्थशास्त्र के विशेष नियमों को निकालते हैं। कार्य-कारण संबंध जानने के लिए

१. "There is no penumbra of approbation round the theory of equilibrium. Equilibrium is just equilibrium."

२. इस रीति के अन्य नाम तथा अन्य विचर (variants) हैं : विश्लेषणात्मक, निगम्य, वैज्ञानिक और गणितात्मक।

३. इसमें ऐतिहासिक, प्रायोगिक और सांख्यिकीय रीतियाँ सम्मिलित हैं।

हम तर्क का उपयोग करते हैं। मानव-व्यवहार के बारे में सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्तों के उदाहरण हैं: मानव-जाति विवेकशील होती है और दी हुई दशाओं के कुलक में मानव अपनी संतुष्टि को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है, मानव स्वार्थ द्वारा प्रेरित होता है, मानवीय आवश्यकताएँ तृप्य (satiable) हैं, आदि। मानवीय आवश्यकताओं के तृप्य होने के सिद्धान्त को लीजिए। इसके आधार पर हम तर्क करते हैं कि किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ कम संतोष देंगी क्योंकि यदि एक व्यक्ति किसी वस्तु की कुछ इकाइयाँ लेता है, तो उसकी आवश्यकता का कुछ भाग संतुष्ट हो जायगा और शेष आवश्यकता पहले से कम तीव्र होगी। क्योंकि संतोष आवश्यकता की तीव्रता पर आश्रित रहता है, इसलिए अतिरिक्त इकाई से कम संतोष मिलेगा। किसी वस्तु के लिए किया जाने वाला शोधन (payment) संतोष पर आश्रित होता है, इसलिए वह वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों के लिए कम शोधन करेगा। ऐसे हमें माँग का नियम मिलता है, जिसके अनुसार अन्य दशाओं के समान रहने पर अतिरिक्त इकाइयाँ कम मूल्य पर बिकेंगी। इस प्रकार निगमन रीति में हम मानव-स्वभाव से संबंधित 'सामान्य' सिद्धान्त से 'विशेष' माँग का नियम निकालते हैं।

आगमन रीति द्वारा आर्थिक नियमों का आविष्कार (discover) करने में हम वास्तविक दशाओं का अध्ययन, प्रयोग करके या सांख्यिकीय समंकों का संग्रहण करके करते हैं। इस रीति में हम 'विशेष' से 'सामान्य' की ओर जाते हैं। मान लीजिए हम बाजार में प्रत्येक विक्रेता से पूछ कर यह जानते हैं कि वह १० रु० मूल्य पर किसी वस्तु की कितनी राशि बेचता है। इन सब राशियों को जोड़ने पर कुल राशि ३,००० इकाई आती है। जब मूल्य ८ रु० प्रति इकाई हो जाता है, तो कुल राशि ३,६०० इकाई हो जाती है और जब मूल्य और गिरकर ६ रु० प्रति इकाई हो जाता है, तो कुल राशि ४,००० इकाई हो जाती है। यह क्रम चलता रहता है। इससे हमें माँग का नियम मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वही नियम निगमनतः (deductively) और आगमनतः (inductively) निकाला जा सकता है।

एक समय था जब अर्थशास्त्री निगमन रीति का पक्ष लेते थे और यह सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। पर बाद में आगमन रीति अधिक प्रबल हो गई। अब यह विवादास्पद नहीं है कि कौन रीति श्रेष्ठ है क्योंकि यह स्पष्टतः स्वीकार किया जाता है कि दोनों रीतियाँ उपयोगी हैं और वास्तव में एक दूसरे का अनुपूरण (supplement) करती हैं। कुछ समस्याओं के लिए निगमन रीति अधिक सुविध और सुगम है तथा कुछ के लिए आगमन रीति अधिक अच्छी सिद्ध होती

है। यदि हम अपने को किसी एक रीति तक सीमित रखें तो परिणाम संतोषः जनक नहीं हो सकते।

तुलना. निगमन रीति इस अर्थ में अधिक सरल और सुगम है कि कुछ सिद्धान्तों के आधार पर और तर्क की सहायता से हम उन परिणामों को प्राप्त कर सकते हैं जो वास्तविक स्थितियों का अध्ययन करके प्राप्त नहीं किए जा सकते क्योंकि वे जटिल और अन्तर्ग्रस्त (involved) होती हैं। पर निगमन रीति में इस बात का भय रहता है कि अगर हमारे क्षेत्र से संबंधित सामान्य सिद्धान्त सत्य नहीं हैं तो जो निष्कर्ष हम निकालते हैं वे गलत या केवल अंशतः लागू होगे। दूसरे शब्दो में, हमारे निष्कर्षों की शुद्धता इस बात पर आश्रित है कि सामान्यत: स्वीकृत सिद्धान्त हस्तगत समस्या के लिए कहाँ तक लागू हैं।

आगमन रीति इस अशुद्धि का परिहरण करती है क्योंकि हम वास्तविक दशाओं का अध्ययन करते हैं और अयथार्थिक परिकल्पनाओं (unrealistic assumptions) के आधार पर निष्कर्ष निकालने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर वास्तवता बहुत जटिल होती है और उसका सच्चा चित्रण करने के योग्य होने के लिए हमें विस्तृत क्षेत्र पर विचार करना पड़ता है तथा बहुत सामग्री जमा करनी होती है। यह अधिकांश लोगो की सामर्थ्य से बाहर हो सकता है। आगमन रीति में जो कुछ संभव है वह निदर्शन सर्वेक्षण (sample survey) है। इसमें हम निदर्शन के आधार पर विषय के एक भाग का अध्ययन करते हैं और इस आंशिक अध्ययन से सम्पूर्ण विषय के संबन्ध में निष्कर्ष निकालते हैं। यदि हम निदर्शन में या सामग्री-संग्रहण में गलती करते हैं, तो निष्कर्ष अवश्यमेव गलत होगे। कभी कभी ये गलतियाँ आगमनतः प्राप्त निष्कर्षों का निगमन तर्क द्वारा सत्यापन (verify) करके ठीक की जा सकती हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थिक तर्क के लिए निगमन और आगमन, दोनों, रीतियो की आवश्यकता पड़ती है और वे एक दूसरे का अनुपूरण करती हैं। जैसा बताया जा चुका है, माँग के नियम का निगमनतः व्युत्पादन किया जा सकता है और तत्पश्चात् बाजार के निदर्शन सर्वेक्षण द्वारा उसका सत्यापन किया जा सकता है। विकल्पत:, हम प्रयोग के आधार पर माँग का नियम निकाल सकते हैं और इसके बाद निगमन रीति द्वारा उसकी परीक्षा कर सकते हैं।

स्थैतिक और प्रवैगिक रीतियाँ (static and dynamic methods). आर्थिक नियमो का निगमन या आगमन तर्क की सहायता से व्युत्पादन करते समय हमें प्रवर्तमान दशाओ के बारे में कुछ परिकल्पनाएँ करनी

पड़ती हैं। जिन दशाओं में इन आर्थिक नियमों का व्युत्पादन किया जाता है, उनसे निष्कर्षों में महत्वपूर्ण अन्तर आ जाता है। हम आर्थिक घटनाओं का स्थैतिक या प्रवैगिक दशाओं में अध्ययन करते हैं।

स्थैतिक दशाओं में 'विश्रामस्थ' (at rest) आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करते हैं। इसमें विभिन्न शक्तियों में, जैसे मानवी रुचियाँ, आय और पदार्थों के मूल्य, श्रम और पूँजी की पूर्ति तथा संगठन क्षमता, औद्योगिक संगठन के आकार और ज्ञान आदि में, परिवर्तन नहीं होता। इन स्थैतिक दशाओं में हम जिस रीति को अपनाते हैं उसे स्थैतिक रीति कहा जाता है और हम जो निष्कर्ष निकालते हैं वे स्थैतिक होते हैं और इन परिकल्पनाओं के अन्तर्गत स्थैतिक संस्थिति की दशाओं का अध्ययन करते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर, स्थैतिक अध्ययन में हम उन जटिलताओं को हटा देते हैं जो अर्थशास्त्र में काल का विचार करने से आती हैं। फलस्वरूप स्थैतिक सिद्धान्त अधिक सुगम होते हैं और हमारे निष्कर्ष अधिक सुतथ्य और सुरूप हो जाते हैं। पर, क्योंकि वास्तव में ये विभिन्न शक्तियाँ स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं रहतीं, इसलिए स्थैतिक सिद्धान्त के निष्कर्ष अत्यन्त अयथार्थिक (unrealistic) हो जाते हैं।

'प्रवैगिक' संस्थिति में हम उन सब जटिलताओं को आने देते हैं जो अर्थशास्त्र में समय का उपयोग करने के कारण उत्पन्न होती हैं। हम आर्थिक व्यवस्था के व्यवहार का अध्ययन तब करते हैं जब मानवी रुचियाँ, आय और उत्पादन के साधनों की पूर्ति तथा मूल्य, औद्योगिक संगठन के आकार, वैज्ञानिक ज्ञान आदि बदलते रहते हैं। ऐसा अध्ययन स्वभावतः अधिक जटिल हो जाता है। हमारे निष्कर्ष कम सुतथ्य और कम सुरूप हो जाते हैं, पर वे अधिक यथार्थिक होते हैं।

स्थैतिक और प्रवैगिक दशाओं के अन्तर का मनसेक्षण दो प्रकार से किया गया है। इंग्लैंड के अर्थशास्त्रियों ने सामान्यतः 'साधनों के प्रवाह की दर' (rate of flow of resources) के रूप में व्यक्त किया है। स्थैतिक दशा वह है जिसमें साधनों के प्रवाह की 'दरें' स्थिर रहती हैं। प्रवैगिक दशाओं में साधनों के प्रवाह की 'दर' बदलती रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थैतिक दशाओं में, उदाहरणार्थ, समय की प्रति इकाई वृत्ति (employment) के लिए प्रस्तुत श्रमिकों की संख्या स्थिर रहती है, यद्यपि कुछ लोग मरते और कुछ बच्चे जन्मते रहते हैं। दूसरी ओर, प्रवैगिक दशाओं में प्रत्येक अवधि में वृत्ति के लिए प्रस्तुत किसी विशेष प्रकार के श्रमिकों की संख्या बदलती है। किसी दिन श्रमिकों की संख्या ३००, तो किसी दिन ३५० और किसी दिन ४०० इत्यादि हो सकती है।

स्थैतिक और प्रवैगिक दशाओं के अन्तर का मनसेक्षण दूसरे प्रकार से

जे० बी० क्लार्क (J.B. Clark) और अन्य यूरोपीय अर्थशास्त्रियों की भाँति किया जा सकता है। इसके अनुसार स्थैतिक दशा में ऐसी चीजें, जैसे जनसंख्या, पूँजी की पूर्ति, आवश्यकताओं की संहति (system), औद्योगिक संगठन के आकार, वैज्ञानिक ज्ञान और प्रविधि, स्थिर और दी हुई होती हैं। प्रवैगिक दशाएँ तब होती हैं, जब ये बदलते रहते हैं। वस्तुतः भेद करने के ये प्रकार एक समान हैं, पर संभवतः अंग्रेज अर्थशास्त्रियों की रीति अधिक यथार्थिक है क्योंकि इसमें परिवर्तन के स्थान पर, परिवर्तन की दर पर बल दिया गया है।

यदि हम परिवर्तन की दर पर विचार करते हैं और यह स्थिर है, तो हमें दशाओं का एक कुलक (set) मिलता है जिन्हें स्थैतिक दशाएँ कहते हैं और यदि हम पाते हैं कि स्वयं परिवर्तन की दर परिवर्तित हो रही है, तो हमें प्रवैगिक दशाएँ मिलती हैं। साधनो के प्रवाह की दर के परिवर्तनों का मनसेक्षण वि रूप से किया जाता है। श्री आर० एफ० हेरॉड उस अर्थ-व्यवस्था को प्रवैगिक कहते हैं, जिसमें 'प्रदा की दरें बदल रही हैं' और जिसमें प्रदा की दरें स्थिर हो उसे वे स्थैतिक दशा कहते हैं। जे० आर० हिक्स[1] (J. R. Hicks) के अनुसार "आर्थिक स्थैतिकी (economic statics) में आर्थिक सिद्धान्त के उन भागो का समावेश होता है जिनमें हम दिनांकन (dating) नहीं करते; और आर्थिक प्रवैगिकी (economic dynamics) में वे भाग हैं जिनमें प्रत्येक राशि अवश्य दिनांकित (dated) करनी पड़े। उदाहरणार्थ, आर्थिक स्थैतिकी में हम एक साहसोद्यमी पर विचार करते हैं जो साधनो की अमुक राशि को वृत्ति देता है और उनकी सहायता से उत्पाद की अमुक राशि का उत्पादन करता है; पर हम यह नहीं पूछते कि कब साधनों को वृत्ति दी गई और कब उत्पाद तैयार हुआ। आर्थिक प्रवैगिकी में हम ऐसे प्रश्न पूछते हैं और हम इस बात पर विशेष ध्यान भी देते हैं कि इन दिनांको के परिवर्तन साधनों और उत्पादों के सम्बन्धो को किस प्रकार प्रभावित करते है"। प्रवैगिक दशाओं का मनसेक्षण करने की एक अधिक यथार्थ और, साथ ही साथ, अधिक कठिन रीति राग्नार फ्रिश् (Ragnar Frisch) ने सुझाई है। इनके अनुसार प्रवैगिक दशाएँ वे हैं जब "हम समय के विभिन्न क्षणो में कुछ चलों के परिमाण पर विचार करते हैं, और हम कुछ समीकारों को पुनःस्थापित करते हैं जो एक ही समय विभिन्न क्षणों वाले इन परिमाणो में से कई को

1. Economic statics covers "those parts of economic theory where we do not trouble about dating; economic dynamics those parts where every quantity must be dated" Value and Capital, p. 115.

अन्तर्निहित करते हैं।"[1] चाहे हम किसी प्रकार से प्रवैगिक दशाओं का मनसेक्षण करें, वे आर्थिक तर्क में अनेक कठिनाइयों का सर्जन करती हैं और अंशतः इसीलिए प्रवैगिक संस्थिति के सिद्धान्त ने अधिक उन्नति नहीं की है और इस विषय पर जो भी कार्य हुआ है वह इतने कठिन गणितीय रूप में व्यक्त किया गया है कि अर्थशास्त्र का साधारण विद्यार्थी संभवतः उसे समझने की आशा नहीं कर सकता। स्थैतिक और प्रवैगिक का विचार प्रथमतः भौतिक विज्ञानों से लिया गया था; पर अब आर्थिक साहित्य में इनके अपने अर्थ हैं और आजकल आर्थिक स्थैतिकी और आर्थिक प्रवैगिकी के भेद में और "भौतिक विज्ञानो के स्थैतिकी और प्रवैगिकी के भेद में अधिक समानता नहीं है।"

सामान्य और आंशिक संस्थिति (general and partial equilibrium). हम आर्थिक नियमों को निकालने या किसी समय प्रवर्तमान आर्थिक दशाओं का अध्ययन करने में सामान्य संस्थिति रीति या आंशिक संस्थिति रीति की सहायता लेते हैं।

बाजार में विभिन्न मूल्य परस्पराश्रित होते हैं और एक मूल्य के परिवर्तन सब मूल्यों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि गेहूँ का मूल्य बढ़ जाय, तो न केवल गेहूँ की माँग बढ़ेगी बल्कि बाजार में सब वस्तुओं के मूल्य, माँग और पूर्ति पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि गेहूँ अधिक महँगा हो जायेगा, इसलिए उसके स्थान पर अन्य खाद्यान्न या खाद्यपदार्थ प्रतिस्थापित कर दिए जाएँगे और इस प्रकार उनके मूल्य बढ़ जाएँगे। साथ ही, गेहूँ के मूल्य के परिवर्तन गेहूँ के उत्पादकों की आय और इनके द्वारा उनके व्यय निर्धारित करते हैं। गेहूँ के मूल्य के परिवर्तन श्रमिकों के निर्वाह व्यय और इसके द्वारा उद्योग के उत्पादन की लागत और परिणामतः अन्य वस्तुओं के पूर्ति मूल्य निर्धारित करते हैं। गेहूँ के मूल्य में होने वाला कोई परिवर्तन लोगों के निर्वाह व्यय और परिणामतः उनके आय-व्यय को प्रभावित करता है। इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट है कि गेहूँ के मूल्य में होने वाला कोई परिवर्तन बाजार में अन्य वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित करता है। फिर, मूल्य के परिवर्तन माँग-पूर्ति की दशाओं को प्रभावित करते हैं और माँग-पूर्ति की दशाएँ मूल्य को प्रभावित करती हैं। वास्तविक व्यवहार में विभिन्न वस्तुओं की माँग, पूर्ति और मूल्य विविध प्रकार से एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं। यदि हम एक साथ सब वस्तुओं के मूल्य,

---

1. Dynamic conditions are those when "we consider the magnitudes of certain variables in different points of time, and we introduce certain equations which embrace at the same time several of these magnitudes belonging to different instants".

माँग और पूर्ति के परस्पराश्रित परिवर्तनों का अध्ययन करें और विभिन्न वस्तुओं के उन मूल्यों को प्राप्त करें जिनके लिए बाजार में माँग और पूर्ति बराबर होती हैं और बृहत् संख्या में युगपत् समीकारों (simultaneous equations) के हल निकालें, तो यह सामान्य संस्थिति का अध्ययन होगा।

सामान्य संस्थिति की रीति का उपयोग करने के लिए हमें बृहत् संख्या में युगपत् समीकारों का हल निकालना पड़ता है। इसलिए कार्य अत्यन्त जटिल हो जाता है। इस कठिनाई का समाधान करने और विशेष समस्याओं के अध्ययन को संभव बनाने के लिए मार्शल ने आंशिक संस्थिति या एक समय में एक रीति की उपज्ञा (invention) की। इस रीति में हम सब परस्पराश्रित सम्बन्धों का अध्ययन तत्काल नहीं करते, बल्कि अन्य सब सम्बन्धों को अपरिवर्तित मानकर हम अपना ध्यान एक समय में एक ही सम्बन्ध तक सीमित रखते हैं। यदि गेहूँ के मूल्य में परिवर्तन हो रहा है, तो हम इस परिवर्ती मूल्य का गेहूँ की माँग पर प्रभाव का अध्ययन करते हैं और यह मान लेते हैं कि इस समय बाजार में अन्य सब वस्तुओं के मूल्य, माँग और पूर्ति, लोगों की आय, उनकी रुचियाँ और पसन्द-नापसन्द स्थिर रहते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि गेहूँ की माँग गेहूँ की पूर्ति से और गेहूँ की पूर्ति उसकी माँग से स्वतन्त्र है। इससे हम गेहूँ के मूल्य के परिवर्तनों का उसकी माँग पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करने में और गेहूँ के लिए माँग-वक्र खींचने में समर्थ होते हैं। यह आंशिक संस्थिति की रीति है। इस रीति में हम मान लेते हैं कि एक के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध आवश्यक नहीं होते। यह एक यथार्थिक चित्र नहीं है क्योंकि, जैसा हम बता चुके हैं, अन्य मूल्यों का गेहूँ के उपभोक्ताओं पर निरन्तर प्रभाव पड़ता है और गेहूँ की पूर्ति के परिवर्तनों का भी गेहूँ की माँग पर प्रभाव पड़ता है। पर आंशिक संस्थिति रीति का औचित्य इस बात में है कि, यद्यपि अन्य राशियों और मूल्यों का प्रभाव पड़ता है, यह प्रभाव उतना प्रत्यक्ष नहीं है जितना गेहूँ के मूल्य के परिवर्तन का प्रभाव।

आंशिक संस्थिति रीति, जैसा इसका नाम बताता है, आंशिक है और आर्थिक व्यवस्था को उसकी सम्पूर्णता में निरूपित नहीं करती, पर व्यावहारिक समस्याओं को, जैसे किसी वस्तु के मूल्य के फलस्वरूप उसकी माँग के परिवर्तन निकालना, करने में यह निश्चयतः हमें समर्थ बनाती हैं।

तुलना. दोनों रीतियों का अपना उपयोग है और अर्थशास्त्रियों के लिए दोनों सहायक हैं, पर निम्नलिखित दो भेदों पर बल दिया जा सकता है :

(१) आंशिक संस्थिति रीति बहुत व्यावहारिक है और हमें विभिन्न मूल्यों पर किसी विशेष वस्तु की माँगी हुई या प्रदत्त राशि जानने में समर्थ बनाती है। पर यह विधि आर्थिक घटनाओं की परस्पर आश्रितता को हम से छिपा देती है। यदि हम आंशिक संस्थिति रीति द्वारा निकाले गए निष्कर्षों को आर्थिक व्यवस्था पर उसकी संपूर्णता में लागू करें तो परिणाम भीषण होगा क्योंकि यदि हम संपूर्ण व्यवस्था पर विचार करते हैं तो हम आर्थिक शक्तियों की परस्पर आश्रितता की उपेक्षा नहीं कर सकते। पर आंशिक संस्थिति रीति ऐसा करती है। उदाहरणार्थ, जब तक हम आंशिक संस्थिति पर विचार कर रहें है, उपभोक्ता के अतिरेक का विचार बिलकुल ठीक है, पर जब हम सामान्य संस्थिति पर विचार करने लगते हैं तो इसके कोई निश्चित और असंदिग्ध अर्थ नहीं रह जाते। यदि हम एक वस्तु पर विचार करते हैं तो उपभोक्ता उसके लिए जो मूल्य वह वास्तव में दे रहा है उससे अधिक देने को तय्यार हो सकता है, पर यदि बृहत् संख्या में उसके स्थानापन्न उपलब्ध हों तो एक व्यक्ति किसी वस्तु के लिए अधिक मूल्य देने की अपेक्षा उनमें से किसी एक को लेगा। समरूपत:, यह कहना बिल्कुल ठीक है कि यदि मजदूरी की दर कम हो जाती है तो किसी विशेष उद्योग में अधिक मजदूरों को वृत्ति मिलना शक्य है, पर यह कहना सही नहीं है कि सामान्य मजदूरी दर में कमी होने पर सब उद्योगों को एक साथ लेने पर अधिक मजदूरों को वृत्ति मिलेगी। सामान्य मजदूरी दर की कमी लोगों की क्रय शक्ति को इतना घटा सकती हैं कि माँगी हुई वस्तु की राशि कम हो जाय और परिणामत:, वृत्ति बढ़ने के स्थान पर वास्तव में घट जाय। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि आंशिक संस्थिति रीति के आधार पर निकाले गए निष्कर्ष बिना सावधानी के साथ सामान्य संस्थिति की स्थितियों पर लागू नहीं किए जा सकते।

(२) सामान्य संस्थिति रीति अत्यधिक गणित के उपयोग से अन्तर्गस्त है। इसमें हमें तत्काल युगपत समीकारों की बृहत् संख्या से संव्यवहार (deal) करना पड़ता है। अतएव रीति का विशेष समस्याओं का समाधान करने में कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। पर यह रीति हमें पूर्ण चित्र देती है और आंशिक संस्थिति रीति की गलतियों का परिहार करती है। दूसरे शब्दों में, सामान्य संस्थिति रीति आर्थिक शक्तियों की परस्पर आश्रितता को स्वीकार करती है, पर आंशिक संस्थिति रीति ऐसा नहीं करती।

आर्थिक समष्टिभाव तथा आर्थिक व्यष्टिभाव (Macro and Micro-Economics). आर्थिक प्रतिभास (phenomenon) का अध्ययन तथा संस्थिति की दशाओं का पता लगाने के लिये या तो हम समष्टिभाव या

व्यष्टिभाव उपगमन का प्रयोग कर सकते हैं। आर्थिक व्यष्टिभाव एक इकाई का तथा आर्थिक समष्टिभाव समूहों का अध्ययन करती है। अन्य शब्दों में, आर्थिक व्यष्टिभाव एक इकाई का तथा समष्टिभाव सम्पूर्ण का अध्ययन करती है। 'आर्थिक व्यष्टिभाव एक विशेष आर्थिक व्यवस्था (economic organism) तथा उनकी प्रतिक्रियाओं और एक विशेष आर्थिक परिमाण तथा उनके निर्धारण का अध्ययन है। इसका निर्माण पहले व्यक्तिगत आर्थिक व्यवस्था के (फर्म या गृह) सिद्धान्त के रूप में हुआ है जिसका उद्देश्य उस व्यवस्था के वातावरण (वे परिमाण तथा कार्य जो दिये गए हैं तथा जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं है) तथा उसके व्यवहार (उन परिमाणों जिन पर उसका पूर्ण नियन्त्रण है) के कार्य सम्बन्धी सम्बन्ध का अध्ययन करना है'।[1] इसके विपरीत आर्थिक समष्टिभाव का सम्बन्ध व्यक्तिगत परिमाणों से नहीं, वरन् इनके समूहों से है। यह व्यक्तिगत आय का अध्ययन नहीं करता, वरन् राष्ट्रीय आय का; यह व्यक्तिगत मूल्यों का अध्ययन नहीं करता वरन् मूल्य स्तर का; यह व्यक्तिगत प्रदा (output) का अध्ययन नहीं करता वरन् राष्ट्रीय प्रदा का।[2]

जब हम एक उपभोक्ता के व्यवहार का अथवा एक फर्म की संस्थिति की दशाओं का अध्ययन करते हैं, तब हमारा अध्ययन आर्थिक व्यष्टिभाव कहलाता है परन्तु जब हम राष्ट्रीय लाभांश की समस्याओं, पूर्ण वृत्ति (full employment) की समस्याओं तथा पूरे समाज के बचत एवं विनियोग की समस्याओं का अध्ययन करते हैं, तब हमारा अध्ययन आर्थिक समष्टिभाव कहलाता है। जब आर्थिक व्यष्टिभाव हमें व्यक्तिगत समस्याओं के अध्ययन के लिए समर्थ बनाता है, आर्थिक समष्टिभाव हमें सामान्य धारणा प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त सरकार को आर्थिक योजना,

---

1. "Microeconomics is the study of particular economic organisms and their interaction, and of particular economic quantities and their determination. It is built up first of a theory of individual economic organism (firm or household), the object of which is to determine certain functional relationships between the environment of the organism (those quantities or functions which are given to it and over which it has no control)". K. E. Boulding, A Reconstruction of Economics p. 3.

2. "Macroeconomics, on the other hand, deals not with the individual quantities as such but with aggregates of these quantities—not with individual incomes but with the national income, not with individual prices but with price level, not with individual output but with the national output". Boulding, loc. cit. p.3.

जनसंख्या के नियन्त्रण, आय पर कर इत्यादि सम्बन्धित नीति अपनाने के लिए सम्पूर्ण व्यापक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है जो केवल आर्थिक समष्टिभाव के अध्ययन से ही सम्बन्धित है। आर्थिक व्यष्टिभाव तथा आर्थिक समष्टिभाव दोनों का अध्ययन एक प्रकार का है—अन्तर केवल इतना ही है कि पहले का सम्बन्ध इकाई से है तथा दूसरे का सम्बन्ध सम्पूर्ण से है। आर्थिक समष्टिभाव में कठिनाई समस्त के अध्ययन करने में होती है तथा आर्थिक समष्टिभाव के विश्लेषण की कला अधिकांशतः आर्थिक व्यवस्था के उन बड़े समस्तों (aggregates) को छोटे समस्तों में विभाजित कर अध्ययन योग्य बनाने में है। ये छोटे समस्त इतने अधिक नहीं होते कि इनका अध्ययन न किया जा सके वरन् वे इतने छोटे हो जाते हैं कि उनकी अनेकरूपता हमारे विश्लेषण के निष्कर्ष को असन्तुलित करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। आर्थिक समष्टिभाव में जब हम समस्त प्रदा (aggregate output) पर विचार करते हैं तब हमारे समक्ष कार, मक्खन, पेन्सिल, गेहूँ इत्यादि को संयुक्त करने की कठिनाई उपस्थित होती है। यदि हम उत्पादित खाद्यान्नों की कुल मात्रा का पता लगाना चाहें, तब हम कुल उत्पादित खाद्यान्नों की मात्रा को जोड़कर टन अथवा मन में व्यक्त कर सकते हैं, यदि हम लम्बाई को जोड़ना चाहें तो हम फीट या गज में जोड़कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं, परन्तु सभी वस्तुओं की कुल प्रदा, जिनको विभिन्न इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है, को संयुक्त करने के लिए एक विशेष विधि का प्रयोग किया जाता है। केन्स ने इस कठिनाई का समाधान समस्त प्रदा पर विचार वृत्ति के स्तर (levels of employment) के रूप में करके किया। वस्तुओं की कुल प्रदा पर विचार करने के बजाय उसने वृत्ति-स्तरों (श्रमिकों की संख्या) पर विचार किया जिससे इन अनेक-रूप वस्तुओं का उत्पादन हुआ। उसका अनुमान यह था कि यदि कोई वस्तु १०० श्रमिकों द्वारा उत्पादित की जाती है तब, अन्य बातों के समान रहने पर, २०० व्यक्ति उसके दूने पदार्थ का उत्पादन करेंगे। दूसरी विधि, जिससे हम विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं को संयुक्त कर सकते हैं वह है उन मूल्यों पर विचार जिन पर ये वस्तुएँ और सेवाएँ बेची जाती हैं। इस प्रकार आर्थिक समष्टिभाव के अध्ययन द्वारा हम महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यदि हम चित्र का प्रयोग करें तब य-अक्ष पर वृत्ति के स्तर तथा र-अक्ष पर कुल विक्रयागम (total sale proceeds) जो विभिन्न वस्तुओं के कुल मूल्यों का योग है, को दिखला सकते हैं। इसी प्रकार हम य-अक्ष पर बचत

और विनियोग को तथा र-अक्ष पर कुल आय को दिखला सकते हैं। इस प्रकार हम दो चलों (variables) के सम्बन्ध का अध्ययन कर सकते हैं।

आर्थिक उपकरण (economic tools). अर्थशास्त्री के सबसे महत्वपूर्ण उपकरण पूर्ति, माँग और मूल्य हैं या, अधिक यथार्थ भाषा में, पूर्ति फलन (supply function), माँग फलन (demand function) और मूल्य हैं। माँग फलन, जो मांग सारणी या माँग वक्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, मूल्य और माँगी गई राशि के श्रित-सम्बन्ध को बताता है। दूसरे शब्दों में, यह मूल्य के अल्प परिवर्तनों के फलस्वरूप माँग में होने वाले परिवर्तनों को दिखाता है। समरूपतः पूर्ति फलन, जो पूर्ति सारणी या पूर्ति वक्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है, विभिन्न मूल्यों पर प्रदत्त (supplied) राशि दिखाता है। यह मूल्य के अल्प परिवर्तनों के फलस्वरूप पूर्ति के परिवर्तन बताता है। संस्थिति मूल्य वह है जिसके लिए माँग और पूर्ति बराबर होते हैं। सब आर्थिक तर्क में संस्थिति की दशाओं का निर्धारण करने में हम माँग फलन और पूर्ति फलन पर विचार करते हैं। यदि हम वस्तु बाजार में क्रीत और विक्रीत उपभोग वस्तुओं पर, जैसे मक्खन, रेडियो, पेन्सिल आदि, विचार करते हैं तो हम इनकी माँग और पूर्ति पर विचार करते हैं। दूसरी ओर, यदि हम उत्पादन के साधनों पर जैसे भूमि, श्रम और पूँजी जो अपने-अपने साधन-बजारों में खरीदे बेचे जाते हैं, विचार करते हैं तो मूल्य निर्धारण में हम इन उत्पादन के साधनों की पूर्ति और माँग पर विचार करते हैं।

इस शताब्दी की तीसरी दशाब्दी में सीमान्त आय का आविष्कार होने से अर्थशास्त्रियों को एक नया महत्वपूर्ण उपकरण मिल गया। फर्म की संस्थिति का वर्णन सीमान्त लागत और सीमान्त आय की बराबरी के रूप में अधिक यथार्थतः किया जा सकता है। एक फर्म सीमान्त लागत और सीमान्त आय के बराबर होने की स्थिति में अधिकतम लाभार्जन करती है। जैसा हम आगे विस्तार में देखेंगे, फर्म की संस्थिति के लिए सीमान्त आय और सीमान्त लागत के बराबर होने का प्रतिबन्ध सब प्रकार की स्पर्धाओं पर, यथा पूर्ण स्पर्धा, अपूर्ण स्पर्धा और एकाधिकार, लागू होता है। 'शुद्ध' और 'पूर्ण' स्पर्धा में कुछ अतिरिक्त प्रतिबन्धों का समाधान करना पड़ता है पर यहाँ भी सीमान्त आय और सीमान्त लागत की समानता एक अत्यावश्यक प्रतिबन्ध है। सीमान्त आय के संबोध का महत्व इस लिए है कि जब यह सीमान्त लागत के बराबर होती है तब फर्म अधिकतम लाभार्जन करती है। इसी कारण से अर्थशास्त्रियों की इस संबोध में दिलचस्पी है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि सीमान्त आय का संबोध बेकार है क्योंकि

वास्तविक व्यवहार में उत्पादक सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर करने की चिन्ता नही करते, बल्कि कुल विक्रयागम और कुल लागत के आधार पर लाभ को अधिकतम करते हैं। चाहे किसी भी प्रकार से क्यो न करें, व्यापारी लाभ को अधिकतम करते हैं और अर्थशास्त्री इसी पर विचार करता है। अन्तर केवल यह है कि अर्थशास्त्री के लिए फर्म की सस्थिति पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय की समानता के रूप मे विचार करना अधिक सुकर (convenient) होता है। चाहे व्यापारी और अर्थशास्त्री किसी भी प्रकार से चलें, संस्थिति की दशा अतत: वही है अर्थात् लाभ अधिकतम करना। यह बताता है कि सीमान्त आय अभी भी आर्थिक विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण उपकरण है।

माँग फलन, पूर्ति फलन और मूल्य के उपकरण पूँजीवाद और समाजवाद में समानत्या सुसगत हैं। एक स्थिति मे समायोजन माँग और पूर्ति की शक्तियो के अबाध कार्य कारण से होता है और दूसरी स्थिति मे समायोजन योजना-अधिकारी द्वारा जान बूझकर किया जाता है। पर इन दोनो दशाओ मे श्रित-सबध रहता है और संस्थिति की दशाओ पर सोचते समय उस पर विचारना पड़ता है। चाहे पूर्ण स्पर्धा हो, या अपूर्ण स्पर्धा या एकाधिकार या चाहे स्थैतिक सस्थिति पर विचार किया जा रहा हो या प्रवैगिक पर, उन्ही उपकरणो का उपयोग किया जाता है। माँग और पूर्ति श्रितो का कार्य-कारण अर्थिक व्यष्टिभाव मे स्पष्टत: देखा जा सकता है। आर्थिक समष्टिभाव मे भी, जब हम समस्त पर विचार करते है, ये कार्य करते है पर इनकी अभिव्यक्ति किंचित् विभिन्न होती है। इस स्थिति मे हम समस्त पूर्ति मूल्य (aggregate supply price) और समस्त माँग मूल्य (aggregate demand price) पर विचार करते हैं। यहाँ 'मूल्य' का अर्थ प्रति इकाई मूल्य नहीं है बल्कि सब शोधित (paid) मूल्यो का समस्त योग, अर्थात् कुल विक्रयागम, है। इस स्थिति में हम वृत्ति के स्तरो, जो य-अक्ष मे दिखाये जाते हैं, और कुल विक्रयागम के, जो र-अक्ष मे दिखाया जाता है, श्रित-सबंध पर विचार कर सकते हैं। तब समस्त ही माँग मूल्य का अर्थ विभिन्न वृत्ति के स्तरो पर उत्पादित पदार्थों के आशंसित (expected) कुल विक्रयागम होगा। उदाहरणार्थ, यह दिखायेगा कि जब १००, २००, ३०० इत्यादि व्यक्तियो की वृत्ति दी जाती है तो कुल विक्रयागम कितना होगा। क्योकि अधिक मजदूर अधिक पदार्थों का उत्पादन करते हैं और इन्हें बेचने से अधिक विक्रयागम प्राप्त होता है, इसलिए समस्त माँग-वक्र बाएँ से दाहिनी ओर ऊपर को उठता है। समस्त पूर्ति मूल्य उन विक्रयागमों को दिखाता है जो उत्पादक को वृत्ति देने को प्रेरित करने के लिए आवश्यक हैं। यह १००,

२००, ३०० इत्यादि मजदूरों के वृत्ति देने के लिए आवश्यक कुल विक्रयागमों को दिखाता है। क्योंकि अधिक व्यक्तियों को वृत्ति देने के लिए अधिक कुल विक्रयागम होना आवश्यक हैं, इसलिए समस्त पूर्ति वक्र बाईं से दाहिनी ओर ऊपर को उठता है। संस्थिति बिन्दु, जहाँ दोनों मिलते हैं, 'प्रभावी माँग' का बिन्दु है और वस्तुतः वृत्तिवान मजदूरों की संख्या बताता है। इस बिन्दु पर 'आशंसित' कुल विक्रयागम 'आवश्यक' कुल विक्रयागम के बराबर होता है और इस प्रकार संस्थिति बिन्दु दिखाता है। यह बताता है कि अर्थशास्त्री के माँग, पूर्ति और मूल्य के उपकरण आर्थिक समष्टिभाव में भी समानतः लागू होते हैं, यद्यपि समूहों के कारण इनमें थोड़ा परिवर्तन करना पड़ता है।

अध्याय ६

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता

(Diminishing Marginal Utility)

यह सामान्य अनुभव है कि वस्तु की एक अधिक इकाई द्वारा प्राप्त उपयोगिता उसकी अधिक मात्रा के साथ-साथ क्रमशः घटती जाती है। एक समय ऐसा आता है जब हम वस्तु विशेष की अधिक इकाई नहीं चाहते, यदि वे हमें प्राप्त हो जाती हैं तो उनसे सन्तोष प्राप्त होने के बजाय असन्तोष होता है तथा वे भार स्वरूप हो जाती हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास दो बर्साती हैं और वह एक का प्रयोग वर्षा से अपनी रक्षा करने के लिए करता है तथा दूसरी को संकट काल के लिए रख देता है तब उसे दूसरी बर्साती द्वारा प्राप्त सन्तोष उतना अधिक नहीं होगा जितना कि पहली बर्साती द्वारा। यदि उसके पास तीसरी बर्साती है तब उससे किसी प्रकार की कार्य सिद्धि नहीं होगी बल्कि वह एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित करेगी। यदि कोई व्यक्ति बाध्य न किया जाय तो वह तीसरी बर्साती नहीं रखेगा। मार्शल के शब्दों में "किसी वस्तु की राशि (stock) में वृद्धि के फलस्वरूप जो व्यक्ति को अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है उसमें कमी राशि में वृद्धि के साथ-साथ होती जाती है।" इसे 'ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम' कहते हैं। इस नियम की व्याख्या विस्तार के साथ करेंगे तथा वस्तु की अगली इकाइयों द्वारा प्राप्त सन्तोष में कमी होने का आधार क्या है इसको भी जानने का प्रयास करेंगे।

आवश्यकताएँ (Wants). क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम समझने के पहले हमें 'आवश्यकताओं' तथा 'उपयोगिता' के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। इस ज्ञान के आधार पर ही हम इस सिद्धान्त को विस्तार के साथ समझ सकेंगे।

आवश्यकता एक प्रकार की लालसा है जैसे भोजन, वस्त्र, सिनेमा आदि की लालसा, जिसकी सन्तुष्टि से प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। कुछ अर्थशास्त्री आवश्यकता तथा इच्छा में अन्तर उपस्थित करते हैं लेकिन इस प्रकार के अन्तर से कोई लाभप्रद परिणाम नहीं होता। इसलिए हम आवश्यकता तथा इच्छा से एक ही अर्थ लेंगे। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ ज्ञात होती हैं तथा वे उसके सचेतन मस्तिष्क में रहती है। कुछ आवश्यकताएँ उसके अचेतन मस्तिष्क में

रहती हैं तथा वे मनुष्य को नहीं विदित रहतीं। वह उन्हें तभी जानेगा जब वे सचेतन मस्तिष्क में आ जाती हैं। आवश्यकताएँ चाहे मनुष्य के चेतन मस्तिष्क में हों अथवा अचेतन, वे आवश्यकताएँ ही हैं।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया जा सकता है। या तो हम भोजन की आवश्यकता, पहनने की आवश्यकता अथवा निवास की आवश्यकता आदि व्यापक श्रेणियों पर विचार कर सकते हैं अथवा भोजन की आवश्यकता पर विस्तार के साथ (गेहूँ, चावल, आइसक्रीम आदि की आवश्यकताओं) विचार कर सकते हैं। कुछ आवश्यकताएँ इस प्रकार की है जो व्यक्ति के उपलब्ध साधनों द्वारा सन्तुष्ट की जा सकती है जैसे रोटी, चावल, कमीज आदि की आवश्यकताएँ। ये व्यावहारिक आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएँ, जैसे चन्द्रमा तक जाने की इच्छा, स्वेच्छा से दृष्य एवं अदृष्य होने की इच्छा, सदैव युवा रहने की इच्छा, हास्यास्पद हो सकती हैं परन्तु ये आवश्यकताएँ ही हैं। व्यावहारिक तथा अव्यावहारिक आवश्यकताओं में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता क्योंकि आज जो अव्यावहारिक है वह कल पूरी हो सकती है तथा इसके विपरीत जो आज व्यावहारिक है वह भविष्य में अव्यावहारिक हो सकती है। चन्द्रमा तक जाने की इच्छा आज इतनी हास्यास्पद नहीं है जितनी कि २० वर्ष पहले. यहाँ एक महत्वपूर्ण बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि मनुष्य की सभी इच्छाएँ एवं लालसायें—चाहे वे व्यक्ति के व्यावहारिक साधनों के अन्तर्गत हों अथवा उसकी सामर्थ एवं क्षमता के बाहर—आवश्यकताएँ कहलाती हैं। मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ समान होती हैं जैसे भोजन, पहनने तथा रहने की आवश्यकताएँ, परन्तु कुछ व्यक्तियों की कुछ अतिरिक्त आवश्यकताएँ होती हैं जिसका अनुभव सभी व्यक्तियों द्वारा नहीं किया जाता। सभी की आवश्यकताएँ एक प्रकार की नहीं हो सकतीं अथवा एक ही वस्तु की आवश्यकता एक ही अंश तक नहीं हो सकती तथा प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता समान तीव्रता से नहीं हो सकती। व्यक्ति-व्यक्ति की आवश्यकताएँ अलग-अलग हुआ करती हैं। यह निश्चित है कि एक असभ्य व्यक्ति की आवश्यकताएँ एक सभ्य व्यक्ति की अपेक्षा कम होंगी। वास्तव में आवश्यकताओं की मात्रा, जटिलता तथा तीव्रता लोगों द्वारा पहुँचे हुए सभ्यता के स्तर का उचित निर्देशन करती हैं। जितनी अधिक विकसित सभ्यता होगी उतनी ही अधिक आवश्यकताएँ भी होंगी।

प्रत्येक आवश्यकता, चाहे वह पूरी हो सके या नहीं, एक दुखपूर्ण अनुभव है तथा उसकी सन्तुष्टि से दुख का निवारण तथा सुख की प्राप्ति होती है।

आवश्यकता इसलिए दुख का कारण है तथा उसकी सन्तुष्टि सुख का। यदि एक व्यक्ति उस वस्तु को नहीं पाता जिसकी उसे आवश्यकता है तब वह दुखी होता है तथा जब वह उस वस्तु को पा जाता है तब सुखी। यह इस बात को बतलाता है कि लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कठिन परिश्रम क्यों करते हैं।

मानवीय आवश्यकताओं की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(१) आवश्यकताएँ असीम हैं. इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की बहुत सी चेतन अथवा अचेतन आवश्यकताएँ होती हैं। हम में से निर्धन व्यक्ति की भी अनेक आवश्यकताएँ होती हैं चाहे वह उन्हें पूरा कर सके या नहीं। हमारी सभी आशाएं तथा स्पृहाएं आवश्यकताओं को जन्म देती हैं। जानबूझ कर आवश्यकताओं पर नियन्त्रण रक्खा जा सकता है परन्तु ऐसे व्यक्तियों की भी अनेक अचेतन आवश्यकताएँ होती हैं जो आवश्यकताओं को नियन्त्रित करने में सफल हुए हैं। अतः सभी व्यक्तियों के बारे में यह कहना सत्य है कि उनकी चेतन एवं अचेतन आवश्यकताओं की मात्रा असीमित होती है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों अधिक सभ्य होता जाता है त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताओं की संख्या में भी वृद्धि होती जाती हैं। सम्भवतः आदि व्यक्ति की आवश्यकताएँ आज के सभ्य व्यक्ति की आवश्यकताओं से कम हों, लेकिन उसकी भी आवश्यकताओं की संख्या अधिक रही होगी।

आवश्यकताएँ आर्थिक क्रिया के आधार हैं। जब व्यक्ति की आवश्यकताएँ उसको प्राप्त संसाधनों (resources) से अधिक होती हैं तब उन्हें पूर्ति करने के लिए उसे विशेष प्रयास करने पड़ते हैं। इससे आर्थिक क्रियाओं का जन्म होता है। यदि मनुष्य की आवश्यकताएँ न होतीं तब वह अपनी आर्थिक क्रिया को बढ़ाने का कष्ट न करता।

(२) प्रत्येक आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है. यद्यपि मानवीय आवश्यकताओं की संख्या अनन्त है फिर भी उनकी तीव्रता सीमित है। एक व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएँ हो सकती हैं लेकिन उसकी रोटी, चावल, या आइसक्रीम की आवश्यकताओं की तीव्रता सीमित होती है। जब एक व्यक्ति रोटी या आइसक्रीम खाता है तब उस समय उसकी आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाती है। यदि वह पूर्ण सन्तुष्टि की सीमा के बाद अधिक आइसक्रीम या रोटी खाता है तब उसे वास्तव में इससे असन्तोष होगा तथा इसके उपभोग से उसे सुख मिलने के बदले कष्ट मिलेगा।

प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता का सीमित होना मनुष्य की शारीरिक

क्षमता के सीमित होने के कारण है। किसी मनुष्य के एक निश्चित समय में भोजन करने की मात्रा उसके पेट की क्षमता पर आधारित है। एक के बाद दूसरे सिनेमा देखने की मात्रा मनुष्य के नेत्रों की क्षमता तथा उसकी मानसिक शक्ति द्वारा सीमित होती है। इसी प्रकार एक सांस में दौड़ सकने मीलों की संख्या मनुष्य के पैरों की शक्ति द्वारा सीमित होती है। चूँकि मनुष्य की शारीरिक क्षमता सीमित है इसलिए एक निश्चित समय में किसी विशेष आवश्यकता को पूर्णतया सन्तुष्ट करना सम्भव है। इस बात को स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि यद्यपि प्रत्येक आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है परन्तु सभी सम्मिलित आवश्यकताओं को पूर्णतया सन्तुष्ट कभी नहीं किया जा सकता। यह इसलिए है कि जब वर्तमान आवश्यकताएँ सन्तुष्ट की जाती हैं तब नई उत्पन्न हो जाती हैं। जितनी शीघ्रता से आवश्यकताओं की सतुष्टि की जाती है उतनी ही शीघ्रता से नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न भी होती हैं। अतः व्यक्ति के लिए एक ऐसी अवस्था में पहुँचना असम्भव हो जाता है जहाँ पर उसकी सभी आवश्यकताएँ पूर्णतया सतुष्ट हो जायँ।

(३) **एक बार सन्तुष्ट की गई आवश्यकताएँ पुनः उत्पन्न हो सकती हैं.** प्रत्येक आवश्यताएँ एक समय तक के लिए पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती हैं। समय बीतने के साथ-साथ वे पुन: उत्पन्न हो सकती हैं। मनुष्य की शारीरिक क्षमता यद्यपि सीमित होती है परन्तु मानवीय शरीर एक क्षयी यन्त्रन्यास (wasting mechanism) है। एक बार किया हुआ भोजन पच जाता है तथा भोजन करने की क्षमता पुनः स्थापित हो जाती है। ऐसा होने से आवश्यकताएं पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। सिनेमा देखने से मानवीय मस्तिष्क तथा नेत्र पर आयास (strain) पड़ सकता है और दौड़ने से पैर थक सकते हैं, परन्तु यदि आराम के लिए समय दिया जाय तब शारीरिक क्षमता की पुनः स्थापना हो सकती है तथा सिनेमा देखने एवं दौड़ने की आवश्यताएँ पुनः उत्पन्न हो सकती हैं। यह बिल्कुल सम्भव है कि सन्तुष्ट हो जाने पर कुछ आवश्यकताएँ पुनः उत्पन्न न हों, अथवा उनके स्थान पर अन्य नई आवश्यकताएं उत्पन्न हो जायँ। मान लीजिए एक आदमी सिनेमा देखता है और उसकी आवश्यकता उस समय के लिए सन्तुष्ट हो जाती है। परन्तु यदि वह सिनेमा देखना नहीं पसन्द करता तब उसकी सिनेमा देखने की आवश्यकता पुन: उत्पन्न नहीं होगी। उसका स्थान थियेटर देखने तथा हाकी खेलने की आवश्यकताएँ ले सकती हैं। एक निश्चित समय में किसी व्यक्ति की आवश्यकताओं का स्वरूप उसकी आय, रुचि, तथा अन्य बातों पर आधारित है तथा यदि ये स्थिर रहें तब

एक बार सन्तुष्ट की गई आवश्यकताएँ पुनः उत्पन्न हो सकती हैं, परन्तु ये जब स्थिर नहीं रहती तब कुछ आवश्यकताएँ पुनः उत्पन्न हो सकती है तथा कुछ नहीं। अतः हम यह कह सकते हैं कि एक बार सन्तुष्ट की गई आवश्यताएँ पुनः उत्पन्न हो सकती हैं।

(४) आवश्यकताएँ महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त की जा सकती हैं (Wants can be arranged in a descending order of importance). प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करता है। वह बतला सकता है कि दिए हुए समय में वह A वस्तु को B की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है तथा A की अपेक्षा B को। यदि वह इन दोनों में से कोई बात नहीं बतला सकता तब वह यह कह सकता है कि वह A और B वस्तुओं के बारे में तटस्थ है। आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करने की मनुष्य की क्षमता अधिमान श्रेणी (scale of preferences) के संबोध (concept) को जन्म देती है। एक व्यक्ति को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है—कदाचित वह बतला भी नहीं सकता—कि वह A को B वस्तु की अपेक्षा १०% अधिक पसन्द करता है या इसके विपरीत B को A की अपेक्षा १०% अधिक पसन्द करता है। लेकिन वह इतना निश्चय ही बतला सकता है कि वह A को B की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है अथवा वह A और B वस्तुओं के बारे में तटस्थ है। जैसा कि हम अभी देखेंगें, आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करने में उपयोगिता की मापनीयता सन्निहित नहीं है। मान लीजिए मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ हैं, A, B, C, D इत्यादि, वह अपनी आवश्यकताओं को निम्न में से किसी प्रकार से विन्यस्त (arrange) कर सकता है।

Case 1. A B C D

Case 2. A
B
C
D

पहली दशा का अर्थ यह है कि व्यक्ति अनेक वस्तुओं के बारे में तटस्थ है तथा उनकी आवश्यकताएँ समान रूप से तीव्र हैं। दूसरी दशा का अर्थ यह है कि व्यक्ति A को B की अपेक्षा, B को C की अपेक्षा तथा C को D की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है।

चित्र १६ में शीर्ष रेखा अधिमान श्रेणी को दिखलाती है। पहला चित्र

यह दिखलाता है कि A वस्तु B की अपेक्षा ऊँची श्रेणी पर है अर्थात वह A को B की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। दूसरे चित्र में यह दिखलाया गया है कि A और B दोनो वस्तुएँ अधिमान की समान श्रेणी पर हैं तथा वह
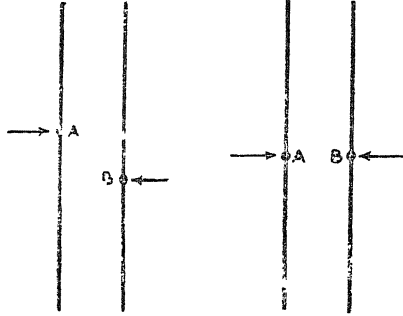
चित्र १६

उनके बारे में तटस्थ है। यहाँ यह बतला देना उचित है कि चूंकि 'अधिमान श्रेणी' की कोई आधार रेखा नही है, अत: शीर्ष दूरी A अथवा B द्वारा प्राप्त सन्तोष को नहीं नापती। यदि A वस्तु B की अपेक्षा अधिक ऊंची है तब इसका अर्थ केवल इतना ही हुआ कि व्यक्ति B की अपेक्षा A को अधिक पसन्द करता है परन्तु सन्तोष के अंश की जानकारी अधिमान श्रेणी से नहीं की जा सकती।

चूँकि व्यक्ति के लिए आवश्यकताओ को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करना सम्भव है, उपभोक्ता दिये हुये समय में सभी उपभोग की जाने वाली वस्तुओं को दृष्टि मे रखकर उपभोग की परियोजना बना सकता है। एक ऐसी परियोजना निम्न प्रकार की हो सकती है—

A

B C

D E F

इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता (१) A वस्तु को B और C की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है, (२) B और C वस्तुओ में वह तटस्थ है, (३) D, E और F की अपेक्षा वह B और C वस्तुओ को पसन्द करता है, तथा (४) D, E और F वस्तुओ मे वह तटस्थ है। अन्य शब्दो में, यदि उपभोक्ता के पास द्रव्य की सीमित मात्रा है तब वह उसका व्यय इस प्रकार करेगा। पहले वह A वस्तु को तब B और C को तथा इसके बाद D, E और F को खरीदेगा। विभिन्न

व्यक्तियों की 'अधिमान श्रेणियाँ' अलग-अलग होती हैं तथा आय, रुचि तथा उपभोक्ता के अधिमान आदि के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। अधिमान श्रेणी केवल इतना ही दिखलाती है कि दी हुई दशाओं में उपभोक्ता द्रव्य का व्यय इसके द्वारा निर्देशित ढंग से करेगा।

(५) **आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी होती हैं.** चूँकि उपभोक्ता के पास संसाधन तथा समय सीमित होते हैं वह अपनी सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं कर सकता, इसलिए उसे चुनाव करना होता है। सन्तुष्टि के लिये आवश्यकताओं में आपस में प्रतिस्पर्द्धा होती है। सीमित द्रव्य की मात्रा के साथ उपभोक्ता को यह निर्णय करना होता है कि वह कोट खरीदे, या जूता खरीदे अथवा मक्खन का डिब्बा। चूँकि उसके पास इन सभी वस्तुओं को खरीदने के लिये यथेष्ट द्रव्य नहीं है, अतः उसके ध्यान के लिये आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्द्धा होती है तथा वह उन्हीं वस्तुओं को चुनता है जिन्हें वह सबसे अधिक चाहता है। दुर्लभता के कारण, जो कि सभी आर्थिक अध्ययनों की मूल मान्यता है, आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी होती हैं। मान लीजिये एक बहुत धनी व्यक्ति है जिसके पास पर्याप्त द्रव्य है। क्या इस दशा में भी आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी होंगी? हाँ उसके लिए भी आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी होंगी क्योंकि यद्यपि उसके पास पर्याप्त द्रव्य है परन्तु उसकी आवश्यकताएँ असीमित हैं तथा ज्यों-ज्यों पुरानी आवश्यकताएँ सन्तुष्ट होती हैं त्यों त्यों नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। परिणामतः सबसे धनी व्यक्ति की भी कुछ आवश्यकताएँ उसके साधनों से परे होती हैं। यदि हम यह मान भी लें कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति के पास पर्याप्त धन है तब समय के सीमित होने के कारण आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी होंगी। वह एक साथ अपनी सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसलिए उसे किस आवश्यकता की सन्तुष्टि पहले करनी चाहिये इसके बारे में चुनाव करना पड़ता है।

ऐसा लगता है कि चौथी और पांचवीं विशेषताएं एक हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। चाहे आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी हों या न हों, एक उपभोक्ता को उन्हें महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करना ही होता है। मान लीजिये एक व्यक्ति सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। उसे भी यह निर्णय करना पड़ेगा कि किस आवश्यकता को पहले और किसे बाद में सन्तुष्ट किया जाय। ऐसा करने के लिए उसे आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त करना होता है। यहाँ एक दूसरी बात भी है। आवश्यकताओं का प्रतिस्पर्द्धी होना स्पष्ट

रूप से इस तथ्य को सम्मुख नहीं रखता कि या तो एक व्यक्ति आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त कर सकता है अथवा वह विभिन्न आवश्यकताओं के बारे में तटस्थ हो सकता है। प्रतिस्पर्द्धी आवश्यकताओं का होना केवल पहली सम्भावना को बतलाता है कि उपभोक्ता जिस आवश्यकता को सन्तुष्ट करने के लिये पहले चुनता है वह बाद में सन्तुष्ट किये जाने वाली आवश्यकता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यह इस सम्भावना को भी नहीं बतलाती कि सभी आवश्यकताएँ समान रूप से महत्वपूर्ण हैं तथा उपभोक्ता इनमें तटस्थ है अर्थात् वे एक प्रकार से प्रतिस्पर्द्धी नहीं है। जैसा कि हम अभी देखेंगे कि आवश्यकताओं की चौथी विशेषता बहुत महत्वपूर्ण है तथा इसी पर क्रमागत उपयोगिता ह्रास का नियम आधारित है।

६ **आवश्यकताएँ पूरक होती हैं.** आवश्यकताएँ पूरक उस समय कही जाती है जब एक वस्तु की आवश्यकता स्वतः अन्य वस्तुओं की आवश्यकताओं को उत्पन्न करती है। कैमरा की आवश्यकता से फिल्म की आवश्यकता स्वत: उत्पन्न होती है तथा फाउन्टेनपेन की आवश्यकता से रोशनाई की आवश्यकता उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं के पूरक होने से उपभोक्ता की क्रियाओं में वृद्धि होती है जो कि अन्य प्रकार से सम्भव न हुई होती।

आवश्यकता तथा माँग. मानवीय आवश्यकताएँ आर्थिक क्रिया के आधार हैं। द्रव्य अर्जन करने के लिए मनुष्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये ही कठिन परिश्रम करता है। यदि आवश्यकताएँ न होतीं तब कार्य करना आवश्यक न होता। यदि आवश्यकताएँ कम होतीं तब आर्थिक क्रियाएँ भी कम होतीं। जब आवश्यकताओ की मात्रा तथा तीव्रता में वृद्धि होती है तब उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए उपभोक्ता के प्रयास में भी वृद्धि होती है। इससे उत्पादकों की क्रियाओं में भी वृद्धि होती है जो वस्तुओ और सेवाओं का उत्पादन उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। उपभोक्ता आर्थिक क्रियाओं का मध्य बिन्दु है। उपभोक्ता के अभाव में आर्थिक क्रिया का कोई महत्व नहीं है। यदि हम वस्तु का उत्पादन करते हैं और उसको उपभोग करने वाला कोई नहीं है तब उत्पादन बिल्कुल व्यर्थ हो जायेगा। उत्पादन का महत्व उपभोग के कारण है। यदि किसी वस्तु की माँग की जाती है तब कोई व्यक्ति मूल्य के लिए उसका अवश्य उत्पादन करेगा, परन्तु उपभोक्ता के अभाव में उत्पादन की प्रेरक शक्ति नहीं होती।

मानवीय आवश्यकताओं को उत्पादन के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होने के लिए माँग का रूप धारण करना चाहिए। आवश्यकता को मांग होने के पहले तीन पृथक सीढ़ियों से गुजरना होता है।

(क) **जागरूकता** (Awareness). उपभोक्ता को अपनी आवश्यकताओं से जागरूक होना चाहिए। यदि इच्छा अथवा लालसा उपभोक्ता के अचेतन मस्तिष्क में है तब इसे आवश्यकता कहते हैं लेकिन आर्थिक क्रिया के लिए इसका कोई महत्व नहीं है क्योंकि जब तक उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को नहीं जानता वह उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास नहीं करता। अतः अवश्यकताओं को आर्थिक क्रियाओं के जन्म देने के लिये यह आवश्यक है कि उपभोक्ता उनसे जागरूक हो।

(ख) **इच्छा** (Willingness). उपभोक्ता में आवश्यकताओं की पूर्ति करने की इच्छा का होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि उपभोक्ता की कोई ज्ञात आवश्यकता है परन्तु अपनी सुस्ती अथवा त्याग के कारण वह उसे सन्तुष्ट करने के लिये इच्छुक नहीं है, तब इससे आर्थिक क्रिया उत्पन्न नहीं होगी। अपनी अनुभव की गई आवश्यकताओं को पूरा न करने की इच्छा अथवा तत्परता की सम्भावना को हटाने के लिये अर्थशास्त्र में हम उपभोक्ताओं के बर्ताव को 'विवेकपूर्ण' होने की परिकल्पना (assumption) स्वीकार करते हैं। चूँ कि आवश्यकताएँ कष्ट देती हैं इसलिये विवेकपूर्ण व्यक्ति कष्ट को दूर करने तथा अपने संसाधनों का सर्वोत्तम प्रकार से प्रयोग करने का प्रयास करेगा। 'विवेकता' की परिकल्पना यह निश्चित करती है कि जब व्यक्तिगत उपभोक्ता आवश्यकताओं का अनुभव करता है तब वह उन्हें सन्तुष्ट करने का सर्वोत्तम प्रयास करेगा।

(ग) **संसाधन** (Resources). अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उपभोक्ता के पास आवश्यक संसाधनों का होना आवश्यक है। यदि वह आवश्यकताओं से जागरूक है तथा उन्हें पूरा करने की उसकी इच्छा है परन्तु उसके पास आवश्यकताओं की पूर्ति के आवश्यक संसाधन नहीं है तब उसकी आवश्यकता मांग नहीं होगी। संसाधन द्रव्य का रूप ले सकती हैं जिसके बदले में वे वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो सकती हैं जिनकी उसे आवश्यकता है, अथवा वे किन्ही अन्य वस्तुओं और सेवाओं का रूप ग्रहण कर सकती है जिन्हें उपभोक्ता अपनी इच्छित वस्तुओं एवं सेवाओं के बदले में दे सकता है। लेकिन जब तक उपभोक्ता के पास एक रूप या दूसरे रूप में संसाधन नहीं है, तब तक उसकी आवश्यकताएँ मांग नहीं होंगी।

यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हैं तथा उसके पास उसे सन्तुष्ट करने की इच्छा तथा संसाधन मौजूद हैं, तब उसकी आवश्यकता माँग हो जाती। केवल इसी दशा में उसकी आवश्यकताएं उत्पादक तथा विक्रेता के लिये रोचक एवं महत्वपूर्ण होती हैं। जब हम मूल्य निर्धारण के लिए

बाजार में वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति पर विचार करते हैं तब हमारा आशय इसी प्रकार की माँग से होता है। वस्तु की माँग हमेशा एक मूल्य पर होती है। हम यह नही कहते कि उपभोक्ता एक जोड़ा जूता चाहता है। हम यह कह सकते हैं कि वह एक जोडा जूता १५ रुपये प्रति जोड़े मूल्य पर चाहता है। विभिन्न मूल्यों पर वह वस्तु की अधिक तथा कम मात्रा की माँग कर सकता है।

यद्यपि उपभोक्ता एक दिये हुए मूल्य पर वस्तु की माँग कर सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तव में उसे खरीदे ही। यदि वह दिए हुए मूल्य पर वास्तव मे वस्तु खरीदता है तब उसकी माँग 'प्रभावोत्पादक' हो जाती है। माँग यह दिखलाती है कि उपभोक्ता विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की कितनी इकाइयो को खरीदना पसन्द करेगा तथा प्रभावोत्पादक माँग वास्तव में खरीदी गई वस्तुओ को दिखलाती है। मूल्य के निर्धारण मे माँग महत्वपूर्ण होती है तथा संस्थिति के बिन्दु पर हम प्रभावोत्पादक माँग पर विचार करते हैं।

उपयोगिता. वस्तुओ एवं सेवाओ की मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की शक्ति को उपयोगित कहते हैं। अन्य प्रकार से इसकी परिभाषा वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग से प्राप्त सन्तोष के रूप में की जा सकती है। वास्तव में दोनो परिभाषाओं का आशय एक ही है। मान लीजिए एक साइकिल के कुछ गुण है जिनसे मनुष्य की आवश्यकताएँ सन्तुष्ट होती हैं। परन्तु केवल साइकिल रखने से ही उपयोगिता का सृजन नही होता; इसका प्रयोग करने के लिए उपभोक्ता का होना भी आवश्यक है। बिना उपभोक्ता के साइकिल से सन्तोष अथवा उपयोगिता नही प्राप्त हो सकती। इसी प्रकार यदि व्यक्ति किसी आवश्यकता को पूरा करना चाहता है, परन्तु साइकिल में वे गुण नहीं हैं जिनसे उसकी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि हो सके, तब उसमें उपयोगिता नहीं है। वास्तविक बात यह है कि उपयोगिता एक सन्तोष है चाहे हम उस वस्तु के दृष्टिकोण से—जिसमें सन्तोष प्रदान करने के गुण विद्यमान हैं—विचार करें अथवा उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से विचार करें जिसे वस्तु के प्रयोग से सन्तोष मिल रहा हो।

जिस प्रकार मूल्य विनिमय-अर्घ (Value-in-exchange) का निर्देश करती है उसी प्रकार उपयोगिता प्रयोग-अर्घ (Value-in-use) का। उपयोगिता का कोई शील सम्बन्धी तथा नैतिक महत्व नही होता। यदि कोई वस्तु मानवीय आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करती है तब उसमें उपयोगिता है चाहे वस्तु बुरी हो या भली, चाहे वह मानव जाति के लिए लाभप्रद है अथवा नहीं। यदि सिगरेट तथा शराब किसी विशेष उपभोक्ता को आवश्यकताओं की सन्तुष्टि

करते हैं तब उनमें उपयोगिता है। ये वस्तुएँ व्यक्ति के लिए हानिकर हो भी सकती हैं और नहीं भी। यदि वे हानिकर भी हों तब भी उनमें उपयोगिता है क्योंकि उनसे मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। चूँकि हम अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक रखते हैं इसलिए उपयोगिता के साथ कोई नैतिक महत्व नहीं जुड़ा हुआ है, यह केवल मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का निर्देश करती है चाहे उनका महत्व कुछ भी हो।

सीमान्त और कुल उपयोगिता. 'उपयोगिता' शब्द से हमारा आशय कुल उपयोगिता से होता है अर्थात एक व्यक्ति को उसके पास रखे हुए कुल वस्तुओं द्वारा प्राप्त सन्तोष अथवा उपयोगिता। उपभोक्ता के लिए कमीजों की उपयोगिता उसके पास एक निश्चित समय में सभी कमीजों की उपयोगिता होती है। यहाँ कुल उपयोगिता तथ सीमान्त उपयोगिता का अन्तर समझ लेना चाहिए। उपभोक्ता के एक अधिक अथवा एक कम इकाई वस्तु के उपभोग से कुल उपयोगिता में अन्तर सीमान्त उपयोगिता कहलाती है। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास जब ९ कमीजें हैं तब उसके लिए कुल उपयोगिता १०० है तथा जब उसके पास १० कमीजें हैं तब कुल उपयोगिता १०८ है। सीमान्त उपयोगिता, अर्थात दो दशाओं में कुल उपयोगिता का अन्तर, ८ है। कुल उपयोगिता पूरे संचय (Stock) की उपयोगिता होती है तथा सीमान्त उपयोगिता उपभोक्ता के वस्तु की एक इकाई अधिक अथवा कम मात्रा का उपभोग करने से कुल उपयोगिता में अन्तर है।

यद्यपि सीमान्त उपयोगिता का परिगणन (calculation) सरल है परन्तु कुल उपयोगिता का नहीं। परम्परागत विचारानुसार, कुल उपयोगिता उपभोग की विभिन्न दशाओं पर सीमान्त उपयोगिताओं का योग है।

उपभोग की गई इकाइयों की संख्या	१ +	१ +	१ +	१ +	१
सीमान्त उपयोगिता	२०	१५	१०	८	७

यदि उपभोक्ता के पास एक प्रकार की ५ कमीजें हैं तब परम्परागत विचार के अनुसार कुल उपयोगिता ६० है जो कि विभिन्न उपभोग की दशाओं में प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग है। पहली कमीज की सीमान्त उपयोगिता २०, दूसरी की १५, तीसरी की १०, चौथी की ८ और पांचवीं की ७ है, इस प्रकार कुल उपयोगिता ६० हुई।

कुल उपयोगिता के परिगणन की एक अन्य विधि भी है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति के पास ५ कमीजें हैं जो एक प्रकार की हैं। उसने ७ रुपये प्रति कमीज के हिसाब से खरीदा है। इन ५ कमीजों की कुल उपयोगिता

उपभोक्ता के लिए ३५ होगी। यह इसलिए है क्योंकि एक कमीज का दूसरी कमीज से अन्तर नहीं किया जा सकता (क्योंकि वे सभी एक रूप हैं) और न तो यही कहा जा सकता है कि पहली की उपयोगिता २०, दूसरी की १५, तीसरी की १०, चौथी की ८ है। यदि उपभोक्ता सभी कमीजें खो देता है तब उसका ३५ रुपये का नुकसान हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुल उपयोगिता की प्राप्ति संयुक्त विधि (integration method) से नहीं वरन् गुणा विधि (सीमान्त उपयोगिता में वस्तुओं की संख्या द्वारा गुणा करके) द्वारा कर सकते हैं।

उपयोगिता परिगणन में दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है। जब हम उपभोग पर वस्तु की प्रति इकाई के दृष्टिकोण से विचार करते हैं और उपभोक्ता के अतिरेक का पता लगाते हैं, तब संयुक्त विधि का प्रयोग किया जाता है। गुणा विधि का प्रयोग उस समय किया जाता है जब हमारा सम्बन्ध पूरे समूह से होता है तथा जब हम सभी परिस्थितियों पर विचार करते हैं।

सीमान्त और कुल उपयोगिताएँ एक निश्चित प्रकार से सम्बन्धित हैं। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का उपभोग करता है, तब उसकी सीमान्त उपयोगिता—जैसा कि हम अभी दिखलायेंगे—घटती है जबकि कुल उपयोगिता एक निश्चित समय तक बढ़ती जाती है, यद्यपि ह्रासमान गति से। यदि उपभोक्ता वस्तु की अधिक इकाइयों को रखता जाय तब उसकी उपयोगिता शून्य हो जायेगी तथा एक निश्चित समय के बाद वह ऋणात्मक भी हो जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु किसी प्रकार की उपयोगिता देने के बजाय अनुपयोगिता प्रदान करती है तथा उपभोक्ता पर भार स्वरूप हो जाती है।

इकाइयों की मात्रा	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
१	१००	१००
२	१८०	८०
३	२४०	६०
४	२८०	४०
५	३००	२०
६	३१०	१०
७	३१०	०
८	३०५	—५
९	२८५	—२०
१०	२५५	—३०

ऊपर के उदाहरण में जब व्यक्ति के पास केवल एक ही इकाई है तब सीमान्त उपयोगिता तथा औसत उपयोगिता एक ही है। (१००) उपभोक्ता यदि अधिक इकाइयों का उपभोग करता है तब सीमान्त उपयोगिता घट जाती है तथा ऊपर के उदाहरण में छठवीं इकाई द्वारा प्राप्त सीमान्त उपयोगिता १० हैं। इस सीमा तक सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है लेकिन कुल उपयोगिता बढ़ती जाती है यद्यपि वृद्धि ह्रासमान गति से होती है। सातवीं इकाई की सीमान्त उपयोगिता शून्य है (यह दिखलाती है कि उपभोक्ता के लिए इस इकाई का कोई उपयोग नहीं है) तथा कुल उपयोगिता ३१० पर स्थिर रहती है। यदि वह ८ वीं इकाई का उपभोग करता है तब सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है अर्थात् –५, तथा कुल उपयोगिता घट कर ३०५ हो जाती है। इसको चित्र द्वारा भी निरूपित किया जा सकता है। चित्र १७ में इकाइयो की मात्रा x-axis पर तथा सीमान्त उपयोगिता y-axis पर दिखलाई गई है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अधिक इकाइयो का उपभोग करता जाता है, सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है जब तक वह शून्य नहीं हो जाती जब उसके पास वस्तु OM इकाइयाँ हैं। यदि वह अधिक इकाइयो का उपभोग करता है तब सीमान्त उपयोगिता वास्तव में ऋणात्मक हो जाती है तथा सीमान्त उपयोगिता वक्र x-axis के नीचे दी जाती है। यदि सीमान्त उपयोगिता की उचित परिभाषा दी जाय तब यह प्रारम्भ से ही घटती है। जैसा कि कुछ लोगों द्वारा गलत बतलाया गया है, प्रारम्भ में सीमान्त उपयोगिता का बढ़ना और फिर बाद में कम होना सम्भव नहीं है।
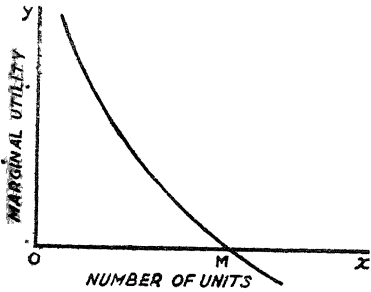
चित्र १७

सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis). आधुनिक युग में सभी आर्थिक विचार सीमान्त विश्लेषण के रूप में किए जाते हैं। किस सीमा तक उपभोक्ता एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रतिस्थापन करेगा इसे जानने के लिए हमें उपभोग की जाने वाली वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताओ तथा मूल्यो की तुलना करनी होगी। इसी प्रकार संस्थिति की दशा की प्राप्ति के लिए हमें सीमान्त लागत तथा सीमान्त आगम (revenue) की तुलना करनी होती है।

वितरण के सिद्धान्त में हम सीमान्त उत्पादकता की तुलना मजदूरी दर से करते हैं। आवश्यकताओं की सन्तुष्टि अथवा वस्तुओं के उत्पादन में प्रमुख समस्या इस बात का पता लगाना है कि प्रतिस्थापन की प्रक्रिया कहाँ समाप्त होगी तथा किस प्रकार से होगी। ऐसा करने में हमारा सम्बन्ध 'कुल' से नहीं वरन् 'सीमान्त' से होता है। यदि हम 'दोनों' पर विचार करें तब संस्थिति की प्रक्रिया उतनी अधिक सरल नहीं होगी तथा हम यह ठीक-ठीक नहीं जान सकेंगे कि किस प्रकार तथा कहाँ पर उपभोक्ता अथवा उत्पादक प्रतिस्थापन की प्रक्रिया को रोकेगा। यदि हम समस्या पर सीमान्त सन्तुलन के दृष्टिकोण से विचार करें तब हम देख सकते हैं कि संस्थिति की प्राप्ति किस प्रकार से होती है तथा संस्थिति की एक दशा से दूसरी दशा में सन्तुलन किस प्रकार होता है।

उपभोक्ता के चुनाव (consumer's choice) के सिद्धान्त (उपभोग) में सीमान्त विश्लेषण का विशेष महत्व है। जैसा कि हम अगले अध्याय में बतलाएँगे, किसी वस्तु का मूल्य (विनिमय-अर्घ) उसकी उपयोगिता (प्रयोग-अर्घ) पर आधारित है। जितनी अधिक उपयोगिता होगी उतनी ही अधिक उसके मूल्य के होने की सम्भावना है तथा इसके विपरीत जितनी कम उपयोगिता होगी उतना ही कम मूल्य। परन्तु हवा, जल तथा सूर्य की रोशनी आदि वस्तुओं की उपयोगिता यद्यपि अधिक होती है फिर भी इनका मूल्य शून्य होता है क्योंकि इन वस्तुओं को हम बिना मूल्य के पा जाते हैं। यह विरोधाभास उत्पन्न करता है। विरोधाभास ठीक हो सकता है यदि हम कुल उपयोगिता की नहीं वरन् सीमान्त उपयोगिता की तुलना मूल्य से करें। प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं जैसे हवा, जल तथा सूर्य की रोशनी में पूर्ति की गई मात्रा मांग से इतनी अधिक होती है कि उपभोक्ता के लिए इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है। इन वस्तुओं की यद्यपि कुल उपयोगिता बहुत अधिक होती है परन्तु सीमान्त उपयोगिता शून्य, इसलिए हम शून्य मूल्य देते हैं अर्थात हम बगैर लागत के पा जाते हैं। प्रति इकाई वस्तु का मूल्य जो उपभोक्ता देता है वह कुल उपयोगिता पर नहीं वरन् सीमान्त उपयोगिता पर आधारित है। यदि हम समस्या पर इस प्रकार से विचार करते हैं तब विरोधाभास अदृश्य हो जाता है। यदि हवा, जल तथा सूर्य की रोशनी पर नियन्त्रण कर उनकी पूर्ति इस प्रकार से इकाई प्रति इकाई की जाती कि कुल पूर्ति कुल मांग से सदैव कम होती तब पूर्ति करने वाला व्यक्ति अवश्य ही उनका दाम लेता। वास्तव में जल, जो कि प्रकृति की निःशुल्क देन है तथा जिसका मूल्य नदी के किनारे तथा तालाब में कुछ नहीं होता, जब हमारे मकान में म्युनिसिपल जल दाय गृह (Waterworks) द्वारा लाया जाता है तब उसके लिए दाम देना पड़ता है।

यही बात सूर्य की रोशनी के बारे में भी होगी यदि कोई इसकी पूर्ति पर नियन्त्रण कर इकाई प्रति इकाई इसे बेचे।

गोसेन का नियम (Gossen's law). क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम का वर्णन व्यवस्थित ढंग से सर्व प्रथम फ्रान्सीसी अभियंता (Engineer) गोसेन ने जो बाद में अर्थशास्त्री हो गया किया था। नियम का वर्णन करते समय गोसेन ने प्रातःराशन मेज (Breakfast table) से उदाहरण लिया, सम्भवतः इसी कारण बहुत से लेखक जब इस नियम पर विचार करते हैं तब भोजन का उदाहरण देते हैं। उसके द्वारा वर्णन किया गया नियम कुछ दी हुई दशाओं में ही लागू होता है। इसलिए गोसेन द्वारा वर्णन किए हुए सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम को समझने के लिए हमें निम्नलिखित परिकल्पनाएँ (Assumptions) करना चाहिएँ।

(१) व्यक्ति की रुचि स्थिर रहती है। इसका अर्थ यह है कि जब उपभोक्ता वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों का उपभोग करता है तब उसकी रुचि अपरिवर्तित रहती है। यह परिकल्पना आवश्यक है क्योंकि जहाँ तक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, उपभोक्ता रुचियों का समूह है तथा यदि उसकी रुचि में परिवर्तन होता है तब हम वास्तव में अन्य व्यक्ति पर विचार कर रहे हैं।

(२) व्यक्ति की आय स्थिर रहती है। इसका अर्थ यह है कि जब वह किसी वस्तु की अधिक इकाइयों का उपभोग करता है तब न केवल उसकी आय वरन् उसके पास अन्य वस्तुओं की पूर्ति भी स्थिर रहती है। यदि व्यक्ति की आय तथा उसके पास अन्य वस्तुओं की मात्रा में परिवर्तन होता है तब इसका प्रभाव उपभोक्ता की रुचि तथा अधिमान श्रेणी (Scale of Preference) परिवर्तन करने में अवश्य पड़ेगा। धनी व्यक्ति का बर्ताव निर्धन व्यक्ति से भिन्न होता है। किसी व्यक्ति विशेष के बर्ताव के निरीक्षण करने में, जब वह वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करता है, हम इसलिए यह मान लेते हैं कि उसकी आय स्थिर है।

(३) चूँकि मूल्य में कमी हो जाने के कारण उपभोक्ता वस्तु की अधिक इकाइयों को लेता है इसलिए हम यह मान लेते हैं कि बाजार में अन्य वस्तुओं का मूल्य अपरिवर्तित रहता है। यह परिकल्पना (Assumption) हम इसलिए करते हैं कि जब हम जिस वस्तु पर विचार कर रहे हैं उसके मूल्य में कमी होने के साथ-साथ अन्य वस्तुओं के मूल्य में भी कमी हो जाती है तब उपभोक्ता अन्य वस्तुओं को यदि वे अधिक सस्ती हो गई हैं पसन्द कर सकता है। इसलिए वस्तु

विशेष के प्रति उपभोक्ता की प्रतिक्रिया (reaction) को देखने के लिए हम अन्य वस्तुओं के मूल्यों को स्थिर मान लेते हैं।

(४) हम यह मानते हैं कि उपभोग की पूरी प्रक्रिया एक ही समय समाप्त हो जाती है। इसका वास्तव में अर्थ यह होता है कि यदि एक बार उपभोग की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई तब उपभोक्ता बीच में उसे रोक नहीं देता तथा उसे वह उस समय तक जारी रखता है जब तक कि वह समाप्त नहीं हो जाती। गोसेन के नियम में हम उपभोग पर १० बजे प्रातः तथा फिर ३ बजे सायंकाल में नहीं विचार कर सकते क्योंकि मध्याह्न तक भोजन की मांग पुनः उत्पन्न हो जायेगी तथा इसका अर्थ यह होगा कि हम बिल्कुल भिन्न व्यक्ति पर विचार कर रहे हैं।

इन परिकल्पनाओं के भीतर हम गोसेन द्वारा वर्णित ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के कार्य को देख सकते हैं। आइए हम उस व्यक्ति के बर्ताव पर विचार करें जो भोजन करता है। जब व्यक्ति खाना प्रारम्भ करता है तब उसे सब्जी, दाल तथा चटनी इत्यादि की निश्चित मात्रा के साथ एक चपाती से सर्वाधिक सन्तोष मिलता है। जब वह दूसरी चपाती खाता है तब—यदि अन्य बातें स्थिर रहें—उसे कम सन्तोष मिलेगा तथा तीसरी चपाती से उसे और भी कम सन्तोष मिलेगा तथा इसी प्रकार अगली चपातियों से प्राप्त सन्तोष क्रमशः घटता जायेगा।

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम को या तो सीमान्त उपयोगिता 'सारणी' अथवा चित्र द्वारा (जैसा कि चित्र १७ में) दिखलाया जा सकता है।

इकाइयों की मात्रा	सीमान्त उपयोगिता
१	१००
२	८०
३	६०
४	४०
५	२०
६	१०

जब उपभोक्ता वस्तु की अधिक इकाइयों का उपयोग करता है तब, यदि अन्य बातें स्थिर रहें, वस्तु की सीमान्त उपयोगिता पहले १०० से घटकर ८०, ६०, ४०, २० तथा १० हो जाती है।

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कारण. अब हमें इस बात का पता लगाना है कि जब अन्य बातें स्थिर रहती हैं तब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ

क्यों ह्रासमान सन्तोष प्रदान करती हैं। गोसेन ने इस नियम को ऊपर वर्णन की गई आवश्यकताओं की दूसरी विशेषता—प्रत्येक आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है—की सहायता से सिद्ध किया। गोसेन के ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के प्रमाण (proof) को हम समझ सकते हैं यदि हम इस बात पर तीन विभिन्न अवस्थाओं में विचार करें—

प्रथम अवस्था (Stage)—सन्तोष अथवा उपयोगिता आवश्यकताओं की तीव्रता पर आधारित है। आवश्यकताओं की तीव्रता मनुष्य की शारीरिक क्षमता पर आधारित है। जब उपभोक्ता वस्तु की पहली इकाई का उपभोग करता है तब उसकी आवश्यकता अधिक तीव्र होती है अत: उसे पहली इकाई सर्वाधिक सन्तोष प्रदान करती है।

द्वितीय अवस्था—उपभोक्ता के पहली इकाई का उपभोग कर लेने के उपरान्त उसकी आवश्यकताओं की तीव्रता उस सीमा तक कम हो जाती है।

तृतीय अवस्था—जब उपभोक्ता दूसरी इकाई का उपभोग करता है तब उसकी आवश्यकता कम तीव्र हो जाती है। चूँकि सन्तोष की मात्रा आवश्यकताओं की तीव्रता पर आधारित है इसलिए वस्तु की दूसरी इकाई पहली इकाई की अपेक्षा कम सन्तोष प्रदान करेगी। जब उपभोक्ता वस्तु की और अधिक इकाइयों का उपभोग करता है तब उसकी आवश्यकताओं की तीव्रता में और कमी हो जाती है तथा अतिरिक्त इकाइयाँ और भी कम सन्तोष प्रदान करती हैं। यही है ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम।

नियम के अपवाद (Exceptions of the law). इस प्रकार से वर्णन किए गए ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कोई भी अपवाद नहीं है। जिन अपवादों का वर्णन बहुधा किया जाता है वे नियम को गलत समझने के कारण हैं:—

(१) यह कहा जाता है कि दूसरे गाने से अधिक सन्तोष मिल सकता है तथा तीसरे गाने से दूसरे की अपेक्षा और भी अधिक सन्तोष मिल सकता है जब हम अपने मित्र के गाने को सुनते हैं; क्योंकि जब हम अधिक गानों को सुनते हैं तब हम उनका अधिक अधिमूल्यन (appreciate) करना प्रारम्भ कर देते हैं अथवा सम्भवत: हम अपने मित्र के राग को अधिकाधिक पसन्द करते हैं। यही बात कविताओं के पठन में भी सही हो सकती है तथा हम दूसरी बार के कविता पाठ को पहले से अधिक तथा तीसरी बार के कविता पाठ को दूसरे से अधिक पन्सद करते हैं। इसी श्रेणी के अन्तर्गत एक कंजूस के बारे में भी विचार कर सकते हैं जो द्रव्य को उसकी मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ अधिकाधिक पसन्द

करता है। लेकिन इन दृष्टान्तों में ह्रासमान उपयोगिता नियम का उल्लंघन नहीं हुआ है। यह नियम कुछ दिए हुए निश्चित परिकल्पनाओं के भीतर ही सही होता है। उन परिकल्पनाओं में एक परिकल्पना, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, उपभोक्ता की रुचि का स्थिर होना भी है। इन सभी दृष्टान्तों में वस्तु की दूसरी इकाई के उपभोग के समय उपभोक्ता की रुचि बदल गई है। यदि आप अपने मित्र से एक गाना दूसरी बार सुनते हैं और आप उसे पहली बार सुनने की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं तब इसका कारण यह है कि आपने गानों को पहले की अपेक्षा अधिक पसन्द करना प्रारम्भ कर दिया है अर्थात् आप की संगीत की रुचि बदल गई है। परन्तु यदि आप संगीत को पहले जैसे ही तीव्रता से पसन्द करें तब दूसरे गाने से निस्सन्देह आपको कम सन्तोष मिलेगा। वास्तव में होता क्या है कि दूसरे समय संगीत अथवा कविता पाठ सुनते समय आपने संगीत अथवा कविता को अधिक पसन्द करना प्रारम्भ कर दिया है; इसी कारण दूसरे गाने अथवा दूसरी बार कविता पाठ से आपको अधिक सन्तोष मिलता है। यही बात एक कंजूस के बारे में भी है क्योंकि परिभाषा से ही कंजूस व्यक्ति वह है जो कि द्रव्य को उतना ही अधिक पसन्द करता है जितना ही अधिक उसके पास द्रव्य होता है। इन सभी दृष्टान्तों में व्यक्ति की रुचि परिवर्तित हो गई है। यह हम लोगों की परिकल्पना के प्रतिकूल है जिसमें यह माना गया है कि उपभोक्ता की रुचि स्थिर होनी चाहिए। ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त गलत नहीं है। इन सभी दृष्टान्तों में यह नियम साधारणतया लागू नहीं होता। प्रत्येक नियम केवल दी हुई निश्चित दशाओं के अन्तर्गत ही लागू होता है और यदि वे दशाएँ नहीं पाई जातीं तब नियम नहीं लागू होता। अपवादों का प्रश्न तभी उठता है जब कि नियम लागू होता है।

(२) कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि उपभोक्ता वस्तु की अत्यन्त छोटी मात्रा का उपभोग करता है तब पहले उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती है और बाद में कमी। इसे ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम का एक अपवाद कहा जाता है। लेकिन ऐसा है नहीं। इस नियम को लागू करते समय हमें हमेशा वस्तु की एक 'उचित मात्रा' लेनी चाहिए। भौतिक विज्ञान में यह इकाई सदैव निश्चित होती है जैसे मन या फुट। लेकिन अर्थशास्त्र में यह इकाई निश्चित नहीं है वरन् विचाराधीन आवश्यकताओं पर आधारित है। भौतिक विज्ञान में पानी की इकाई गैलन होती है लेकिन अर्थशास्त्र में ऐसा नहीं है। हम लोगों के प्रयोजन के लिए एक इकाई की परिभाषा वस्तु की न्यूनतम मात्रा, जो किसी विशेष आवश्यकता के संलक्ष्य भाग (perceptible portion) की सन्तुष्टि करती है, के

रूप में भी की जा सकती है। उदाहरणार्थ एक रसायनशास्त्री के लिए जो जल का विश्लेषण करता है, जल की एक बूँद एक इकाई हो सकती है। इसके विपरीत एक प्यासे व्यक्ति के लिए जल की एक बूँद एक इकाई नहीं हो सकती क्योंकि इसके द्वारा आवश्यकताओं के ग्राह्य अंश की सन्तुष्टि नहीं हो सकती है। जल की एक बूँद को तृषा की तृप्ति के लिए एक वस्तु बिल्कुल ही नहीं कहा जा सकता। हम लोगों को एक गिलास पानी के चौथे हिस्से अथवा सोलहवें हिस्से को एक इकाई मानना चाहिए क्योंकि केवल इसी मात्रा द्वारा ही व्यक्ति के तृषा के संलक्ष्य अंश की पूर्ति की जा सकती है। एक व्यक्ति के लिए जो स्नान करना चाहता है एक गिलास पानी का चौथा हिस्सा एक इकाई नहीं हो सकता, उसके लिए एक बाल्टी पानी एक इकाई होगी। एक व्यक्ति जो तैरना चाहता है उसके लिए एक इकाई एक तालाब होगी तथा एक जहाज के लिए पूरा समुद्र ही एक इकाई होगा। इसलिए यह कहना सत्य नहीं होगा कि जल की उपयोगिता एक प्यासे व्यक्ति के लिए उस समय तक बढ़ती जाती है जब तक वह बूँद प्रति बूँद जल का उपभोग एक गिलास पानी के चतुर्थ अंश तक नहीं कर लेता, तथा इसके बाद उपयोगिता में कमी होने लगती है। एक प्यासे व्यक्ति के लिए जल की एक बूँद एक इकाई नहीं कही जा सकती इसलिए हम इसपर विचार नहीं करेंगे। यदि वह एक गिलास पानी का चतुर्थांश उपभोग करता है और वह दूसरे चतुर्थांश जल को पीता है, तब इसके द्वारा प्राप्त उपयोगिता पहले गिलास जल की उपयोगिता से अवश्य ही कम होगी।

इसी प्रकार की संभ्रम (confusion) इस कथन में भी निहित है कि स्टैम्प एकत्रित करने वाले व्यक्ति के लिए अतिरिक्त स्टैम्पों की उपयोगिता उस समय तक बढ़ती जायेगी जब तक वह एक निश्चित प्रकार के पोस्ट स्टैम्प के पूरे सेट को इकत्रित नहीं कर लेता। यहाँ पर यदि आवश्यकता पूरे सेट की है तब हम एक स्टैम्प को एक इकाई नहीं मान सकते। इसलिए यह जानने के लिए कि पूरे सेट की उपयोगिता का क्या होगा हमें स्टैम्प के पूरे सेट को ध्यान में रखना चाहिए और तब उन्हीं स्टैम्पों के दूसरे सेट को। इस दशा में द्वितीय सेट की उपयोगिता प्रथम सेट की उपयोगिता से कम होगी। यदि हमारी आवश्यकता पूरे सेट की न होकर एक स्टैम्प की है तब दूसरे स्टैम्प की उपयोगिता पहले स्टैम्प की उपयोगिता से कम होगी तथा हम इस बात पर नहीं विचार कर सकते कि इसके द्वारा सेट पूरा किया जा रहा है। या तो व्यक्ति की आवश्यकता एक स्टैम्प की अथवा पूरे सेट की होती है। हम तर्क करते समय एक स्टैम्प की आवश्यकता को पूरे सेट की आवश्यकता से बदल कर यह तर्क नहीं दे सकते कि ह्रासमान

सीमान्त उपयोगिता नहीं लागू होती। इस नियम को लागू करने में अथवा अर्थ-शास्त्र के किसी भी नियम को लागू करने में हमें आगे बढ़ने के पूर्व इकाई की परिभाषा निश्चित रूप से करनी होगी अन्यथा परस्पर विरोधी परिणाम अवश्य होंगे।

(३) मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास टेलीफोन है और साथ-साथ शहर के दो सौ व्यक्तियों के पास भी टेलीफोन है। इनसे उपभोक्ता को एक निश्चित मात्रा में उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिए २०० व्यक्तियों के बजाय ३०० व्यक्ति टेलीफोन लगवा लेते हैं। यह कहा जाता है कि व्यक्ति के टेलीफोन की उपयोगिता में अब वृद्धि हो गई क्योंकि अब वह यदि चाहे तो दो सौ टेलीफोन कनेक्शन लेने के बजाय ३०० टेलीफोनों से कनेक्शन ले सकता है। परन्तु यह उदाहरण गलत है। ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम पर विचार करते समय तथा यह जानने के लिए कि उपयोगिता में कमी हो रही है अथवा नहीं, हमें सदैव वस्तु की अतिरिक्त इकाई लेनी चाहिए। ऊपर के उदाहरण में यदि एक व्यक्ति के पास एक टेलीफोन है तो इस नियम की क्रियाशीलता को देखने के लिए उसे दूसरा टेलीफोन लगवाना चाहिए और साथ साथ अन्य बातों को स्थिर भी रहना चाहिए अर्थात् टेलीफोन कनेक्शन की मात्रा स्थिर (२००) रहनी चाहिए। ऐसी दशा में दूसरे टेलीफोन से व्यक्ति को पहले टेलीफोन की अपेक्षा बहुत कम उपयोगिता होगी।

गोसेन के नियम की आलोचनाएँ. इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि गोसेन द्वारा वर्णित ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को ठीक-ठीक समझा जाय तब इसके कोई भी अपवाद नहीं है; लेकिन इसकी अनेक रीति सम्बन्धित आलोचनाएँ भी की गई है।

प्रथमतः गोसेन का नियम एक दिए हुए निश्चित समय में ही लागू होता है; अन्य शब्दों में, जब उपभोग की पूरी प्रक्रिया एक ही समय समाप्त होती है। लेकिन व्यवहार में लोग वस्तु का उपभोग एक दिए हुए निश्चित समय में नहीं करते। वे एक समय तक उसका उपभोग कर सकते हैं। इसलिए गोसेन का नियम बहुत ही अयथार्थ (unrealistic) है तथा यह नहीं बतलाता कि ऐसे समय में वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों की उपयोगिता का क्या होना है जब कि उपभोक्ता के पास पर्याप्त समय है।

दूसरे, गोसेन का नियम मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर आधारित है। एक दिए हुए निश्चित समय में प्रत्येक आवश्यकता सन्तुष्ट की जा सकती है। लेकिन जब हम समय की लम्बी अवधि पर विचार करते हैं तब सन्तुष्टि

(satiability) मानवीय आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषता नहीं होती वरन् आवश्यकताएँ असीम होती हैं तथा व्यक्ति के पास पर्याप्त संसाधन नहीं होते जिनसे वह अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अतः उसे दुर्लभता की अवस्था का सामना करना होता है। आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं बल्कि संसाधनों की दुर्लभता (scarcity) को ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम का आधार होना चाहिए।

तीसरे, गोसेन के नियम में तार्किक त्रुटि भी है। इसमें यह बतलाया गया है कि यदि अन्य बातें स्थिर रहें तब वस्तु की अतिरिक्त इकाई कम सन्तोष प्रदान करती है क्योंकि मनुष्य की शारीरिक क्षमता सीमित होती है। अन्य शब्दों में, जब व्यक्ति एक इकाई का उपभोग करता है तब दिए हुए उपभोग करने की क्षमता में कमी हो जाती है इसलिए दूसरी इकाई कम सन्तोष प्रदान करती है। यदि हम यह कह कर प्रारम्भ करें कि मनुष्य की शारीरिक क्षमता सीमित होती है तब यह स्वतः निष्कर्ष निकलता है कि एक इकाई के उपभोग-करने के उपरान्त शारीरिक क्षमता में कमी हो जाती है तथा अतिरिक्त इकाइयाँ कम सन्तोष प्रदान करती हैं। नियम को सिद्ध करने के बजाय गोसेन ने उसे स्वीकार कर लिया जब उसने यह माना कि मनुष्य की शारीरिक क्षमता सीमित होती है। गोसेन का नियम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता की अवस्था का स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं देता।

एक वैकल्पिक विवरण (An alternative statement). दुर्लभता पर आधारित ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का वर्णन अन्य विधि से भी करना सम्भव है। मेन्जर (Carl Menger) के विचारों पर आधारित इस नियम का वर्णन इसे कृत्रिम (artificial) तथा संकुचित बनाए बगैर किया जा सकता है। इस प्रयोजन के लिए हम मानते हैं कि :—

(१) हममें से प्रत्येक की आय उसकी आवश्यकता से कम है। अन्य शब्दों में, दुर्लभता है (साधनों की) तथा आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्द्धी हैं। यह एक कृत्रिम परिकल्पना (artificial assumption) नहीं हैं; (साधनों की) दुर्लभता वास्तव में होती है। वास्तव में सभी आर्थिक अध्ययन दुर्लभता की इस मौलिक दशा पर आधारित हैं।

(२) प्रत्येक व्यक्ति के पास उपभोग की योजना के लिए समय होता है जिसमें उसके लिए आवश्यकताओं को अवरोही क्रम (descending order of importance) में विन्यस्त करना सम्भव है। हममें से प्रत्येक एक समय तक

उपभोग की योजना बनाता है चाहे हम विधिवत योजना बनाएं अथवा अपने आप बिना सोचे समझे। प्रतिदिन मजदूरी प्राप्त करने वाला अपने द्रव्य के प्रतिदिन व्यय करने की योजना बनाता है तथा साप्ताहिक मजदूरी प्राप्त करने वाला व्यक्ति अपने साप्ताहिक व्यय की योजना बनाता है। एक विद्यार्थी—जो कि प्रत्येक मास एक निश्चित द्रव्य की मात्रा पाता है—को अपने एक माह के व्यय की योजना बनानी होती है। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो वार्षिक व्यय की योजना बनाते हैं तथा कुछ इससे भी लम्बी अवधि की। योजना की अवधि चाहे जो कुछ भी हो प्रत्येक व्यक्ति की एक अधिमान श्रेणी (Scale of preference) होती है और जैसा कि हमने आवश्यकताओं की चौथी विशेषता का वर्णन करते समय देखा था, वह अपनी आवश्यकताओं को महत्ता के अवरोही क्रम से विन्यस्त कर सकता है। इसका अर्थ यह होता है कि व्यक्ति इस बात का निर्णय करने योग्य है कि उसे किस कार्य को पहले करना चाहिये और किसे बाद में।

(३) हम यह मानते है कि उपभोक्ता का बर्ताव विवेकपूर्ण है। इसका कोई नैतिक महत्व नहीं हैं परन्तु इसका केवल इतना ही अर्थ है कि उपभोक्ता ने अपने सन्तोष को अधिकतम करने का निश्चय कर लिया है। अपने दिये हुए संसाधनों के साथ वह वही करेगा जिससे उसे अन्य कार्यों के करने की अपेक्षा अधिक संतोष मिलता है। यह बहुत सम्भव है कि कुछ व्यक्ति अविवेकी हो सकते हैं तथा अपने सन्तोष को अधिकतम करना नहीं चाहते, लेकिन ऐसे विरले ही व्यक्ति होते हैं। इसलिए ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के नियम पर विचार करते समय उपभोक्ता के विवेकपूर्ण बर्ताव को मानना सर्वथा उचित है।

सुविधा के लिए हम एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लेते हैं जो अपने पूरे दिन के उपभोग की योजना बनाता है और जिसके पास व्यय करने के लिए १० रुपये हैं तथा उनका व्यय वह दो रुपया प्रति इकाई के रूप में करता है। व्यय वह किस प्रकार से करे इसका निर्णय करने के लिए उपभोक्ता को यह निश्चय करना पड़ेगा कि वह कौन सा कार्य पहले करे और कौन सा बाद में। मान लीजिए उपभोक्ता की एक अधिमान श्रेणी (scale of preference) है जैसा कि चित्र १८ में दिखलाया गया है अर्थात् वह सिनेमा (A) को भोजन (B) से अधिक पसन्द करता है तथा भोजन को पीने (C) की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है तथा पीने को पुस्तकों (d) की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। चूँकि सिनेमा

चित्र १८
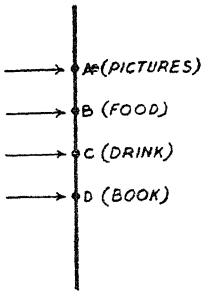
देखना अन्य वस्तुओं से अधिक पसन्द किया जाता है अतः उपभोक्ता पहले दो रुपयों को सिनेमा पर व्यय करेगा इसके बाद उसके सम्मुख एक विकल्प उपस्थित होता है कि उसे अन्य इकाई को दूसरे सिनेमा देखने पर व्यय करना चाहिये अथवा भोजन पर जिसका महत्व क्रम में द्वितीय स्थान है। विवेकता की परिकल्पना से उपभोक्ता पहले व्यय दूसरी बार सिनेमा जाने के पूर्व भोजन पर करेगा फिर पीने पर तथा इसके बाद पुस्तक पर। उसका बर्ताव उसी प्रकार होगा जैसा कि नीचे दी गई प्रथम दशा में दिखलाया गया है।

प्रथम दशा :—

$$A_1 \quad B_1 \quad C_1 \quad D_1 \quad A_2$$
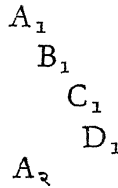
इस प्रकार से उपभोक्ता के बर्ताव की सम्भावना दो कारणों से है : (क) उसके पास सीमित समय तथा द्रव्य है तथा अनेक आवश्यकताएँ जिन्हें वह एक साथ पूरा नहीं कर सकता सन्तुष्टि के लिये जोर पकड़ रही हैं। वह अपने संसाधनों से सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त करना चाहता है जिन्हें वह उस समय नहीं प्राप्त कर सकता जब वह अपना सब द्रव्य A वस्तु (सिनेमा) की अतिरिक्त इकाइयों पर करता है। किसी विशेष अनुभव की पुनरावृत्ति (repitition) नवीन अनुभव की अपेक्षा कम मनोरंजक होती है क्योंकि अधिकाधिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से उपभोक्ता को सर्वाधिक सन्तोष मिलता है। इसलिए अपने सीमित संसाधनों से उपभोक्ता अधिक से अधिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास करेगा। (ख) उपभोक्ता की विभिन्नता की इच्छा इस प्रवृत्ति को और भी बलिष्ट बना देती है। प्रत्येक उपभोक्ता अपने संसाधनों से अधिक विभिन्नताओं (Varieties) को प्राप्त करना चाहता है।

पहली दशा में, जैसा कि उपभोक्ता के अधिमान श्रेणी में दिखलाया गया है, B_1, C_1, तथा D_1 वस्तुओं से A_1 की अपेक्षा कम सन्तोष मिलता है। चूँकि अन्य वस्तुओं B_1, C_1 तथा D_1 को लेने के पश्चात् उपभोक्ता A_2 (दूसरा सिनेमा) वस्तु को लेता है अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि A_2 की अपेक्षा A_1 से कम सन्तोष मिलता है। यही है ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम।

वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों से कम सन्तोष इस कारण नहीं मिलता कि मनुष्य की शारीरिक क्षमता सीमित होती है वरन् दुर्लभता के कारण कम सन्तोष मिलता है, तथा उपभोक्ता अपने सीमित संसाधनों से अपनी सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं कर सकता। उसके समय तथा संसाधनों पर आवश्यकताओं के जोर पड़ने के कारण उसी अनुभव की पुनरावृत्ति से नवीन अनुभव की अपेक्षा कम सन्तोष मिलता है। यही ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का आधार है।

दूसरी दशा :—

$$A_1$$
$$A_2$$
$$A_3$$
$$A_4$$

अब हम दूसरी सम्भावना पर विचार करें (जैसा कि दूसरी दशा में दिखलाया गया है) जब उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के लिए बगैर केवल सिनेमा देखने पर ही हठ करता है। पहले वह पहला सिनेमा (A_1) फिर दूसरा (A_2) और इसके बाद तीसरा (A_3) सिनेमा देखता है। इस चरम दशा (extreme case) में भी जो कि हमारे 'विवेकता' की परिकल्पना से निरसित (eliminate) हो जाता है—हम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कार्य विधि को देख सकते हैं। चूँकि उपभोक्ता जब दूसरी बार सिनेमा (A_2) देखने जाता है तब उसके पास द्रव्य और समय सीमित होते हैं इस लिए उसके सम्मुख एक विकल्प (alternative) उपस्थित होगा कि वह सिनेमा देखने जाय अथवा भोजन (B_1) करे। यद्यपि वह जानबूझ कर दूसरी बार सिनेमा देख सकता है फिर भी जब वह दूसरी बार सिनेमा देखने (A_2) का निर्णय करता है तब उसके सम्मुख खाद्य पदार्थों के क्रय करने का प्रश्न उपस्थित होगा ही। इस प्रकार जब वह दूसरी बार सिनेमा देखने (A_2) का निर्णय करता है तब इसकी स्पर्धा भोजन (B_1) से होती है, और यद्यपि एक क्षण के लिए वह भोजन करने की अपेक्षा दूसरी बार सिनेमा देखने का निर्णय कर सकता है फिर भी दूसरे सिनेमा तथा भोजन में सन्तुष्टि के लिए संघष होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि चरम की दशा में भी जब उपभोक्ता का बर्ताव अविवेक पूर्ण है तथा वह भोजन करने (B_1) की अपेक्षा दूसरी बार सिनेमा (A_2) देखता है तब एक क्षण के लिए दूसरा सिनेमा (A_2) तथा भोजन (B_1) दोनों उसके एक ही अधिमान श्रेणी में होंगे। परिकल्पना के अनुसार B_1, A_2 की अपेक्षा कम सन्तोष प्रदान करता है, तथा एक क्षण के लिए B_1 तथा A_2 एक ही अधिमान श्रेणी में हैं अर्थात् इन दोनों से उसे समान सन्तोष मिलेगा यद्यपि वह B_1 की अपेक्षा

A_2 को अधिक पसन्द करता है। इस प्रकार A_2 से B_1 के बराबर सन्तोष मिलता है लेकिन B_1 से A_1 की अपेक्षा कम सन्तोष मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि A_2 से A_1 की अपेक्षा कम सन्तोष मिलता है। यही है ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम।

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को इस प्रकार से वर्णन करने का ढंग गोसेन के नियम के दोषों से मुक्त है। इस प्रकार हम उपभोक्ता के बर्ताव को न केवल एक दिए हुए समय में ही वरन् उपभोक्ता की योजना की पूरी अवधि तक देख सकते हैं। यदि उपभोक्ता २४ घण्टे के लिये योजना बनाता है तब इस २४ घण्टे के भीतर वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों से कम सन्तोष मिलेगा। यदि वह एक वर्ष या अधिक तक के लिए योजना बनाने में समर्थ है जो कि वास्तव में अत्यन्त कठिन है, क्योंकि बहुत समय पहले योजना बनाने में उपभोक्ता को पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जो कि उसके पास नहीं हो सकता—तब ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम एक वर्ष अथवा इससे अधिक अवधि तक लागू होगा। दूसरे, इस विधि से नियम को वर्णन करने में उपभोक्ता की रुचि तथा अन्य अवस्थाएँ बदल सकती हैं और जब उपभोक्ता पहले से ठीक-ठीक ये परिवर्तन क्या हैं तथा ये किस प्रकार से होंगे, इनको जानता है तब वह उपभोग की योजना बनाते समय उन्हें ध्यान में रख सकता है। ऐसी ही दशाओं में जब उसकी रुचि, आय तथा अन्य अवस्थाओं में अप्रत्याशित परिवर्तन हो जाता है तब उसे योजना पुनः बनानी होगी। मान लीजिए कि एक व्यक्ति यह जानता है कि 'सैम्सन डिलिलाह' सिनेमा, जिसे वह बहुत अधिक देखना पसन्द करता है, भविष्य में किसी तारीख को आने वाली है। वह अपने उपभोग की योजना बनाते समय इस बात को ध्यान में रखेगा। मान लीजिए उसकी जानकारी बिना ही सिनेमा शहर में एकाएक आ जाता है तब उसे 'सैम्सन डिलिलाह' के लिए सब से पहले एक नवीन योजना बनानी होगी। इस प्रकार रुचि, आय, मूल्य तथा अन्य दशाओं में परिवतन का परिणाम यह होता है कि उपभोक्ता को उपभोग की नवीन योजना बनानी होती है। जब तक उपभोक्ता की एक निश्चित योजना होती है उसे वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों के उपभोग से कम सन्तोष मिलेगा। यह बिल्कुल सम्भव है कि रुचि, आय तथा मूल्य की परिवर्तित दशाओं से उपभोक्ता की अधिमान श्रेणी बहुत समय तक एक सी न रहे। परन्तु इससे ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता की पुष्टता (validity) में कमी नहीं होती। जब तक उपभोक्ता की एक निश्चित अधिमान श्रेणी होती है तब तक इस नियम के कार्य प्रणाली को स्पष्टतया देखा जा सकता है। जब अधिमान श्रेणी बदल जाती है तब हमें ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को

नए रूप से लागू करना होता है। इससे नियम अमान्य अथवा त्रुटिपूर्ण नहीं हो जाता।

मेन्जर के विचारों पर आधारित इस नियम के वर्णन करने की विधि गोसेन के नियम से अधिक उत्तम है क्योंकि यह मनुष्य की शारीरिक क्षमता के सीमित होने के बजाय दुर्लभता की मूलभूत अवस्था पर आधारित है। गोसेन का नियम संकुचित है तथा यह एक निश्चित क्षण में ही लागू हो सकता है। उचित ढंग से वर्णित ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम अधिक व्यापक है तथा सामान्य रूप से लागू होता है।

माँग के नियम से इसका सम्बन्ध. ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम उपभोक्ता के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। यह उपभोक्ता को बतलाता है कि एक ही वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों से सन्तोष नवीन वस्तुओं की अपेक्षा कम होता है और इस प्रकार अच्छे प्रकार से व्यय की योजना बनाने में उपभोक्ता की सहायता करता है।

माँग का नियम, जिसके आधार पर पूर्ति के नियम के साथ-साथ उत्पादक मूल्य तथा उत्पाद (product) का निर्धारण करता है, ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम पर आधारित है। वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ उपभोक्ता को कम सन्तोष प्रदान करती हैं, इसलिए वह उसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों के लिए उतना मूल्य देने के लिए नहीं तैयार होता है जितना कि उसने पहली इकाइयों के लिए दिया। इसका अर्थ यह है कि वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों का, उपभोक्ता को बेचने के लिए, उत्पादक को मूल्य घटाना होगा। इसलिए माँग का नियम यह बतलाता है कि यदि अन्य बातें स्थिर रहें तब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयां उसी मूल्य पर नहीं बिकेंगी जिस पर पहले बिकती थीं। इसलिए वस्तु की अधिक इकाइयों को बेचने के लिए विक्रेता को वस्तु के मूल्य में कमी करनी ही होगी।

अध्याय ७

उपभोग में प्रतिस्थापन का सिद्धान्त

(Principle of Substitution in Consumption)

तथाकथित सम सीमान्त उपयोगिता का नियम अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों मे उपभोग में प्रतिस्थापन का सिद्धान्त उपभोक्ता के व्यवहार को समझाता है जिसे दी हुई बहुत सी वस्तुओ और सेवाओ में अपने सीमित द्रव्य को व्यय करने के लिए चुनाव करना होता है। चूँकि प्रत्येक उपभोक्ता की आवश्यकताएँ असीमित होती हैं तथा उसके पास संसाधन अथवा द्रव्य सीमित होते हैं इसलिए उसे चुनाव करना पड़ता है। वह अपनी चाही हुई सभी वस्तुओं का उपभोग नही कर सकता अथवा वस्तुओ की उतनी मात्रा का उपभोग नही कर सकता जितना कि वह चाहता है। उसे उपलब्ध वस्तुओ मे से चुनना होता है तथा वह प्रत्येक की उतनी ही मात्रा को लेता है जितना वह अपने पास द्रव्य से प्राप्त कर सकता है। यह उपभोक्ता के चुनाव (consumer's choice) के सिद्धान्त को जन्म देती है जो कि उस सिद्धान्त को बतलाता है जिसके आधार पर उपभोक्ता एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु को चुनता है तथा यह भी बतलाता है कि उपभोक्ता चुनी हुई विभिन्न वस्तुओं का उपभोग किस सीमा तक करता है।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए आइए हम एक सरलीकृत दशा ले तथा उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन निम्नलिखित परिकल्पनाओ के अन्तर्गत करें :—

(१) उपभोक्ता के लिए बाजार मूल्य दिया हुआ है तथा वह उसे जानता है। उसके पास समय और द्रव्य सीमित हैं।

(२) उपभोक्ता की रुचि तथा आय दिये हुए हैं तथा स्थिर है और उसका अधिमान स्तर ज्ञात है।

(३) उपभोक्ता अपने द्रव्य का व्यय अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा मे करता है।

(४) उपभोक्ता विवेकपूर्ण कार्य करता है अर्थात अपने दिए हुए संसाधनों से सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त करना चाहता है।

विभिन्न वस्तुओं पर वह अपने द्रव्य का व्यय किस प्रकार से करे, जिससे उसे सर्वाधिक सन्तोष मिले इसका निर्णय करते समय उपभोक्ता को उपभोग की गई वस्तुओं से प्राप्त ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता को ध्यान में रखना होता है। इस रूप

में सम सीमान्त उपयोगिता नियम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जिस पर हमें यहाँ ध्यान देना है वह यह है कि उपभोक्ता उपभोग की जाने वाली वस्तु की इकाइयों की मात्रा का निर्णय करते समय वस्तु की कुल उपयोगिता पर ध्यान नहीं देता वरन् सीमान्त उपयोगिता पर। उपभोक्ता को एक वस्तु की अतिरिक्त इकाई तथा दूसरी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों में चुनाव करना होता है और वह किसी वस्तु की कितनी इकाइयों को ले इसका निर्णय वह प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को ध्यान में रखकर करता है।

उपभोक्ता कहाँ पर संस्थिति की स्थिति में होगा? अथवा अन्य शब्दों में वह किस अवस्था में एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रतिस्थापन करना बन्द कर देगा? यह कहा जाता है कि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु की इकाइयों को उस समय तक खरीदता जाता है जब तक प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर नहीं हो जाती। वह उन वस्तुओं की अधिक इकाइयो को लेगा जिनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक है तथा उन वस्तुओं की कम इकाइयों को लेगा जिनकी सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत कम और वह यह क्रिया उस समय तक करता जायेगा जब तक सीमा (margin) पर प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर नहीं हो जाती। इस प्रकार से नियम की व्याख्या करने की विधि को निम्नलिखित प्रकार से दिखलाया जा सकता है।

उपभुक्त वस्तुएँ

	क	ख	ग	घ
१ली इकाई	२०	१८	१६	१४
२री इकाई	१८	१६	१४	१२
३री इकाई	१६	१४	१२	१०
४थी इकाई	१४	१२	१०	८
५वीं इकाई	१२	१०	८	६
६ठी इकाई	१०	८	६	४
७वीं इकाई	८	६	४	२

इस उदाहरण मे उपभोक्ता अपने द्रव्य का व्यय चार वस्तुओं क, ख, ग, घ, पर कर रहा है, तथा प्रत्येक वस्तु के शीर्ष कालम की संख्यायें क्रमिक इकाइयों (successive units) की सीमान्त उपयोगिता को दिखलाती हैं जो ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के लागू होने के कारण घटती जाती है। अपने पास द्रव्य की सीमित मात्रा से उसे यह निर्णय करना होता है कि वह प्रत्येक वस्तु की

कितनी इकाइयों को ले। यदि उपभोक्ता के पास विभिन्न वस्तुओं की केवल १४ इकाइयों के लिए ही पर्याप्त द्रव्य उपलब्ध है तब वह द्रव्य का व्यय इस प्रकार से करेगा जिससे वह क की ५ इकाइयाँ, ख की ४ इकाइयाँ, ग की ३ इकाइयाँ तथा घ की २ इकाइयाँ ले क्योंकि इस प्रकार व्यय करने से वह विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता सीमा पर बराबर करने में समर्थ होगा और उसे सर्वाधिक सन्तोष की प्राप्ति होगी। उपभोक्ता को हानि होगी यदि वह इस प्रकार से नहीं करता। मान लीजिए कि वह १४ इकाइयों को पूरा करने के लिए क की एक इकाई कम तथा ख की एक इकाई अधिक लेता है। इसमें उसे नुकसान होगा क्योंकि उपभोक्ता को ख वस्तु की पांचवीं इकाई से जो उपयोगिता मिल रही है (१०) वह क की पांचवीं इकाई से मिलने वाली उपयोगिता (१२)—जिसको वह छोड़ता है—से कम है। इसलिए उपभोक्ता तभी संस्थिति की दशा में होगा जब क, ख, ग, घ प्रत्येक वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उसके लिए १२ हो।

लेकिन सम सीमान्त उपयोगिता नियम को इस प्रकार से वर्णन करने की विधि त्रुटिपूर्ण एवं अशुद्ध है। प्रथमतः यह विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों को ध्यान में नहीं रखता। कोई उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों को ध्यान में रखे बिना उनकी क्रय की जाने वाली मात्रा का निर्णय नहीं कर सकता। प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एवं मूल्य की तुलना के आधार पर ही उपभोक्ता इस बात का निर्णय करता है कि वह वस्तु की कितनी इकाइयों को खरीदे।

दूसरे, इस उदाहरण में हमने केवल ऐसी ही वस्तुओं को लिया है जिनकी उपयोगिताएँ प्रायः एक ही क्रम की हैं तथा जब उनकी अधिक इकाइयाँ खरीदी जाती हैं तब एक ही प्रकार से उनकी उपयोगिता घटती है। यह एक कृत्रिम दशा है। मान लीजिए क वस्तु एक पेंसिल, ख एक कमीज, ग एक रेडियो तथा घ एक कार है। यह असम्भव है कि दूसरी कार की सीमान्त उपयोगिता तीसरे रेडियो, चौथी कमीज तथा पांचवीं पेंसिल की उपयोगिता के बराबर होगी। एक व्यक्ति द्वारा उपभोग किए जाने वाली विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता इतनी भिन्न होती है कि उसके सीमित संसाधनों के भीतर वह सीमा पर (at the margin) कभी बराबर नहीं हो सकती चाहे एक वस्तु विशेष की अतिरिक्त इकाइयों की कितनी ही मात्रा क्यों न उपभोक्ता ले। किसी एक समय में कार की सीमान्त उपयोगिता का कमीज की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होना असम्भव है। इस प्रकार से सीमान्त उपयोगिताओं को बराबर करने के लिए उपभोक्ता को हजारों कारें खरीदनी होंगी जब कि वह केवल कुछ ही कमीजें तथा उससे भी कम पेंसिल खरीदता है जिससे कि इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ

बराबर हो सकें। यह एक विसंगत (absurd) दशा है तथा इस प्रकार से सम सीमान्त उपयोगिता नियम के स्पष्टीकरण के दोष को दिखलाती है। सम सीमान्त उपयोगिता नियम प्रतीक है लेकिन इस प्रकार के स्पष्टीकरण से विसंगत परिणाम हो सकते हैं तथा स्वयं नियम भी दोष पूर्ण हो जायेगा। जैसा कि बेन्हम ने कहा है, "इस कथन का कि उपभोक्ता रोटी और दूध की सीमान्त उपयोगिताओं को बराबर करता है अर्थ यह नहीं होता कि प्रति सप्ताह रोटी का अन्तिम भाग उसे उतनी ही अतिरिक्त उपयोगिता प्रदान करता है जितना कि प्रति सप्ताह दूध का अन्तिम पिंट (लगभग १$\frac{1}{2}$ पाव की मात्रा)। लोफ और पिंट दो मनमाने माप या इकाइयाँ हैं। तुलना करने के लिए हमारे माप विभिन्न उपयोगों में वितरित किए जाने वाले परिमित (Limited) संसाधन (resources) होने चाहिए; इस दशा में परिमित संसाधन द्रव्य है, तथा विभिन्न प्रयोग विभिन्न वस्तुएँ हैं और उचित इकाई पेनी है।"

मार्शल का विवरण. सम सीमान्त उपयोगिता नियम का मार्शल का विवरण अधिक सही है। मार्शल के अनुसार "द्रव्य अर्थ व्यवस्था (money economy) में उत्तम प्रबन्ध का प्रदर्शन व्यय की प्रत्येक दिशा की दुविधा की सीमा (margins of suspense) का सन्तुलन इस प्रकार से करके किया जाता है कि प्रत्येक दिशा में एक शिलिंग मूल्य वाली वस्तुओं की उपयोगिता समान हो। प्रत्येक व्यक्ति इस परिणाम की प्राप्ति इस बात का सतत निरीक्षण करके कर सकता है कि क्या कोई ऐसी वस्तु है जिस पर वह इतना अधिक व्यय कर रहा है कि उसमें से कुछ व्यय कम करके अन्य दिशा में व्यय करने से उसे लाभ हो।" इसका अर्थ यह हुआ कि उपभोक्ता उपभोग की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं पर अपने व्यय का वितरण इस प्रकार से करेगा कि प्रत्येक पर अन्तिम रुपया व्यय किए जाने से उसे समान उपयोगिता मिलती है।

इस प्रकार से नियम को वर्णन करने की विधि सिद्धान्ततः ठीक है लेकिन इसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। इसमें यह मान लिया जाता है कि विभिन्न वस्तुओं पर व्यय रुपया प्रति रुपया में किया जाता है जिससे उपभोक्ता के लिए एक वस्तु पर व्यय किए गए एक रुपये तथा अन्य वस्तु पर व्यय किए गए एक रुपये की उपयोगिता को जान लेना सम्भव है, क्योंकि जब तक विभिन्न वस्तुओं पर व्यय किए गए अन्तिम रुपये की उपयोगिता नहीं जान लेता तब तक वह उन्हें सम्भवतः समान नहीं कर सकता। लेकिन व्यवहार में उपभोक्ता सदा इसे नहीं जानता। मान लीजिए एक व्यक्ति १० हजार रुपये कार पर, ३०० रुपये रेडियो पर तथा १५ रुपये कमीज पर व्यय करता है। वह केवल १० हजार

तीन-सौ १५ रुपयों की 'उपयोगिता' को ही जानता है। उपभोक्ता के लिए विभिन्न वस्तुओं पर किए गए दस हजारवें, तीन सौवें तथा १५ वें रुपये की उपयोगिता को जानना सम्भव नहीं है। मार्शल ने इस कठिनाई को यह मान कर दूर किया कि द्रव्य छोटी मात्रा (small amount) में किया जाता है (एक रुपये का प्रत्येक समय में व्यय)। लेकिन इस प्रकार की परिकल्पना पूर्णतया अयथार्थ है। व्यवहार में लोग द्रव्य का व्यय विभिन्न मुष्टों (lump sum) में करते हैं।

नियम को इस प्रकार से वर्णन करने की विधि में एक और भी कठिनाई है। मान लीजिये एक व्यक्ति १५ रुपये कमीज पर, ३०० रुपये रेडियो पर, तथा १० हजार रुपये कार पर व्यय करने की योजना बनाता है। जब वह कमीज पर २५ रुपये व्यय कर देता है द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता (यदि इसका परिगणन भी किया जा सके) तीन सौ रुपये रेडियो पर व्यय करने के उपरान्त द्रव्य की उपयोगिता से कम होगी तथा दस हजार रुपये कार पर व्यय करने के उपरान्त से तो बहुत ही कम होगी। ऐसा इसलिए होता है कि जब उपभोक्ता के पास द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन होता है तब उसकी सीमान्त उपयोगिता भी परिवर्तित हो जाती है। जब किसी व्यक्ति के पास १२ हजार रुपये हैं तब उसके लिए एक रुपये की सीमान्त उपयोगिता कम होती है तथा एक रुपये के खो जाने पर वह अधिक परेशान नहीं होगा लेकिन जब वह वास्तव में १५ रुपये कमीज पर व्यय कर देता है तब रुपये की सीमान्त उपयोगिता में थोड़ी वृद्धि हो जाती है क्योंकि अब उसके पास १५ रुपये कम हैं और उसके लिए रुपयों का मूल्य अब अधिक हो जाता है। तीन सौ रुपयों के व्यय करने के बाद तो रुपये की उपयोगिता और भी अधिक हो जायेगी। और जब वह १० हजार व्यय करके कार खरीद लेता है तब उसके लिए रुपयों की उपयोगिता बहुत ही अधिक हो जाती है क्योकि उसके पास उपलब्ध रुपयों की मात्रा में पर्याप्त कमी हो गई है। इससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं होगा यदि वह अपने सभी रुपयों का व्यय एक साथ कर देता है क्योंकि इस समय भी रुपयो के व्यय होने के साथ-साथ उसकी उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है। हमें यह स्पष्टतया जानना चाहिए कि जब व्यक्ति द्रव्य का व्यय करके अधिक वस्तुओं को प्राप्त करता है तब न केवल वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता में कमी होती जाती है वरन् रुपयों की उपयोगिता में वृद्धि भी, क्योंकि जब रुपयों का व्यय किया जाता है तब उपभोक्ता के पास रुपयों की मात्रा में काफी कमी हो जाती है। जबकि रुपयों की सीमान्त उपयोगिता में स्वयं परिवर्तन हो रहा है तब उसका व्यय के विभिन्न स्तरों पर समानीकरण करना कोई अर्थ नहीं रखता और किसी भी

दशा में उपभोक्ता को इससे सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। मार्शल ने इस कठिनाई को द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर मान कर दूर किया। यह एक सरलीकृत परिकल्पना है तथा इससे नियम अधिक सरल हो जाता है और साथ-साथ यह नियम अत्यन्त अयथार्थ हो जाता है तथा इसका कोई अधिक महत्व नहीं रह जाता।

अनुपातिता का नियम (Law of Proportionality). यदि सम-सीमान्त उपयोगिता के मार्शल के विवरण को अन्य प्रकार से उपस्थित किया जाय तब इसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार से व्यय करेगा कि विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों के अनुपातिक हों। उपभोक्ता संस्थिति की दशा में उस समय होगा जब निम्नलिखित सम्बन्ध स्थापित हो :

$$\frac{\text{'क' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'क' वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{'ख' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' वस्तु का मूल्य}}$$

यदि हम अपने पुराने उदाहरण को लें, और उपभोक्ता कार, रेडियो तथा कमीज को खरीद रहा है तब वह संस्थिति की दशा में उस समय होगा जब इन वस्तुओं की क्रमशः सीमान्त उपयोगिता १० हजार, तीन सौ, तथा १५ हों तथा इनके सम्बन्धित मूल्य क्रमशः १० हजार रुपये, ३०० रुपये तथा १५ रुपये हैं। इससे अनुपातिक सम्बन्ध सन्तुष्ट हो जाता है जैसा कि नीचे दिखलाया गया है :

कार	रेडियो	कमीज
$\frac{\text{१०,०००}}{\text{१०,००० रुपये}}$	$\frac{\text{३००}}{\text{३०० रुपये}}$	$\frac{\text{१५}}{\text{१५ रुपये}}$

दी हुई दशाओं में यही सर्वोत्तम अवस्था है जिसमें उपभोक्ता अपने को पा सकता है। चूँकि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य की अनुपातिक है अतः उपभोक्ता ने सर्वोत्तम सम्भावित अवस्था को प्राप्त कर लिया है। इसमें परिवर्तन करने से कुछ वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों से अधिक होंगी तथा अन्य वस्तुओं की सीमान्ता उपयोगिताएँ उनके मूल्यों से कम होंगी, इस प्रकार उसे हानि होगी। संस्थिति की इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद वह उसे उस समय तक बदलना नहीं चाहेगा जब तक या तो उसके अधिमान स्तर (scale of preference) अथवा विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होता।

इस प्रकार से सम सीमान्त उपयोगिता के नियम को वर्णन करने के ढंग में, जिससे वास्तव में यह अनुपातिक नियम हो जाता है, यह देख सकते हैं कि व्यवहार में उपभोक्ता किस प्रकार इस सिद्धान्त में अपने ज्ञान का प्रयोग करता है। यदि उपभोक्ता केवल उन्हीं वस्तुओं को खरीदता है जिनकी सीमान्त उपयोगिता उसके दिए हुए मूल्य के बराबर है तब तो अनुपातिक सम्बन्ध स्वतः स्थापित हो जाता है। केवल उसी समय अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता जब कि उपभोक्ता वस्तु की सीमान्त इकाई के लिए वस्तु के वास्तविक मूल्य से अधिक मूल्य देता है अथवा वस्तु को उसके वास्तविक मूल्य से कम में ही प्राप्त कर लेता है। परन्तु यदि उपभोक्ता केवल उसी वस्तु को खरीदता है जिसका मूल्य उसके लिए उतना ही है जितना कि उसने दिया तब तो वह अपने को स्वतः सर्वोत्तम अवस्था में पाता है। उपभोक्ता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिताओं को सीमा पर बराबर करने के लिए विभिन्न वस्तुओं पर व्यय किए गए अन्तिम रुपयों की उपयोगिता को समान करने के लिए परेशान हो। ये दोनों दशाएँ अयथार्थ तथा अव्यावहारिक हैं। उसे केवल प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और मूल्य की तुलना की ऐसी दशा लानी होती है जिसमें सीमान्त इकाई की उपयोगिता उसके मूल्य के ठीक बराबर हो। यदि वह प्रत्येक वस्तु के लिए ऐसा करता है तब आनुपातिक सम्बन्ध (यथा १:१ का) स्वतः स्थापित हो जाता है और उसे सर्वाधिक सन्तोष मिलता है।

मान लीजिए जब उपभोक्ता क वस्तु की १० इकाई और ख की ५ इकाई खरीदता है और क वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य से कम तथा ख की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य से अधिक है, तब यह सम्बन्ध नहीं स्थापित होता जैसा कि नीचे दिखलाया गया है।

'क' वस्तु	'ख' वस्तु
१५	४०
३५ रुपये	२५ रुपये

उपभोक्ता के लिए सर्वाधिक सन्तोष की स्थिति यह नहीं है। चूँकि एक उपभोक्ता बाजार के अनेक उपभोक्ताओं में से एक है अतः वह अपनी क्रिया से क और ख वस्तुओं के मूल्यों को बदल नहीं सकता। चाहे वह क और ख की कितनी ही मात्रा क्यों न ले इनके मूल्य तो क्रमशः ३५ रुपये तथा २५ रुपये रहेंगे ही। व्यक्ति केवल इतना ही कर सकता है कि वह उपभोग की जाने वाली प्रत्येक वस्तुओं की मात्रा में कमी करदे। चूँकि जब वह क की १० इकाइयों को लेता है तब क वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (१५) उसके प्रति इकाई मूल्य (३५ रु०) से

कम है अतः वह क की कुछ इकाइयों को हटा कर ख की अतिरिक्त इकाइयों—जिनकी सीमान्त उपयोगिता (४०) उनके प्रति इकाई मूल्य (२५ रु०) से अधिक है—को लेगा। जब वह ख वस्तु का प्रतिस्थापन क के स्थान पर करता है तब क की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो जाती है क्योंकि अब उसके पास क की कम इकाइयाँ हैं तथा 'ख' की सीमान्त उपयोगिता में कमी हो जाती है क्योंकि उसकी मात्रा में वृद्धि हो गई है। उपभोक्ता ख का प्रतिस्थापन क के स्थान पर उस समय तक करता जायेगा जब तक दोनों वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं और मूल्यों में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपभोक्ता उस समय तक एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रतिस्थापन करता जायेगा जब तक कि उपभोग की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों के अनुपातिक नहीं हो जाती। जब वह संस्थिति की इस दशा में पहुँच जाता है तब यदि परिस्थितियाँ न बदलें तो उसे आगे परिवर्तन करने की प्रेरणा नहीं मिलेगी। परन्तु संस्थिति की स्थिति में पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि (१) उपभोक्ता को उपभोग की जाने वाली विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं की सीमान्त उपयोगिताओं तथा मूल्यों का ज्ञान हो; तथा (२) उपभोक्ता के लिए वस्तुओं का इस प्रकार से प्रतिस्थापन करना सम्भव हो जिससे सीमान्त उपयोगिताओं और मूल्यों में आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित हो सके।

वास्तविक जीवन में ये दशाएँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। पूर्ण ज्ञान के अभाव में उपभोक्ता ऐसी दशा में रहने के लिए बाध्य हो सकता है जहाँ पर वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों के आनुपातिक न हों। मान लीजिए एक उपभोक्ता के पास क की १० इकाइयाँ तथा 'ख' की ५ इकाइयाँ हैं और वह संस्थिति में नहीं है। आनुपातिक सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए उसको ख वस्तु की १५ इकाइयों तथा क की ४ इकाइयों को रखना आवश्यक है, परन्तु उसकी आय इतनी अधिक नहीं है कि वह ख की ६ इकाइयों का त्याग करके क की १० अतिरिक्त इकाइयों को खरीद सके। यदि ऐसा होता है तब उपभोक्ता अपने व्यय का सन्तुलन अन्य वस्तुओं के साथ इस प्रकार करेगा कि उसे ख की १० अतिरिक्त इकाइयों को खरीदने के लिए पर्याप्त द्रव्य प्राप्त हो जाय जिससे सभी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं एवं मूल्यों में आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित हो जाय। परन्तु यदि वह ऐसा वस्तुओं के पूर्णतया विमान्चन होने के कारण अथवा उपभोक्ता द्वारा वांच्छित वस्तु की मात्रा के न उपलब्ध होने के कारण या अन्य किसी कारण से नहीं कर पाता तब वह अपनी इच्छा के विरुद्ध

ऐसी दशा में रहने के लिए बाध्य हो जाता है जहाँ पर कुछ वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों से अधिक होती हैं तथा कुछ वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएँ उनके मूल्यों से कम। इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुपात का नियम अशुद्ध है वरन् यह इस बात को दिखलाता है कि आर्थिक व्यवस्था की अविमान्यता तथा परिदृढ़ताओं (rigidities) के कारण १:१ का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। इस दशा में भी उपभोक्ता आनुपातिक सम्बन्ध को अधिक से अधिक निकट तक स्थापित करने का प्रयास करेगा।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal rate of substitution). हमने पूर्व अध्याय में देखा कि उपयोगिता मापनीय नहीं है, लेकिन जिस विधि से सम सीमान्त उपयोगिता नियम को अब तक समझाया गया है उससे ऐसा दिखता है कि उपयोगिता मापनीय है। चाहे उपयोगिता मापनीय हो अथवा नहीं, सम सीमान्त उपयोगिता नियम की विशद व्याख्या इस शब्द का प्रयोग किए बिना की जा सकती है जैसा कि जे० आर० हिक्स तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने किया है।

वास्तव में उपभोक्ता को एक वस्तु का चुनाव दूसरी वस्तु के स्थान पर नहीं करना होता वरन् वस्तुओं के विभिन्न संयोगों (combinations) में। उपभोक्ता को यह निर्णय करना पड़ता है कि वह किन्हीं वस्तुओं के एक संयोग को लेगा, अथवा इन्हीं वस्तुओं के अन्य संयोगों को जो समानतः अच्छे हैं। यदि हम केवल दो वस्तुओं को लेते हैं तब इन संयोगों को अनधिमान वक्रों (Indifference curves) द्वारा दिखलाया जा सकता है। जब उपभोक्ता एक वस्तु की कुछ इकाइयों को छोड़कर दूसरी वस्तु की कुछ इकाइयों को लेता है, तब अनधिमान वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर जाने से उसका सन्तोष स्थिर रहता है; इसी कारण हम उपयोगिता संबोध (concept) के परिहार (avoid) करने में समर्थ हो पाते हैं। दोनों दशाओं में उपभोक्ता का संतोष (या उपयोगिता) स्थिर रहता है चाहे वह जो भी हो। हमें यह जानने की आवश्यकता नहीं है कि उपयोगिता कितनी है; इस प्रकार हम उपयोगिता के मापनीयता की समस्या का परिहार (avoid) कर लेते हैं। उपयोगिता अथवा सन्तोष होता है, परन्तु यह व्यक्तिगत उपभोक्ता के लिए पूर्णतया आत्मनिष्ट (subjective) है। इसका वस्तुनिष्ट (objective) कथन, जिससे हम संस्थिति के परिभाषित करने में सम्बन्धित हैं, यह है कि एक वस्तु की बहुत इकाइयों के स्थान पर दूसरी वस्तु की कितनी इकाइयाँ माँगी जाती हैं। इसलिए हमारा सम्बन्ध इससे नहीं है कि उपभोक्ता कितना

सन्तोष अथवा कितनी उपयोगिता प्राप्त कर रहा है वरन् एक वस्तु के प्रतिस्थापन की सीमान्त दर अन्य वस्तु के लिए कितनी है।

प्रो० जे० आर० हिक्स के अनुसार 'य' वस्तु का 'र' वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर र की वह मात्रा है जो कि उपभोक्ता के 'य' की एक सीमान्त इकाई द्वारा हुए क्षति की पूर्ति पूर्णतया कर देता है।" जब उपभोक्ता य की इकाइयो के बदले र का परित्याग करता है तब य की प्रत्येक इकाई का सीमान्त महत्व (marginal significance) घटता है तथा र की प्रत्येक इकाई का महत्त्व बढ़ता है। मार्शल के वर्णन करने की विधि के अनुसार इसका अर्थ यह हुआ कि य की सीमान्त उपयोगिता मे कमी तथा र की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो रही है। सम सामान्त उपयागिता नियम को समझाने के लिए हमारा सम्बन्ध र की केवल उसी मात्रा से हैं जिसे उपभोक्ता य की अधिक इकाइयो को लेने के लिए त्याग कर सकता है। हमारा मतलब इससे नही है कि किस सीमा तक य की सोमान्त उपयोगिता में कमी तथा र की सामान्त उपयोगिता में वृद्धि हो रही है। जब उपभोक्ता य की अधिक इकाइयो को लेता है, तब र की मात्रा में जिसका वह य की एक इकाई के लिए परित्याग करने को तैयार है, कमी होती जाती है। इसे हम प्रतिस्थापन को ह्रासमान सीमान्त दर का सिद्धान्त कहते हैं तथा इसका वर्णन जे० आर० हिक्स ने इस प्रकार किया है : मान लीजिए हम दी हुई वस्तु की मात्रा से प्रारम्भ करते हैं। हम य की मात्रा में वृद्धि तथा र की मात्रा में कमी इस प्रकार से करते हैं कि उपभोक्ता की स्थिति न तो पहले से अच्छी होती है और न हा बुरी। य का दूसरी इकाई की प्राप्ति के लिए जो र की मात्रा घटानी पड़ती है उसमे पहले की अपेक्षा कमी हो जायेगी। अन्य शब्दों में, जितना ही अधिक र क स्थान पर य का प्रतिस्थापन किया जावेगा उतना ही कम र के लिए य का प्रतिस्थापन का सामान्त दर हागी। जब य र के रूप में अधिक सस्ती हा जाती है तब उपभोक्ता य की अधिक इकाइयों को लेगा और वह उस समय तक करता जायेगा जब तक य का र के रूप मे दिया हुआ मूल्य य का र के प्रतिस्थापन के ह्रासमान सीमान्त दर के बराबर नहीं हो जाता।

उपभोक्ता सस्थिति मे उस समय होगा जब प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर (diminishing marginal rate of substitution) मूल्य अनुपात (price ratio) के बराबर हो जाती है। इसे चित्र द्वारा भी दिखलाया जा सकता है। हम लोगों ने केवल दो वस्तुओ को ध्यान मे रख कर ही इस पर विचार किया है परन्तु यह सिद्धान्त दो से अधिक वस्तुओं के साथ भी लागू होता है यद्यपि इसमें कुछ दुरूहता एवं जटिलता आ जाती है। दो से अधिक वस्तुओं में

लिए शक्ति का उत्पादन नही करता ? इससे ऐसा आभास होता है कि उत्पादन एवं उपभोग मे कोई स्पष्ट भेद नही किया जा सकता। प्रोफेसर जे. के. मेहता उत्पादन एव उपभोग मे स्पष्ट भेद उपस्थित करते हैं जब वे कहते हैं कि हमारी आवश्यकताएँ जब दूर कर दी जाती हैं तब वे प्रत्यक्ष सन्तोष प्रदान करती हैं जैसा कि हम केक खाते समय पाते हैं। दूसरे, हमारी कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं कि यदि उन्हे दूर किया जाय तब वे व्युत्पादित सन्तोष (derived satisfaction) प्रदान करती है जैसा कि हम केक बनाते समय प्राप्त करते हैं। प्रथम प्रकार की आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की क्रिया उपभोग तथा दूसरे प्रकार की आवश्यकताओ का सन्तुष्ट करने की क्रिया उत्पादन कहलाती है। उपभोग एव उत्पादन दोनो आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करते है यद्यपि वे विभिन्न प्रकार की होती है।'

उत्पादन तथा उपभोग दो अलग-अलग कार्य है तथा एक दूसरे से बिल्कुल पृथक हैं, परन्तु ये दो अलग-अलग क्रियाये नहीं हो सकती वरन् एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उपभोक्ता के रोटी खाने की क्रिया, जहाँ तक रोटी की उपयोगिता का नाश होता है, उपभोग कहलाती है तथा यही क्रिया उस समय उत्पादन हो जाती है जब भोजन शक्ति मे परिवर्तित हो जाता है। यद्यपि उत्पादन एव उपभोग एक ही प्रक्रिया के दो पहलू है फिर भी ये बिल्कुल पृथक हैं तथा इनके अलग-अलग कार्य होते है।

उत्पादन के साधन

उत्पादन कार्य उत्पादन के साधनो की सहायता से होता है। उत्पादन के साधन भौतिक पदार्थो अथवा सेवाओ के रूप मे धन के उत्पादन मे सहायता कर सकते है। 'जो कुछ भी उत्पादन मे सहायक होता है वह उत्पादन का साधन है। कोयले की खान के स्वामी के विचार से कोयला एक उत्पत्ति पदार्थ है। परन्तु यह उत्पादक वस्तु (producers' goods) के रूप मे व्यवहृत होता है (जैसे किसी कारखाने की भट्टी मे), इसलिये यह उत्पादन का साधन है। एक फर्म का पक्का माल दूसरी फर्म या कारखाने मे कच्चे माल के रूप मे व्यवहृत होता है अतएव वह उत्पादन का साधन है। सक्षेप मे, कोई भी पदार्थ जो उत्पादन प्रक्रिया (productive process) की किसी भी अवस्था मे प्रयुक्त होता है, उत्पादन का साधन है।

क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने इन उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण तीन श्रेणियो—भूमि, श्रम तथा पूँजी—मे किया। बाद मे मार्शल ने सगठन एक

नया उत्पादन का साधन जोड़ दिया। आधुनिक समय में प्रोफेसर जे. के. मेहता ने साहसोद्यमी नामक पाँचवां उत्पादन का साधन बतलाया है। कुछ अर्थशास्त्री केवल चार सांधनों—भूमि, श्रम, पूंजी तथा संगठन—को मानते हैं, परन्तु संगठन एवं साहसोद्यम में भेद करना अधिक उपयुक्त है।

इन सब साधनों की कुछ समान विशेषताएँ हैं परन्तु सामान्य दृष्टिकोण से इनका विभाजन दो व्यापक श्रेणियों में किया जा सकता है : (१) मानवीय साधन जिसमें श्रम, संगठन तथा साहसोद्यम सम्मिलित है; (२) अमानवीय साधन जिसमें भूमि एवं पूंजी सम्मिलित हैं। इन तीनों मानवीय साधनों—श्रम, संगठन तथा साहसोद्यम—की एक समान विशेषता यह है कि ये प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य द्वारा प्रदान की जाती हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त इनके द्वारा किए गए कार्यों के स्वरूप में भी स्पष्ट भेद किया जा सकता है। एक दूसरे से इनका भेद कार्यात्मक आधार (functional basis) पर किया जाता है।

क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार श्रम में शारीरिक एव मानसिक कार्य दोनों सन्निहित हैं। मार्शल जो इस मत से सहमत थे उनके अनुसार श्रम से तात्पर्य मस्तिष्क अथवा शरीर के उस परिश्रम से है जो उससे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सुख के लिए न होकर अंशतः अथवा पूर्णतः किसी अन्य हित के लिए किया गया हो। इस विचार से संगठन के कार्य में भी शारीरिक एवं मानसिक श्रम निहित है। यह कहा जाता है कि इससे श्रम एवं संगठन में तार्किक भेद करना असम्भव हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह बतलाया जाता है कि श्रम का प्रयोग केवल पूर्णतया शारीरिक कार्य के लिए सीमित रखना चाहिए तथा संगठन का प्रयोग पूर्णतया मानसिक कार्य के लिए। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह खेत में काम करने वाला मजदूर हो अथवा संगठन कर्त्ता, दोनों एक ही समय श्रमिक एवं संगठन कर्त्ता के रूप में कार्य करते हैं क्योंकि दोनों कार्य अंशतः शारीरिक एवं अंशतः मानसिक होते हैं। यह निस्सन्देह श्रम एवं संगठन के भेद को अधिक पृथक एवं स्पष्ट कर देता है परन्तु साथ ही साथ इसके पूरी चीज कृत्रिम हो जाती है। शारीरिक श्रम को बिना मानसिक श्रम के सोचना सम्भव नहीं है। अन्य शब्दों में, बिना मानसिक श्रम के शारीरिक श्रम नहीं होता तथा बिना शारीरिक श्रम के मानसिक श्रम नहीं होता। चाहे हम एक श्रमिक अथवा एक संगठन कर्त्ता पर विचार करें, शारीरिक एवं मानसिक श्रम साथ-साथ रहते हैं। ये एक दूसरे से पृथक नहीं किये जा सकते। यदि हम यह कहते हैं कि श्रम केवल शारीरिक प्रयास है तब हमें यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार का श्रम कहीं नहीं होता क्योंकि मानसिक श्रम के बिना शारीरिक श्रम का कोई अस्तित्व नहीं होता। तथा यदि

हम यह कहें कि खेतियर काम करने वाला मजदूर तथा संगठन कर्त्ता दोनों श्रम एवं संगठन का कार्य साथ-साथ कर रहे हैं तब हम वास्तव में श्रम तथा संगठन के कार्यात्मक भेद को भुला देते हैं।

श्रम तथा संगठन में वास्तविक भेद यह है कि यद्यपि श्रम शारीरिक एवं मानसिक दोनों होता है तथापि इसका कार्य नित्यक प्रकार का होता है तथा श्रमिक उसे दी गई आज्ञाओं का पालन करता है। संगठन में भी यद्यपि शारीरिक एवं मानसिक कार्य निहित है परन्तु इसका कार्य नित्यक प्रकार का नहीं होता तथा इसका कार्य निर्णय करना एवं आज्ञाओं को देना होता है। यही श्रम तथा संगठन में मूल भेद है। साहसोद्यम अथवा साहसोद्यमी के कार्य में भी शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें निहित हैं परन्तु इसका सम्बन्ध अनिश्चयता वहन तथा जोखिम उठाने से होता है जो बिल्कुल भिन्न प्रकार का कार्य है। भूमि तथा पूँजी में कुछ भेद है लेकिन, जैसा कि हम देखेंगे, ये अन्तर केवल स्थूल हैं।

क्या यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के सभी साधन बिलकुल एक ही हैं तथा इनमें कोई भेद नहीं है ? कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह बतलाया है कि आर्थिक दृष्टि से श्रम साधन के प्रतिफल (return) तथा अन्य साधनों के प्रतिफलों में कोई अन्तर नहीं है। यह कहा जाता है कि सभी उत्पादन के साधनों के प्रतिफल हैं। चूंकि सबके प्रतिफल का निर्धारण एक ओर उनकी सीमान्त उत्पादकता तथा दूसरी ओर पूर्ति की दशाओं द्वारा होता है इसलिये सिद्धान्तः इनमें कोई भेद नहीं है। एक अर्थशास्त्री ने तो यहाँ तक कहा है कि "भूमि, श्रम तथा पूंजी का वर्गीकरण पशु, वनस्पति तथा खनिज पदार्थ के वर्गीकरण से अधिक लाभप्रद नहीं है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन के सभी साधन उत्पादन के दृष्टिकोण से बिलकुल एक रूप हैं क्योंकि ये उपयोगिता का सृजन करते हैं। अन्य शब्दों में, एक ही कार्य या तो एक साधन अथवा दूसरे साधनों से किया जा सकता है। यद्यपि वे एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न न भी हों फिर भी उनके द्वारा किया गया कार्य एक ही प्रकार का है इसलिए कार्यात्मक आधार पर उसमें भेद करना युक्तिसंगत नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी साधनों के भुगतान का निर्धारण सीमान्त उत्पादकता तथा मांग और पूर्ति की दशाओं द्वारा होता है जो सभी साधनों में समान रूप से लागू होता है। उत्पादन के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं होगा यदि सभी साधनों को एक समझा जाय। विभिन्न उत्पादन के साधनों की विभिन्न विशेषताएँ तथा आवश्यकताएँ होती हैं। समाजशास्त्र तथा राष्ट्रीय लाभांश के वितरण के दृष्टिकोण से ये विभिन्न विशेषताएँ अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं। इसलिये व्यापक

दृष्टिकोण से भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन तथा साहसोद्यम में भेद करना उचित एवं न्यायसंगत है, यद्यपि उत्पादन के दृष्टिकोण से ये मूलतः एक ही हैं।

आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों विशेषतया वाइजर (Wieser), ने सभी साधनों का वर्गीकरण दो व्यापक श्रेणियों (विशिष्ट तथा अविशिष्ट) में किया। विशिष्ट Specified) साधन वे हैं जिनका एक समय एक ही प्रयोग हो सकता है तथा अविशिष्ट (non-specified) साधन वे हैं जिनके वैकल्पिक प्रयोग होते हैं तथा उनका उपयोग एक ही समय में अनेक विभिन्न प्रयोगों में किया जा सकता है। अन्य शब्दों में इसका अर्थ यह होता है कि कुछ साधन गतिशील (अधिक व्यापक अर्थ में) होते हैं तथा कुछ गतिशील नहीं होते। भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन, तथा साहसोद्यम में भेद कार्यात्मक आधार पर किया जाता है। परन्तु विशिष्ट तथा अविशिष्ट में भेद गुण के आधार पर किया जाता है। कोई साधन चाहे वह भूमि हो चाहे श्रम तथा पूंजी हो उस सीमा तक अविशिष्ट है जिस सीमा तक वैकल्पिक व्यवसाय (alternative occupation) में जा सकता है। उस सीमा तक यह विशिष्ट हो जाता है, जिस सीमा तक उसमें यह गुण नहीं होता तथा अन्य वैकल्पिक प्रयोग में नहीं जा सकता। विशिष्टता तथा अविशिष्टता का गुण स्थायी नहीं है। कोई विशेष साधन जो इस समय विशिष्ट है भविष्य में अविशिष्ट हो सकता है तथा इसके विपरीत जो आज अविशिष्ट है वह भविष्य में विशिष्ट हो सकता है। जैसा कि हम वितरण के अध्याय में देखेगें, विशिष्टता तथा अविशिष्टता के अन्तर का मजदूरी, भाटक इत्यादि के निर्धारण तथा राष्ट्रीय लाभांश के अंशों के वितरण में महत्वपूर्ण स्थान है।

श्रम (Labour)

श्रम की परिभाषा उस प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कार्य से की गई है जो उससे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सुख के लिए न होकर अंशतः अथवा पूर्णतः किसी अन्य हित के लिए किया गया हो। हमारा सम्बन्ध श्रम से एक उत्पादन के साधन के रूप में है इसलिए निजी संतोष, प्रेम अथवा दान के लिए किया गया मानसिक तथा शारीरिक कार्य श्रम की श्रेणी से परे हैं। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, श्रम शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के कार्यों को कहते हैं क्योंकि इन दोनों को पृथक रखना सम्भव नहीं है। संगठन तथा साहसोद्यम भी श्रम की व्यापक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं लेकिन हम उन पर श्रम से अलग विचार करेंगे क्योंकि श्रम नित्यक प्रकार का मानसिक एवं शारीरिक कार्य होता है तथा साहसोद्यम तथा संगठन अन्य प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक कार्य होते हैं : निर्णय करना तथा आज्ञाओं को देना। श्रम की श्रेणी के

अन्तर्गत खेत, कारखाने, तथा दुकान इत्यादि में कार्य करने वाले कुशल तथा अकुशल श्रमिक आते हैं।

श्रम की विशेषताएँ. उत्पादन के साधन के रूप में श्रम की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(१) श्रम (कार्य) को श्रमिक से पृथक नहीं किया जा सकता। श्रमिक को अपना कार्य करने के लिये स्वयं जाना होता है। चूँकि श्रमिक मनुष्य होते हैं तथा उन पर मनुष्य के रूप में विचार करना होता है, इसलिए श्रमिक की इस विशेषता के कारण कारखाने तथा उद्योगशालों में कल्याणकारी सुविधाएँ दी जाती हैं।

(२) श्रम नाशवान है, इसका अर्थ यह है कि श्रमिक के जीवन के प्रत्येक दिन का अपव्यय सदा के लिए हो जाता है। श्रमिक अपने श्रम को बचाकर उसका उपयोग दूसरे दिन नहीं कर सकता। यह समान रूप से भूमि, पूँजी तथा अन्य साधनों के बारे में भी सत्य है परन्तु इनमें अन्तर यह है कि श्रमिक का जीवन सीमित होता है तथा एक खोया हुआ दिन सदा के लिए खो जाता है लेकिन भूमि तथा पूंजी को एक दिन अधिक भी काम पर लगा कर खोये हुए समय को बचाया जा सकता है।

(३) श्रम की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि "इस प्रकार का उत्पादन का साधन अन्य उत्पादन के साधनों से दो मुख्य बातों में भिन्न है। प्रथमतः इस प्रकार के श्रमिक बहुधा अपनी मजदूरी साहसोद्यमी से बढ़वाने के लिये संगठित होते पाये जाते हैं। दूसरे, वे सीमा के भीतर यह निश्चय करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं कि वे एक निश्चित दिन काम करेंगे अथवा नहीं, यदि वे करेंगे तो कितने समय तक। इस प्रकार का चुनाव भूमि तथा पूंजी के लिए सम्भव नहीं है। मशीन तथा खेत अचेतन होने के कारण न तो वे आपस में संगठित हो सकते हैं और न तो वे बहुत थक जाने तथा 'बोर' हो जाने के कारण काम करना अस्वीकार ही कर सकते हैं। श्रमिक ऐसा कर सकते हैं तथा करते भी हैं।" श्रम की यह विशेषता सामूहिक सम्पणन (collective bargaining), न्यूनतम मजदूरी निर्धारण तथा श्रमिक की सुविधाएँ इत्यादि सम्बन्धित समस्याओं को जन्म देती हैं।

उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम. कृषिवादी अर्थशास्त्रियो (physiocrats) के अनुसार कृषि-श्रम के अतिरिक्त सभी श्रम अनुत्पादक है। ऐडम स्मिथ ने उत्पादक श्रम के विषय क्षेत्र को व्यापक बनाया परन्तु उसने भी यह बतलाया के जिस श्रम से धन का उत्पादन नहीं होता वह अनुत्पादक श्रम है। यदि हम

गम्भीरतापूर्वक विचार करें तब उत्पादन के साधन के रूप में श्रम सम्भवतः कभी भी अनुत्पादक नहीं हो सकता। श्रम का प्रयोग अन्य उत्पादन के साधनों के सहयोग के साथ किया जाता है। मान लीजिए श्रम का प्रयोग ट्यूब वैल बनाने, या गृहनिर्माण अथवा हवाई जहाज बनाने के लिए किया जाता है, तथा कुछ कारणों से इनमें से कुछ भी पूरा नहीं होता तथा कार्य बीच में ही छोड़ दिया जाता है। क्या इस दशा में श्रम अनुत्पादक नहीं होगा? उत्तर नकारात्मक है। श्रमिक जब काम पर लगाया जाता है तब वह मजदूरी पाता है, इस दृष्टिकोण से श्रम पूर्णतया उत्पादक है क्योंकि मजदूरी के रूप में उसे प्रतिफल प्राप्त हो जाता है। यदि साहसोद्यम जिसमें श्रमिक लगाया गया है वाञ्छित परिणाम को प्राप्त करने में असमर्थ है तब उसमें लगाए गए श्रमिक तथा अन्य उत्पादन के साधन अनुत्पादक नहीं है। यदि क्रिया सफल हुई होती तब साहसोद्यमी शुद्ध लाभ प्राप्त करता और जब क्रिया असफल हो गई तब साहसोद्यमी ने हानि उठाई। प्रत्येक उद्योग तथा व्यवसाय में या तो शुद्ध लाभ का अर्जन किया जा सकता है अथवा शुद्ध हानि उठाई जा सकती है, इस कारण वह अनुत्पादक नहीं हो जाता। उद्योग अथवा व्यवसाय में लगाए गए श्रमिक तथा अन्य उत्पादन के साधन उस समय तक उत्पादक हैं जब तक वे काम को करके पारिश्रमिक पाते हैं चाहे व्यवसाय से साहसोद्यमी को हानि हो रही हो अथवा लाभ।

संगठन तथा साहसोद्यम

प्रो० मेहता तथा अन्य अर्थशास्त्री इन दोनों साधनों को पृथक रखते हैं परन्तु कुछ लोग एक ही साधन में इन दोनों को संयुक्त करके उसे 'साहसोद्यम' कहते हैं। किस वर्गीकरण को हम मानते हैं यह महत्वपूर्ण नहीं है। वास्तविक बात यह है कि यह श्रम से पृथक हैं। श्रम नैत्यिक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कार्य को कहते हैं तथा संगठन और साहसोद्यम दोनो शारीरिक एवं मानसिक क्रियायें हैं जिसमें निर्णय करना होता है जो कि नैत्यिक प्रकार की नहीं होती।

किसी औद्योगिक तथा व्यावसायिक कार्य में साहसोद्यमी दो महत्वपूर्ण कार्य करता है : (१) संयोजन, (२) जोखिम उठाना या अनिश्चयता वहन करना। संयोजन से तात्पर्य विभिन्न साधनो को उनके कार्यों में लगाना तथा उनके कार्यों का निरीक्षण करना है। इसमें विक्रय, क्रय उत्पादन तथा उद्योग एवं व्यवसाय के अन्य विभागों के कार्यों की व्यवस्था करना होता है। कारखाने में विभिन्न कार्यों के लिए कार्यकर्ताओं का चुनाव, कर्मचारियों के कार्यों की गति एवं क्षमता तथा पूरे संचय (Store) तथा अन्य पदार्थों के रखने एवं प्रयोग की विधि का

निरीक्षण इसके अन्तर्गत है। बहुत कुछ किसी उद्योग की सफलता उसके संगठन की कुशलता पर आधारित है। इस कार्य के लिये साहसोद्यमी को वेतन मिलता है जिसे सामान्य लाभ कहते हैं।

साहसोद्यमी का दूसरा कार्य—जोखिम उठाना अथवा अनिश्चयता वहन करना—बहुत कठिन प्रकार का है। इसके लिए उत्तम प्रकार की योग्यता की आवश्यकता होती है। सफलता की दशा में इसके लिए भुगतान शुद्ध लाभ के रूप में होता है तथा हानि की दशा में संगठन के लिए भुगतान तो धनात्मक होता है तथा जोखिम उठाने के लिए भुगतान ऋणात्मक होता है क्योंकि साहसोद्यमी को हानि उठानी होती है।

उत्पादन वस्तुओं को बाजार में बेचने के बहुत पहले ही किया जाता है। उत्पादन ठीक-ठीक यह नहीं जानता कि भविष्य में किस प्रकार की वस्तु बाजार में बिकेगी तथा उसका कितना अंश वह अन्य प्रतियोगी उत्पादकों की तुलना में बेच सकेगा। उत्पादक बहुत पहले से ही उत्पादन किए जाने वाली वस्तुओं के स्वरूप तथा उनकी मात्रा का निर्णय कर लेता है जिससे कि वह उन्हें भविष्य में बेच सके। साहसोद्यमी को अन्य साधनों का भुगतान भविष्य में प्राप्त होने वाले मूल्यों के आधार पर उत्पादन के समय ही करना होता है।

इस प्रकार साहसोद्यमी को इन बातों का निर्णय करना होता है: (१) उत्पादन की जाने वाली वस्तु के स्वरूप, प्रकार तथा गुण, (२) किस मात्रा में उनका उत्पादन होगा, तथा (३) मूल्य जो वह भविष्य में प्राप्त करने की आशा रखता है तथा जिसके आधार पर अन्य साधनों का भुगतान किया जाता है। इन निर्णयों को करने में साहसोद्यमी को एक बड़े जोखिम का सामना करना होता है। यदि वह गलत निर्णय करता है तब उसे हानि उठानी होगी। यदि वह इन चीजों का निर्णय ठीक ठीक कर लेता है तब वह लाभ प्राप्त करेगा। मान लीजिये एक साइकिल का उत्पादक है। वह यह नहीं जानता कि ६ महीने बाद कितनी साइकिलें बाजार में बिकेंगी। वह अपना निर्णय अतीत की प्रवृत्ति (trend), वर्तमान जनसंख्या, लोगों की आय, रुचि तथा सैकड़ों अन्य साधनों के आधार पर करेगा जो किसी व्यक्ति के साइकिल खरीदने अथवा न खरीदने का निर्धारण करते हैं। मान लीजिये उत्पादक यह निर्णय करता है कि भविष्य में ४ लाख साइकिलों के बिकने की सम्भावना है। दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय जो उसे करना होता है वह यह है कि वह अन्य प्रतियोगी उत्पादकों की तुलना में कितनी साइकिलें बेच सकेगा। यदि उसकी साइकिलें अच्छी हैं तथा अपेक्षाकृत सस्ती तो वह अधिक साइकिलें बेचने में समर्थ हो सकेगा, लेकिन यदि कोई अन्य उत्पादक

भी अच्छी और सस्ती साइकिलें बनाने में सफल हो जाता है तब वह अधिक साइकिलें नहीं बेच सकेगा। उसे कितनी साइकिलो का उत्पादन करना चाहिये इसका निर्णय करने के लिए उत्पादक को अन्य प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की स्पर्धा शक्ति को भी ध्यान में रखना होगा। स्पर्धाशक्ति का निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। मान लीजिये उत्पादक यह निर्णय करता है कि भविष्य में ४ लाख बेची जाने वाली साइकिलो में से वह स्वयं ७५००० साइकिलो को बेच सकता है। उसे उस मूल्य का भी अन्दाज लगाना होता है जिसपर साइकिल के बिकने की सम्भावना है क्योंकि इसी आशंसित (expected) मूल्य के आधार पर ही विभिन्न उत्पादन के साधनो का भुगतान करना होता है। यदि उत्पादक यह निर्णय करता है कि वह १७५ रुपये प्रति साइकिल के हिसाब से बेच सकेगा तब वह इसी आधार पर साधनों का भुगतान करता है। इस कार्य में वह बहुत बड़ा जोखिम उठाता है। मान लीजिये जब समय आता है तब ४ लाख साइकिलों के स्थान पर केवल तीन लाख ही साइकिलें बाजार में बिकती हैं तथा उत्पादक ७५,००० साइकिलों के स्थान पर केवल ३०,००० साइकिलें ही बेचने में समर्थ होता है। इस दशा में उसे बहुत बड़ी हानि होगी क्योंकि उसकी ४५ हजार साइकिलें नहीं बिकतीं तथा भविष्य के बारे में उसकी पूर्व कल्पना सही नहीं हुई। यदि ये साइकिलें बिल्कुल नहीं बिकतीं तब इनमें लगाई गई पूंजी पूर्णतया नुकसान हो गई। यदि वह उन्हें बाद में बेचने में समर्थ होता है तब साहसोद्यमी को पूंजी पर ब्याज, संचयीकरण (Storage) तथा बीमा शुल्क इत्यादि का नुकसान होगा क्योंकि उसे इन व्ययों को उस समय तक करना होगा जब तक की साइकिलें बिक नहीं जातीं। यदि वह ७५००० साइकिलों को बेचने में समर्थ हो जाता है परन्तु प्रतियोगिता की तीव्रता अथवा अन्य कारणों से वह प्रति साइकिल का १३५ रुपये से अधिक मूल्य नहीं प्राप्त कर पाता तब उसे प्रति साइकिल पर ४० रुपये नुकसान उठाना होगा।

यह तर्क दिया जा सकता है कि सुरक्षित स्थिति में रहने के लिए उत्पादक को ७५ हजार साइकिलो के उत्पादन के बजाय केवल २० हजार साइकिलों का उत्पादन करना चाहिए था तथा १७५ रुपये प्रति साइकिल मूल्य के बजाय उसे केवल १३० रुपये मूल्य को सोचना चाहिए था। परन्तु इससे साहसोद्यमी की भावी प्रत्याशंसाओ (Prospects) में सुधार न होता जब वह केवल २० हजार साइकिलों का उत्पादन यह जानते हुए करता कि वह ७५ हजार साइकिलों को बेच सकता है क्योंकि इससे उसे व्यर्थ में ही अधिक लाभ का परित्याग करना होता। यदि वह भविष्य के मूल्य को १७५ रुपये के स्थान पर १३० रुपये प्रति साइकिल ही सोचता तब उसे साइकिल उत्पादन करने के लिए कोई भी उत्पादन

का साधन न मिलता। भविष्य के मूल्य के बारे में केवल उसी की ही प्राक्कलन (estimate) नहीं महत्वपूर्ण है वरन् प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की भी। यदि प्रतिद्वन्दी उत्पादक साइकिल के भावी मूल्य को १७५ रुपये होने की आशा रखते हैं तथा इसी आधार पर उत्पादन के साधनों को भुगतान करते हैं तब ऐसे उत्पादक के पास कोई भी उत्पादन का साधन नहीं आना चाहेगा जो साइकिल के भावी मूल्य को १३० रुपये होने की आशा रखता है तथा उसी आधार पर भुगतान करता है। इस प्रकार प्रतिद्वन्दी उत्पादक सभी साधनो को आकृष्ट कर लेंगें। अपने प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की आशाओं, उम्मीदों तथा भयों के समकक्ष रखने के लिए हमारा उत्पादक भी भविष्य के मूल्य के बारे में अपने प्राक्कलन को बढ़ाकर अन्य उत्पादकों के स्तर तक कर देगा। इसी में प्रतियोगी साहसोद्यमी का मर्म निहित है।

यदि उत्पादक भविष्य के बारे में ठीक ठीक निर्णय करने तथा उचित पूर्व-कल्पना करने में समर्थ होता है तब वह शुद्ध लाभ प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य उत्पादन के साधनों को भुगतान कर लेने के उपरान्त भविष्य में कुल विक्रयागम (sale proceeds) में से एक अतिरेक शेष रह जायेगा जिसे हम शुद्ध लाभ कहते हैं। परन्तु यदि वह भविष्य का ठीक ठीक निर्णय करने में समर्थ नहीं होता तब कुल विक्रयागम सभी साधनों को किए जाने वाले भुगतान के लिए भी पर्याप्त नहीं होगा तथा साहसोद्यमी को अपनी जेब से इस कमी को पूरा करना होगा और इस प्रकार उसे हानि होगी। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि जोखिम जो साहसोद्यमी उठाता है वह बीमा कराने योग्य जोखिम नहीं है। ऐसे भावी जोखिम जिनका कि बीमा कराया जा सकता है जोखिम नहीं कहे जा सकते। जोखिम से अभिप्राय हमारा अज्ञात जोखिमों से होता है जिनके विरुद्ध उत्पादक बीमा, द्वैधरक्षणों (hedging) इत्यादि से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसीलिए जोखिम को अनिश्चयता वहन कहना अधिक उपयुक्त है।

वे अर्थशास्त्री जो संगठन तथा साहसोद्यम में भेद नहीं करते यह कहते हैं कि साहसोद्यमी संयोजन तथा अनिश्चयता वहन दोनों कार्यों को करता है अतः उसे शुद्ध एवं सामान्य लाभ दोनों मिलते हैं। इसके विपरीत जो इन दोनों साधनों को पृथक रखते हैं, वे कहते हैं कि संगठन कर्ता संयोजन का कार्य करता है तथा सामान्य लाभ प्राप्त करता है और साहसोद्यमी जो अनिश्चयता वहन करता है मार्शल के शब्दों में शुद्ध लाभ प्राप्त करता है।

भूमि और पूँजी

क्लैसिकल साहित्य में 'जमीन की मौलिक एवं अनश्वर शक्ति' को भूमि कहा

गया है। यह केवल कृषि योग्य भूमि को ही संकेत करता है तथा इसका अर्थ जमीन को उर्वराशक्ति से होता है। कृषि भिन्न (Non-agricultural) भूमि में उर्वराशक्ति नहीं वरन् स्थान तथा स्थित अर्थ (site value) भूमि होती है। जमीन की उर्वराशक्ति अथवा स्थान के साथ साथ हमें हवा, जल तथा सूर्य की रोशनी—जो कि इसके अंग हैं—पर भी विचार करना होगा। इस प्रकार क्लैसिकल साहित्य में भूमि का अर्थ जमीन की उर्वराशक्ति तथा स्थान (space) एवं हवा, जल तथा सूर्य की रोशनी से होता है।

इसके विपरीत "पूँजी शब्द का प्रयोग उत्पादन के उन सभी संयमों (instruments) के लिए किया जाता है जो मनुष्य द्वारा जान-बूझ कर भविष्य में उत्पादन कार्य करने के लिए निर्मित किए जाते हैं। प्रमुख पूँजी आदेय (capital asset) मशीन, कारखाने, सवारियां इत्यादि होते हैं। इसलिए पूँजी का उत्पादन के साधनों में एक विशिष्ट स्थान है क्योंकि इसके सृजन में मनुष्य का पूर्ण नियन्त्रण है"।

'पूंजी किसी निश्चित समय पर विद्यमान राशि (stock) या निधि (fund) है। इसके विपरीत आय समयानुसार एक प्रकार का प्रवाह है—अर्थात इतना प्रति सप्ताह या प्रति वर्ष। निजी सम्पत्ति (private property) पर निर्भर रहने वाले समाज में किसी व्यक्ति की पूंजी में कागजी अधिकार (paper titles) जैसे बंध और हिस्से (stocks and shares) आदि सम्मिलित किए जा सकते हैं जिससे उसे एक निश्चित द्रव्य के रूप में आय अथवा किसी कम्पनी के लाभ का एक अंश पाने का अधिकार मिलता है। परन्तु किसी संकुचित (closed) समाज की दृष्टि से पूंजी के अन्तर्गत भौतिक सम्पत्ति (material assets) अथवा वस्तुएँ सम्मिलित की जा सकती हैं'।

टिकाऊ उपभोग पदार्थों यथा भोज्य पदार्थ की राशि, कपड़ा, कोयला, इत्यादि) के बारे में, जिनका प्रयोग उत्पादक उत्पादन की प्रक्रिया में करता है, मतभेद है। कुछ अर्थशास्त्री उसे सीमित रूप में पूंजी पदार्थ के अन्तर्गत रखते हैं तथा कुछ इसके अन्तर्गत नहीं रखते। कौन सा मत स्वीकार किया जाय यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि दोनों का अभिप्राय वास्तव में एक ही है। उपरोक्त प्रकार से परिभाषित पूंजी की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं : (१) यह मानव निर्मित है अतः यह मनुष्य के नियन्त्रण मे हैं; (२) इसमें समय का अंश सम्मिलित है क्योंकि यह कुछ समय तक सेवायें प्रदान करता है अतः इसके भुगतान का परिगणन भी इतने प्रतिशत प्रतिवर्ष के रूप में किया जाता है; और (३) पूंजी के प्रयोग से उत्पादन पूंजीतन्त्रीय विधि (round about methods) से सम्भव होता।

है। पूंजी के प्रयोग से उत्पादन में लगाए गए सभी साधनों की उत्पादन शक्ति एवं क्षमता में वृद्धि होती है। इससे पूंजी को अन्य साधनों में एक विशेष महत्त्व मिलता है। जो बचत करके पूंजी का सृजन करते हैं वे प्रतीक्षा की सेवाओं की पूर्ति करते हैं जिसके लिए उन्हें ब्याज के रूप में प्रतिकर (compensation) मिलता है।

भूमि तथा पूंजी में भेद. भूमि तथा पूंजी एक ही हैं अथवा इन्हें एक दूसरे से पृथक समझना चाहिए इसके विषय में कुछ विवाद है। रिकार्डो ने भूमि को 'जमीन की मौलिक एवं अनश्वर शक्तियों' के रूप में लिया। यह प्रकृति प्रदन्त वस्तु है। लेकिन भूमि जिसका हम प्रयोग करते हैं वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त मौलिक रूप में नहीं है। कृषि योग्य अथवा गृह निर्माण योग्य बनाने के लिये इसमें पूंजी का विनियोग किया गया है। प्राचीन क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने इसलिए यह सुझाव दिया कि भूमि में एक बार लगाई गई पूंजी को भूमि का एक अविच्छिन्न भाग समझना चाहिए तथा पूंजी विनियोग को जो कि समय-समय पर उसे यथावत रखने के लिए किया जाता है पूंजी के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिए। पूंजी की प्रमुख विशेषता यह है कि इसे यथावत बनाए रखने के लिये इसमें बार-बार विनियोग करना पड़ता है जिनसे पूंजी पदार्थ (capital goods) अपनी पूर्व रूप में हमारी सेवा करती रहे। परन्तु भूमि और पूंजी के इस भेद से समस्या का समाधान नहीं होता।

यह कहा जा सकता है कि भूमि और पूंजी में मौलिक भेद हैं : (१) भूमि प्रकृति प्रदत्त है परन्तु पूंजी मानव निर्मित पदार्थ है; अन्य शब्दों में यह उत्पादित उत्पादन का साधन है, (२) मौलिक उर्वराशक्ति तथा स्थान के रूप में भूमि स्थायी एवं अनश्वर है परन्तु पूंजी का मान है तथा उसे यथावत रखने के लिए उस पर व्यय इत्यादि करने होते हैं, (३) भूमि में—प्रकृति प्रदत्त होने के कारण—मानवीय त्याग नहीं होता परन्तु पूंजी में—मानव निर्मित उत्पादन का साधन होने के कारण—प्रतीक्षा का त्याग रहता है, और (४) पूंजी गतिशील है; यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकती है तथा मनुष्य की इच्छा के अनुसार इसकी मात्रा में वृद्धि अथवा कमी की जा सकती है। परन्तु भूमि एक स्थान पर निश्चित है तथा इसकी मात्रा में वृद्धि अथवा कमी मनुष्य की इच्छा से नहीं की जा सकती।

यदि हम इस पर अधिक गहनता से विचार करें तब ये भेद विलुप्त हो जाते हैं तथा भूमि एवं पूँजी में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। यह सत्य है कि ईश्वर ने मनुष्य को भूमि निःशुल्क प्रदान की है परन्तु इसकी आकृति जिसमें

भूमि जोती- जाती है अथवा जिस पर गृहनिर्माण किया जाता है वे प्रकृति की निःशुल्क देन नहीं हैं। यह उतना ही मानव निर्मित हैं जितना कि अन्य उत्पादन के साधन। हम मानव निर्मित तथा प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में स्पष्ट भेद नहीं कर सकते क्योंकि अन्ततः प्रत्येक पदार्थ ईश्वर प्रदत्त है चाहे वह एक रूप में हो अथवा दूसरे।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि भूमि की उर्वराशक्ति स्थायी एवं अनश्वर है तथा पूँजी में घिसाव (depreciation) होता है तथा समाप्त हो जाती है। कृषक द्वारा प्रयोग किए जाने वाली जमीन की उर्वराशक्ति में भी कमी होती जाती है तथा वह समाप्त हो जाती है। यह उर्वराशक्ति खाद आदि के सहारे फिर से उत्पन्न (replenish) की जाती है। यह सत्य हो सकता है कि ईश्वर प्रदत्त उर्वरता की मौलिक शक्ति नाशवान नहीं हो सकती। परन्तु हमारा सम्बन्ध उस उर्वरता से है जिसका प्रयोग कृषक करता है न कि उर्वरता के उस स्वरूप से जिसे ईश्वर ने प्रदान किया था। यह उतनी ही नाशवान है जितनी पूँजी तथा अन्य उत्पादन के साधन।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि पूँजी गतिशील होती है तथा भूमि नहीं। गतिशीलता का अर्थ केवल एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना ही नहीं होता, सही रूप में इसका अर्थ एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में जाना भी होता है। एक साधन को गतिशील कहा जायेगा यदि यह श्रम तथा पूँजी के समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता है या भूमि के सदृश उसी स्थान पर एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में आ सकता है। एक भूमि खण्ड का प्रयोग या तो गेहूँ बोने या ईख बोने के लिए किया जा सकता है अथवा मकान बनाने के लिये। इस अर्थ में भूमि भी गतिशील है।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि पूंजी की मात्रा मनुष्य द्वारा बढ़ाई जा सकती है तथा भूमि की मात्रा नहीं। अधिक गहरी जुताई से खेती किए जाने वाली भूमि को भी बढ़ाया जा सकता है। यदि भूमि से हमारा तात्पर्य निर्माण स्थान से हैं तब इसमें वृद्धि कई मंजिले मकानों को बनाकर की जा सकती है। एक सीमा होती है जिससे अधिक भूमि की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकती। इसी प्रकार पूंजी की मात्रा में भी एक सीमा से अधिक वृद्धि नहीं की जा सकती।

यह भी कहना ठीक नहीं है कि भूमि के पीछे कोई त्याग नहीं है क्योंकि यह प्रकृति की निःशुल्क देन है तथा पूंजी में प्रतीक्षा का त्याग निहित है। क्लैसि-कल अर्थशास्त्रियों ने त्याग का अर्थ कष्ट तथा कार्य में किए त्याग से लिया परन्तु

आधुनिक अर्थशास्त्र में त्याग से हमारा अभिप्राय परित्यक्त विकल्प (foregone alternative) अथवा अवसर लागत से होता है। एक खेत का मजदूर जो त्याग करता है वह कार्य से सम्बन्धित कष्ट तथा त्याग नहीं होता। उसका त्याग यह है कि जब वह कृषि मजदूर के रूप में काम करता है तब कारखाने के श्रमिक अथवा राज (mason) के सहायक के रूप में काम नहीं कर सकता। गन्ना बोने में भूमि के अन्तर्गत त्याग, अथवा अन्य शब्दो में अवसर लागत, गेहूँ न बोये जाने का परित्यक्त विकल्प है। एक खेत को ईख बोने के लिए रखने में त्याग यह है कि उसी समय उसमें गेहूँ नहीं बोया जा सकता। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भूमि तथा पूंजी में कोई मौलिक भेद नहीं है। यद्यपि कुछ छोटे प्रकार के भेद अवश्य हैं जिसके आधार पर भूमि तथा पूंजी में अन्तर किया जाता है परन्तु मूलत: वे लगभग एक ही हैं।

भूमि का नवीन अर्थ. यदि भूमि तथा पूंजी में कोई अन्तर नहीं है तो भूमि शब्द के अलग से प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है? क्यों नहीं कृषि योग्य भूमि, निर्माण स्थान इत्यादि को उत्पादक वस्तुओं की तरह पूंजी कहा जाता? ऐसा करने में कुछ भी नुकसान नहीं होगा। कृषि योग्य भूमि तथा गृह निर्माण योग्य स्थान उतने ही पूंजी हैं जितने कि अधिक धन के उत्पादन के लिए उत्पादक वस्तु।

यद्यपि उत्पादन के दृष्टिकोण से सभी उत्पादन के साधन एक रूप हैं परन्तु वे सदैव समान गतिशील नहीं हो सकते। किसी समय कुछ उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील हो सकते हैं (अर्थात् उनको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता है तथा एक ही स्थान पर उनको एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में लगाया जा सकता है) और कुछ नहीं। चूंकि गतिशीलता एक उत्पादन के साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान कराने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसलिए विभिन्न उत्पादन के साधनों में गतिशीलता के आधार पर अन्तर करना अधिक उपयुक्त है। यही बात वाइजर (Wieser) के विशिष्ट तथा अविशिष्ट साधनों के भेद में निहित है।

विशिष्ट साधन वे हैं जिनका प्रयोग एक समय में एक ही प्रकार से किया जा सकता है तथा अविशिष्ट साधनों के वैकल्पिक प्रयोग सम्भव हैं। गतिशीलता के रूप में यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के विशिष्ट साधन में गतिशीलता नहीं होती क्योंकि इसका प्रयोग अन्य स्थान पर नहीं हो सकता अथवा एक ही स्थान पर उसके वैकल्पिक प्रयोग नहीं हो सकते। परन्तु अविशिष्ट साधनों में गतिशीलता की शक्ति होती है तथा एक ही स्थान पर अन्यथा अन्य स्थानों पर इनके वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं यदि वर्तमान प्रयोग में इनका सन्तोषजनक कार्य नहीं होता।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि :

(१) विशिष्ट तथा अविशिष्ट रूप में साधनों का विभाजन उचित नहीं है, क्योंकि इनमें वस्तु भेद नहीं हैं वरन् अंश भेद है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि किसी समय कुछ साधनों में विशिष्टता का गुण होता है तथा कुछ साधनों में अविशिष्टता का। परन्तु हम विशिष्ट तथा अविशिष्ट उत्पादन के साधन इसलिए कहते हैं क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग करना अधिक सुविधा-जनक है।

(२) किसी भी साधन में विशिष्टता तथा अविशिष्टता का गुण हो सकता है। अथवा अन्य सुविधाजनक विधि से यह कहा जा सकता है कि एक समय में कोई साधन विशिष्ट तथा अविशिष्ट साधनों की श्रेणियों में हो सकता है। यदि ६० वर्ष का एक बुड्ढा जो किसी व्यक्ति के यहाँ बहुत दिनों से गृहदास (domestic servant) के रूप में कार्य कर रहा है दूसरी जगह गृह-दास के रूप में काम करने में असमर्थ है तब वह एक विशिष्ट साधन है। यदि धागे बुनने वाली मशीन का अन्य प्रयोग नहीं हो सकता तब वह विशिष्ट साधन है। यदि कृषि भूमि का कोई खण्ड गेहूँ बोने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोग में नहीं लाया जा सकता तब वह विशिष्ट साधन है। परन्तु एक अकुशल श्रमिक जो धक्का देने, खींचने, उठाने तथा घसीटने इत्यादि का कार्य अनेक स्थानों पर कर सकता है, पूंजी राशि तथा भूमि खण्ड जिसपर हम या तो गेहूँ या गन्ना पैदा कर सकते हैं अथवा जिसका प्रयोग गृह निर्माण कार्य के लिए किया जा सकता है, वे सभी अविशिष्ट साधनों की श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि अमुक उत्पादन का साधन हमेशा विशिष्ट होता है तथा दूसरा साधन सदैव अविशिष्ट।

(३) विशिष्टता का गुण स्थायी नहीं होता। जो आज विशिष्ट है वह कल अविशिष्ट हो सकता है तथा इसके विपरीत जो आज अविशिष्ट है वह कल विशिष्ट हो सकता है। एक भूमि खण्ड जिसमें इस समय गेहूँ बोया गया है उस समय अविशिष्ट हो जायेगा जब फसल काट ली जाती है तथा भूमि खण्ड दूसरी फ़सल के लिये तैयार हो जाता है। एक भूमि खण्ड जो कि व्यर्थ बंजर पड़ा हुआ है तथा जो अविशिष्ट है उस समय विशिष्ट हो जाता है जब उसमें गेहूँ बो दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक साधन के लिए पूर्णतया विशिष्ट तथा अविशिष्ट होना आवश्यक नहीं है। यह अंशतः विशिष्ट तथा अंशतः अविशिष्ट हो सकता है। एक अभियन्ता (engineer) जो वर्तमान कार्य में १००० रुपये पा रहा है और यदि दूसरे कार्य में उसे ८०० रुपये मिलते हैं तब वह २०० रुपयों की सीमा तक विशिष्ट है तथा ८०० रुपयों की सीमा तक अविशिष्ट।

आधुनिक अर्थशास्त्र में सभी विशिष्ट साधनों को भूमि कहा जाता है, अन्य स्पष्ट शब्दों में जिस सीमा तक वे विशिष्ट हैं उस सीमा तक उन्हें भूमि कहा जाता है। कृषि योग्य भूमि तथा अन्य उत्पादक पदार्थों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है परन्तु निश्चय ही विशिष्ट तथा अविशिष्ट साधनों में मौलिक भेद है। अतः भूमि (पूर्णतया विशिष्ट साधन) तथा अन्य साधनों (जो पूर्णतया अविशिष्ट हैं) में भेद करना सर्वथा उपयुक्त है। आधुनिक अर्थ में भूमि को कृषि भूमि तथा गृहनिर्माण स्थान से कुछ नहीं करना है। कोई भी साधन चाहे वह कृषि योग्य भूमि हो अथवा नहीं भूमि कहा जायेगा यदि वह पूर्णतया विशिष्ट है, अथवा जिस सीमा तक विशिष्ट है उस सीमा तक भूमि है।

विशिष्टता के इस गुण के निर्देशन के लिए 'भूमि' शब्द का प्रयोग संभ्रम उत्पन्न करने के लिए क्यों किया जाय जब कि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने इसका प्रयोग कृषि योग्य भूमि तथा निर्माण स्थान के लिए किया है? क्या विशिष्टता के गुण के निर्देशन के लिए एक नवीन शब्द का सृजन करना अधिक अच्छा नहीं होगा? विशिष्टता के गुण के लिए भूमि शब्द को प्रयोग करने का कारण यह है कि जब क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने कृषि योग्य भूमि तथा गृहनिर्माण स्थान के लिए भूमि शब्द का प्रयोग किया तब इन साधनों की अगतिशीलता उनके मस्तिष्क में थी। केवल यही गम्भीर त्रुटि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने की कि उन्होंने यह बतलाया कि केवल कृषि योग्य भूमि ही अगतिशील (हमारे शब्दों में विशिष्ट) साधन है तथा यह सदा ही ऐसी रहती है। यदि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने यह अनुभव किया होता कि कृषि योग्य भूमि तथा गृहनिर्माण स्थान के अलावा अन्य साधन भी विशिष्ट हो सकते हैं तथा इनका सदैव विशिष्ट होना आवश्यक नहीं है तब उनका मत आधुनिक सिद्धान्त जैसा ही होता। विशिष्टता के गुण के निर्देशन के लिए हम भूमि शब्द का प्रयोग करते हैं जिस पर वास्तव में क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने भूमि को पूंजी साधन से अलग करने पर जोर दिया। इस बात पर जोर देने के लिए प्रोफेसर जे० के० मेहता ने विशिष्टता के गुण के निर्देशन के लिए भूमि के स्थान पर भूमि पक्ष (land aspect) का प्रयोग किया। यह भूमि की क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषा से कड़ी जोड़ता है तथा हमारे 'भूमि' शब्द के प्रयोग की उपयुक्तता को स्वीकार करता है।

· अध्याय ११

जनसंख्या के सिद्धान्त तथा श्रम पूर्ति

(Theories of Population and Labour Supply)

किसी देश की जनसंख्या में वृद्धि अथवा कमी होने की दर का महत्व उत्पादन के लिए बहुत अधिक है। श्रम की पूर्ति जनसंख्या की वृद्धि पर आधारित है। वृद्धिमान जनसंख्या में, यदि अन्य बातें समान रहें, उत्पादन में समय की प्रति इकाई में उपलब्ध श्रमिकों की संख्या ह्रासमान जनसंख्या से अधिक होती है। यहाँ यह भी बतला देना चाहिए कि जनसंख्या की वृद्धि का महत्व उपभोग के लिए भी अधिक है। अधिक जनसंख्या के साथ-साथ खाने वाले भी अधिक व्यक्ति होते हैं तथा सभी प्रकार की वस्तुओं की माँग भी अधिक होती है बशर्ते कि लोग लाभप्रद कार्यों में लगाए गए हों तथा उनकी क्रय शक्ति में वृद्धि होती हो।

जनसंख्या के विभिन्न सिद्धान्त यह समझाने का प्रयास करते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि क्यों और किस प्रकार से होती है। यह इस बात का निर्देशन भी करती है कि दिए समय में किसी देश की जनसंख्या का स्तर क्या होना चाहिए। अन्य शब्दों में, जनसंख्या का सिद्धान्त यह जानने में कि किसी देश में जनाधिक्य है अथवा जनाभाव हमारी सहायता करता है।

माल्थस का सिद्धान्त. सन् १७९८ में अंग्रेजी पादड़ी टामस माल्थस ने अपने जनसंख्या के सिद्धान्त को अपनी अनाम (anonymous) पुस्तक (An Essay on the Principle of Population as it Affects the Future Improvement of Society) में उपस्थित किया। बाद के संस्करण लेखक के नाम से प्रकाशित होते थे तथा उनमें सिद्धान्त का संशोधित रूप प्रस्तुत किया गया था।

माल्थस ने खाद्य पदार्थों की पूर्ति एवं जनसंख्या की वृद्धि में तुलना की। उसने दो प्रमुख मान्यताएँ सामने रक्खीं : (१) जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक अनुपात में होती है जबकि खाद्य पदार्थों की वृद्धि केवल समानान्तर अनुपात (Arithmetical progression) में होती है जिसके अनुसार जनसंख्या की वृद्धि खाद्य सामग्रियों की वृद्धि से अधिक होती है, तथा (२) यदि लोग कृत्रिम निरोधों (preventive checks) यथा नैतिक निरोध (moral restraint), देर में शादी इत्यादि का प्रयोग जन्मदर को कम करने के लिए नहीं

करेंगे तब नैसर्गिक निरोध (positive checks) यथा व्यापक रोग, युद्ध, महामारी, प्लेग, अकाल इत्यादि मृत्यु दर में वृद्धि करने के लिए जोर करेंगे जिससे जनसंख्या की वृद्धि रुक जायगी।

पादड़ी के रूप में माल्थस अपने ग्राम में रहने वाले अन्य पादड़ियों के व्यक्तिगत के जीवन से अत्यन्त निकट सम्पर्क में आया तथा वह अपने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की दर से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। उसने मनुष्य के यौनिक आसतीत (sexual instincts) तथा सृजन की इच्छा को पूरा महत्व प्रदान किया। अपने निरीक्षण के आधार पर माल्थस ने यह विश्वास किया कि किसी देश की जनसंख्या २५ वर्ष में दुगुनी हो जायेगी। खाद्य पदार्थों के उत्पादन की वृद्धि पर विचार करते समय माल्थस ने यह माना कि पहले इसमें भी २५ वर्षों में दुगुनी वृद्धि होगी परन्तु अन्ततोगत्वा जब कि जनसंख्या की वृद्धि प्रत्येक २५ वर्ष में दूनी होती जायेगी खाद्य सामग्री की वृद्धि बहुत कम तेजी से होगी।

माल्थस ने यह मान लिया कि यदि लोग अधिक बच्चों का पालन-पोषण कर सकते हैं तब वे अपने जीवन स्तर को सुधार करने की अपेक्षा उन्हें अधिक संख्या में जन्म देना पसन्द करेंगे। इसके अतिरिक्त, कुछ कारणों से, माल्थस ने यह माना कि ज्यों-ज्यों जनसंख्या में वृद्धि होती है तब मनुष्य की उत्पादन शक्ति अपरिवर्तित रहती है परन्तु अधिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन के साथ-साथ भूमि की उर्वरा शक्ति में कमी होती जाती है। माल्थस ने अन्य क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों के सदृश भूमि पर ह्रासमान प्रतिफल के नियम को लागू किया परन्तु मानव जाति की उत्पादन शक्ति पर नहीं। इसलिए वह इस निराशापूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचा कि जनसंख्या में वृद्धि ज्यामितिक अनुपात में होगी यथा १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १२८, २५६, ५१२, १०२४, २०४८ और ४०९६ इत्यादि तथा खाद्य सामग्री में वृद्धि समानान्तर अनुपात में होगी यथा १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३ इत्यादि। इस प्रकार दो शताब्दियों में जनसंख्या तथा खाद्य पदार्थों में ५१२:१० का तथा तीन शताब्दियों में ४०९६ : १३ का सम्बन्ध रहेगा।

अपनी पुस्तक के बाद के संस्करणों में माल्थस ने अपने निराशापूर्ण निष्कर्ष—जनसंख्या की वृद्धि खाद्य सामग्री की वृद्धि से हमेशा अधिक होगी—में कोई परिवर्तन नहीं किया परन्तु अपने कथन का थोड़ा परिष्कार कर सिद्धान्त का नम्रता पूर्वक वर्णन किया। पुस्तक के बाद के संस्करणों में माल्थस ने ज्यामितिक तथा गणितिक अनुपातों को हटा दिया तथा केवल इतने ही पर बल दिया कि जनसंख्या

की वृद्धि की प्रवृत्ति खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक तीव्र होती है। इस परिवर्तन से उसका सिद्धान्त अधिक स्वीकार्य तथा कम आलोच्य हो गया।

यद्यपि माल्थस ने ऐसा कहा नहीं परन्तु उसने किसी देश के लिए उचित जनसंख्या का निर्णय करने के लिए एक कसौटी प्रस्तुत की। माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार किसी देश के लिए सबसे उपयुक्त जनसंख्या का स्तर वह है जिसका भरण-पोषण उपलब्ध खाद्य पदार्थों से किया जा सकता है। यदि जनसंख्या इस स्तर से कम है तब उस देश में जनाभाव (under-population) है, परन्तु माल्थस के अनुसार यह दशा असम्भव है क्योंकि लोग निस्सन्देह अधिक बच्चे पैदा करेंगे यदि वे उन्हें खिला सकते हैं। यदि उपलब्ध खाद्य सामग्री द्वारा भली भाँति खिलाये जाने वाले व्यक्तियों की संख्या से जनसंख्या अधिक हो जाती है तब यह जनाधिक्य (over-population) की दशा होगी। इसका परिणाम भूख मरी, बीमारी इत्यादि से मृत्यु होगी तथा जनसंख्या और खाद्य सामग्री दोनों में पुनः सन्तुलन स्थापित करने की प्रवृत्ति होगी।

आलोचनाएँ. यद्यपि आज भी माल्थस का सिद्धान्त कुछ सीमा तक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों (चीन तथा भारत इत्यादि) में लागू होता है परन्तु यह पश्चिम के अधिक विकसित देशों में नहीं लागू होता। जब से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ तभी से इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं, उनमें से बहुत सी आलोचनाएँ आज भी की जाती हैं :—

(१) यह कहा जाता है कि इस बात को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक अनुपात तथा खाद्य पदार्थों की वृद्धि समानान्तर अनुपात में होती हैं। माल्थस का निष्कर्ष न तो सिद्धान्त के आधार पर और न ही विभिन्न देशों के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर उचित ठहरता है। इन आलोचनाओं का महत्व उस समय समाप्त हो गया जब माल्थस ने इन कथनों को हटा दिया तथा साधारण रूप से यह कहा कि जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक तीव्र होती है। उसके सम सामयिक अर्थशास्त्रियों ने इस संशोधित निष्कर्ष को स्वीकार किया यद्यपि आधुनिक समय में इसकी सत्यता पर सन्देह किया जाता है तथा यह कहा जाता है कि यह आवश्यक नहीं है कि जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक तीव्र हो। यदि लोग अपने जीवन स्तर में सुधार करना चाहते हैं तथा वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा भूमि की उत्पादकता में वृद्धि की जा सकती है, तब यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक तीव्र होगी।

(२) माल्थस ने यह मान लिया कि जब खाद्य सामग्री या मनुष्य के अन्य संसाधनों की मात्रा में वृद्धि होती है तब वे अपने जीवन स्तर में सुधार करने की अपेक्षा अधिक बच्चो का पालन-पोषण करना पसन्द करेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही। यह देखा गया है कि शिक्षित तथा सभ्य लोग अपने जीवन स्तर के बारे में अधिक सतर्क रहते हैं तथा पालन किये जाने वाले स्तर पर ध्यान दिए बगैर केवल अधिक बच्चे पालने के लिए ही अधिक उत्पादन नहीं करते। वास्तव में पाश्चात्य देशों का अनुभव यह बतलाता है कि जब लोग आर्थिक दृष्टि से अच्छे हो जाते हैं तब वे अधिक बच्चों को रखने की अपेक्षा अपने तथा अपने बच्चो के जीवन स्तर में सुधार करते हैं। यह माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त के महत्व को कम कर देती है। यहाँ यह बतला देना चाहिए कि असभ्य तथा पिछड़े हुए लोगों का आज भी वैसा ही व्यवहार है जैसा कि माल्थस ने माना था तथा उसका सिद्धान्त बहुत अंश तक उन पर लागू होता है।

(३) माल्थस ने यह मान लिया कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की उत्पादन शक्ति अपरिवर्तित रहती है। आधुनिक वैज्ञानिक विचार इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं करता। यह कहना अधिक उचित है कि जब जनसंख्या में वृद्धि होती है तथा लोगों की आर्थिक दशा में सुधार होता है तब उनकी उत्पादन शक्ति घट जाती है और उनके पास कम बच्चे होते हैं। आर्थिक उत्कर्ष तथा जनसंख्या की वृद्धि में ऋणात्मक सम्बन्ध (negative correlation) है। माल्थस का यह कथन कि जब लोगों की आर्थिक दशा अच्छी होती है तब वे अधिक बच्चे पैदा करते हैं अनुचित है।

(४) माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि की तुलना उत्पादन (output) तथा खाद्य सामग्री की पूर्ति में वृद्धि से की। उसे (क) खाद्य सामग्री पर ही नहीं वरन् फल, वनस्पति, मछली, गोश्त इत्यादि—जो समान रूप से भोज्य पदार्थ हैं— पर भी विचार करना चाहिए था, तथा (ख) जनसंख्या में वृद्धि की तुलना खाद्य सामग्री की वृद्धि से नहीं वरन् देश के पूरे धन की वृद्धि से करनी चाहिये थी। यदि माल्थस ने यह किया होता तथा उसने वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप भूमि की उर्वरा शक्ति में हुई वृद्धि की पूर्व कल्पना की होती तो वह बिल्कुल भिन्न निष्कर्ष पर पहुँचता।

जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त. वास्तव में जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त (optimum theory of population) इस अर्थ में जनसंख्या का सिद्धान्त नहीं है कि यह जनसंख्या क्यों और किस प्रकार बढ़ती है इसे नहीं बतलाता। यह केवल अनुकूलतम विचार को जनसंख्या की वृद्धि पर लागू करता है। यह सिद्धान्त हमारी यह जानने में सहायता करता है कि एक देश में

किसी समय जनाधिक्य है अथवा जनाभाव या जनसंख्या बिल्कुल उचित है। इस प्रकार अनुकूलतम सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है: (१) माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि को खाद्य सामग्री की वृद्धि से सम्बन्धित किया परन्तु जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त जनसंख्या की वृद्धि को किसी देश के कुल प्राकृतिक संसाधनों, पूंजी की पूर्ति, प्राविधिक ज्ञान इत्यादि से सम्बन्धित करता है। इससे यह सिद्धान्त अधिक व्यापक एवं विस्मित हो जाता है; (२) माल्थस ने निराशावादी दृष्टिकोण रखा तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जनसंख्या की वृद्धि सदैव खाद्य सामग्री की वृद्धि से अधिक तीव्र होगी। इसके विपरीत अनुकूलतम सिद्धान्त आशावादी दृष्टिकोण रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि लोगों के उपलब्ध भौतिक संसाधनों से अधिक हो जायेगी। वास्तव में नवीन तथा अर्धविकसित देशों में जनाधिक्य के स्थान पर जनाभाव के होने की अधिक सम्भावना है। अत्यन्त विकसित देशों में भी जनाधिक्य होना आवश्यक नहीं है क्योंकि जनसंख्या में वृद्धि के साथ साथ वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग के फलस्वरूप प्राकृतिक तथा मानव निर्मित संसाधनों की मात्रा में वृद्धि अधिक तीव्र होने की सम्भावना है; (३) माल्थस ने यह भविष्यवाणी की कि कृत्रिम निरोधों के अभाव में जनसंख्या की वृद्धि में कमी भुखमरी, अकाल तथा युद्ध आदि द्वारा होगी परन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त इस प्रकार की कोई निराशावादी भविष्यवाणी नहीं करता। यदि देश में जनाधिक्य भी है तब भी इन परिणामों का होना आवश्यक नहीं है।

अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ. कार्यशील जनसंख्या देश के व्यक्तियों की संख्या पर आधारित है। जनसंख्या श्रम पूर्ति का श्रोत है। यह आशा करना उचित है कि यदि अन्य बातें समान रहें तब जनसंख्या में वृद्धि के फलस्वरूप कार्यशील जनसंख्या (working population) में वृद्धि होगी तथा जनसंख्या में कमी होने से देश की कार्यशील जनसंख्या में कमी। इसी कारण उत्पादन के सिद्धान्त में जनसंख्या में वृद्धि एवं कमी होने का महत्व है। दूसरे, प्रति व्यक्ति की उत्पादकता कार्यशील जनसंख्या तथा देश में उपलब्ध प्राकृतिक एवं भौतिक संसाधनों के अनुपात पर आधारित है। श्रम का संयोग उपलब्ध संसाधनों के साथ विभिन्न अनुपात में किया जा सकता है, परन्तु एक अनुपात ऐसा होता है जोकि सर्वोत्तम होता है तथा जिस पर प्रति व्यक्ति की उत्पादकता सर्वाधिक होती है।

यदि हम प्राकृतिक संसाधनों को भूमि, कच्चे पदार्थ, पूंजी की पूर्ति इत्यादि के रूप में लें, तथा प्राविधिक ज्ञान दिया हुआ मान लें तब प्रति व्यक्ति की उत्पादकता

जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ साथ उस समय तक बढ़ती जायेगी जब तक संसाधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो जाता। अन्य शब्दों में, श्रमिकों की संख्या में प्रत्येक वृद्धि अथवा जनसंख्या—जिससे श्रमिक प्राप्त किये जाते है - में वृद्धि के साथ, एक समय तक वृद्धिमान प्रतिफल होगा तथा श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के फल स्वरूप उत्पाद (output) में अनुपातिक वृद्धि अधिक होगी। जब वृद्धिमान प्रतिफल का पूर्ण प्रयोग हो जाता है तथा कार्यशील जनसंख्या उस स्तर तक पहुंच जाती है जहाँ प्रति व्यक्ति की उत्पादकता सर्वाधिक होती है तब हम यह कहते हैं कि उत्पादकता अनुकूलतम आकार पर हो रही है। जनसंख्या जो अनुकूलतम श्रमिकों को प्रदान करती है वह अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है।

यदि जनसंख्या इससे बढ़ जाती है तब ह्रासमान प्रतिफल होता है तथा जनसंख्या के प्रति व्यक्ति की उत्पादकता में कमी होने लगती है। यह जनाधिक्य की दशा है। इसके विपरीत यदि जनसंख्या इस स्तर से कम होती है और वृद्धिमान प्रतिफल की और सम्भावना होती है तथा जनसंख्या में वृद्धि के परिणाम स्वरूप प्रति व्यक्ति की उत्पादकता में वृद्धि होती है तब जनाभाव की दशा होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुकूलतम जनसंख्या का संबोध (concept) प्रतिफल के नियमों से निकट रूप में सम्बन्धित है। अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिस पर दिये हुए प्राकृतिक संसाधनों, पूँजी की पूर्ति, प्राविधिक ज्ञान इत्यादि पर प्रति व्यक्ति की उत्पादकता सर्वाधिक हो। यदि जनसंख्या इस स्तर से अधिक है तब जनाधिक्य की स्थिति होती है तथा इस स्तर से कम है तब जनाभाव की स्थिति होती है।

यद्यपि अनुकूलतम जनसंख्या का सम्बोध स्पष्ट है फिर भी किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या के स्तर का पता लगाना सदा सम्भव नहीं होता। किस जनसंख्या के स्तर पर प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय सर्वाधिक होगी, इसे जाना हमेशा सम्भव नहीं होता। यदि किसी प्रकार एक निश्चित समय में किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या का परिकलन सम्भव हो तब हम वास्तविक जनसंख्या के आँकड़ों की सहायता से असन्तुलन की दर—जनाधिक्य या जनाभाव का स्तर—का पता निम्नलिखित गुर (formula) के द्वारा लगा सकते हैं—

$$M = \frac{A - O}{O}$$

M असन्तुलन की दर, A जनसंख्या का वास्तविक स्तर, O किसी समय

की अनुकूलतम जनसंख्या को दिखलाती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी समय किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या ४० करोड़ है तथा वास्तविक जनसंख्या भी ४० करोड है तब जनसंख्या में किसी प्रकार का असन्तुलन नहीं है तथा वास्तविक जनसख्या अनुकूलतम जनसंख्या है क्योकि उपरोक्त गुर के अनुसार $M = 0$ के है।

परन्तु यदि वास्तविक जन सख्या ४२ करोड़ है तब $\frac{२}{४०}$ की सीमा तक जनाधिक्य है क्योकि $M = \frac{४२ - ४०}{४०}$ तथा इस दशा मे घनात्मक है। इसके विपरीत यदि वास्तविक जनसंख्या ३७ करोड़ है तब $\frac{३}{४०}$ की सीमा तक जनाभाव है क्योकि $M = \frac{३७ - ४०}{४०}$ और इस दशा में परिणाम ऋणात्मक है।

यद्यपि किसी समय किसी देश की अनुकूलतम जनसंख्या का पता लगाना सम्भव न भी हो फिर भी अर्थव्यवस्था की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि देश मे जनाभाव है अथवा जनाधिक्य। जनसंख्या के अनुकूलतम स्तर के बारे में तीन महत्वपूर्ण बाते है :

(१) किसी देश के लिए कोई स्थिर अनुकूलतम आकार नही होता। अनुकूलतम जनसंख्या किसी समय, उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनो, पूँजी की पूर्ति, प्राविधिक ज्ञान इत्यादि पर तथा इनके प्रयोग की गई सीमा पर आधारित है। यदि देश के प्राकृतिक एव अन्य उपलब्ध संसाधनो की मात्रा मे वृद्धि होती है अथवा उनका प्रयोग पूर्ण रूप से किया जाता है तब इनके द्वारा अधिक जनसख्या का भरण पोषण किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि प्राकृतिक तथा अन्य ससाधन अधिक निष्क्रिय (dormant) हो जाते है तथा उनमें कमी हो जाती है तब वर्तमान जनसंख्या जो अतीत मे अनुकूलतम थी अब वैसी नही रहेगी तथा जनाभाव की स्थिति हो जायेगी। वास्तविक जीवन की प्रवैगिक दशाओ में संसाधनो तथा उनके प्रयोग की जाने वाली सीमाओ मे सतत परिवर्तन होते रहते है इसलिए अनुकूलतम स्तर भी परिवर्तनशील रहता है। आज जो अनुकूलतम आकार है वह भविष्य में जनाधिक्य अथवा जनाभाव की स्थिति हो सकती है। ये दोनो स्थितियाँ उपलब्ध साधनो के प्रयोग की सीमा पर आधारित हैं।

(२) जनसंख्या को अनुकूलतम स्थर तक न केवल जनसंख्या में वृद्धि अथवा कमी करके वरन् अन्य विधियो द्वारा भी लाया जा सकता है। मान

लीजिए देश में जनाधिक्य है। इसे संसाधनों में वृद्धि अथवा दिए हुए साधनों का अधिक प्रयोग करके अनुकूलतम बनाया जा सकता है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्रविधि में विकास होता है तब उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग अधिक गहन रूप से करना सम्भव हो जाता है तथा इस प्रकार लोगों की संख्या में कमी किए बिना ही प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि की जा सकती है। भारतवर्ष में बहुत कुछ दशा इसी प्रकार की है। हम जनाधिक्य से कष्ट इसलिए उठा रहे हैं क्योंकि उपलब्ध संसाधनों का पूर्णतया प्रयोग नहीं किया जा रहा है। भूमि के कृष्यकरण (reclamation) तथा नदी घाटी एवं अन्य योजनाओं के पूरा हो जाने पर संसाधनों के प्रयोग में इतनी वृद्धि होने की सम्भावना है कि, भारतवर्ष की जनाधिक्य की दशा को दूर कर उसे अनुकूलतम आकार पर लाया जा सकता है।

इसके विपरीत यदि देश में जनाभाव है तब लोगों से कठिन परिश्रम करा कर तथा परिश्रम करने वालो की संख्या में वृद्धि करके इस दोष को दूर किया जा सकता है। इसके साथ जनसंख्या तथा संसाधनों में उचित सन्तुलन स्थापित करने के लिए दिए हुए संसाधनों के प्रयोग की दर में कमी करके भी इस दोष को दूर करना सम्भव है।

(३ अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त एक वस्तु निष्ठ (objective) आधार प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर जनसंख्या की वृद्धि का नियन्त्रण करना चाहिए। यदि देश में जनाधिक्य है तथा जनसंख्या को अनुकूलतम आकार पर लाने की आवश्यकता है तब सरकार को (१) जन-नियन्त्रण को प्रोत्साहन देकर जनसंख्या की वृद्धि को रोकना चाहिए, (२) उपलब्ध साधनों का पूर्ण रूपेण विकास करना चाहिए। जनाभाव की स्थिति में सरकार की नीति (क) अधिक परिवारों को प्रोत्साहन देकर जनसंख्या में वृद्धि करनी चाहिए, (ख) लोगों को कठिन परिश्रम करने के लिए प्रेरित करना चाहिए तथा (ग) जनसंख्या तथा संसाधनों में सन्तुलन स्थापित करने के लिए दिए हुए संसाधनों के प्रयोग में कमी करनी चाहिए।

यदि बिल्कुल आर्थिक दृष्टिकोण ही रखा जाय तब सरकार की नीति का उद्देश्य इसी प्रकार का होना चाहिए। परन्तु सरकार की नीति तथा समस्या के प्रति लोगों का रुख केवल आर्थिक दृष्टिकोण पर ही नहीं आधारित रहता वरन् अन्य व्यापक विचार द्वारा भी। उदाहरण के लिए एक राष्ट्र युद्ध के समय अनुकूलतम आकार से अधिक जनसंख्या को रखना पसन्द कर सकता है। कुछ दी हुई दशाओं में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय का विचार बहुत महत्वपूर्ण है परन्तु

देश की सुरक्षा के लिए जनसंख्या को अनुकूलतम स्तर से अधिक बढ़ने दिया जा सकता है जिससे विदेशी-आक्रमण की दशा में आवश्यक जनशक्ति की पूर्ति की जा सके। इसके विपरीत कुछ ऐसे राष्ट्र भी हो सकते हैं जो भौतिक विचारों से नहीं वरन् आध्यात्मिक विचारों से प्रभावित होते हैं। यदि लोग भौतिक कल्याण नहीं चाहते वरन् मानसिक शान्ति एवं आध्यात्मिक प्रगति चाहते हैं तब वे उतना कठिन परिश्रम नहीं करेंगे जितना कि अनुकूलतम स्तर के लिए आवश्यक है। इस दशा में लोग जनाभाव की स्थिति में रहना अधिक पसन्द करेंगे जो उन्हें अधिक सुख एवं अधिक शान्ति प्रदान कर सकता है।

पूर्णतया आर्थिक दृष्टिकोण से भी अनुकूलतम जनसंख्या प्रत्येक के लिए सर्वोत्तम जीवन स्तर नहीं प्रदान कर सकती। अनुकूलतम जनसंख्या औसतन प्रति व्यक्ति वास्तविक आय या प्रति व्यक्ति उत्पादन को सर्वाधिक सुनिश्चित करती है। परन्तु यह राष्ट्रीय लाभांश के सम्यक वितरण को सुनिश्चित नहीं करती। प्रत्येक व्यक्ति के उचित जीवन स्तर के लिए हमें धन के उचित वितरण तथा लोगों की आय के उचित प्रयोग को भी सुनिश्चित करना होगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन स्तर सर्वाधिक हो सके।

जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण. श्रम की पर्याप्त पूर्ति को सुनिश्चित करने के लिए जनसंख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करना तथा जनाधिक्य एवं जनाभाव को रोकना आवश्यक है। ऐसा करने के लिए केवल जन्म दर तथा मृत्यु-दर को दृष्टि में रखना चाहिए क्योंकि यह वास्तविक पुनः उत्पादन दर पर आधारित है कि कोई जनसंख्या स्थैतिक, वृद्धिमान अथवा ह्रासमान दशा में है। वास्तविक पुनः उत्पादन दर यह दिखलाती है कि किस दर से स्त्री जनसंख्या अपने को हटा रही है। यदि एक हजार स्त्रियाँ एक हजार बच्चियों को जन्म देती हैं जो कि बच्चा-प्रजनन आयु (भारत वर्ष में १५ साल से ४५ साल) तक जीती हैं तब जनसंख्या स्थिर रहती है तथा वास्तविक पुनः उत्पादन दर १ कही जाती है। इसके विपरीत यदि एक हजार बच्चियों के स्थान पर ८०० बच्चियाँ बच्चा-प्रजनन आयु तक जीती हैं तब वास्तविक पुनः उत्पादन दर ०·८ होगी तथा जनसंख्या में कमी होगी। इसके विपरीत यदि एक हजार स्त्रियों के स्थान पर १२०० स्त्रियाँ बच्चा-प्रजनन आयु से अधिक जीती हैं तब वास्तविक पुनः उत्पादन दर १·२ होगी तथा जनसंख्या में वृद्धि होगी। सरकार को जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण का प्रयास वास्तविक पुनः उत्पादन दर के आधार पर करना चाहिए।

इंगलैण्ड, फ्रान्स तथा अन्य यूरोपीय देशों में जनसंख्या में वृद्धि के लिए

वास्तविक पुनः उत्पादन दर को बढ़ाने का सतत प्रयास किया जा रहा है। भारत वर्ष, चीन तथा अन्य पूर्वीय देशों में जनाधिक्य को नियन्त्रित करने के लिए वास्तविक पुनः उत्पादन दर को कम करने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सरकार को न केवल जनसंख्या वृद्धि पर नियन्त्रण रखना चाहिए वरन् इसके गुणों पर भी। इस प्रकार की नीति को प्रभावोत्पादक बनाने में महान् कठिनाइयाँ होती हैं परन्तु इन्हें दूर किया जाना चाहिए। बच्चों का जन्म, इनके गुण, तथा इनके पालन पोषण करने की विधियाँ ये बिल्कुल निजी बातें हैं जिन पर सरकार धीरे-धीरे धैर्य के साथ नियन्त्रण कर सकती है। प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों की कार्य क्षमता में वृद्धि तथा लोगों के जीवन स्तर में सुधार करने के लिए सतत प्रयास करने की नितान्त आवश्यकता है।

अध्याय १२

प्रतिफल के नियम

(The Laws of Returns)

उत्पादन में विभिन्न वस्तुओं के रूप में नवीन उपयोगिताओं के सृजन के लिए अनेक उत्पादन के साधनों का संयोजन करना पड़ता है। कृषक गेहूँ के उत्पादन करने के लिए भूमि की उर्वरता, बीज, खाद, पानी, एक जोड़ी बैल, तथा अपनी सेवाओं को संयुक्त करता है। इसी प्रकार साहसोद्यमी चीनी तथा कागज आदि वस्तुओं के उत्पादन के लिए अनेक साधनों—भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन तथा साहसोद्यम—का संयोजन करता है। उत्पादन की इन सभी क्रियाओं में उत्पादन के अनेक साधनों को मिलाया जाता है। किसी एक साधन से कोई भी उत्पादन की क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। जब कोई व्यक्ति फूल या फल तोड़ने जाता है तब वह अपने श्रम तथा वृक्ष, जो या तो भूमि है अथवा पूँजी, का प्रयोग करता है। किसी वस्तु के उत्पादन के लिए सभी उत्पादन के साधनों को संयुक्त करना होता है लेकिन सैद्धान्तिक दृष्टि से कम से कम दो साधन उत्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि विभिन्न उत्पादन के साधनों का संयोजन या तो स्थिर अनुपात में किया जा सकता है अथवा परिवर्ती अनुपात में। स्थिर अनुपात के उदाहरण हैं टैक्सी और टैक्सी ड्राइवर तथा टाइप करने की मशीन और टाइप करने वाला। यदि अधिक काम करने की आवश्यकता है तब दो ड्राइवर एक टैक्सी को साथ नहीं चला सकते तथा दो टाइपिस्ट एक टाइप राइटर पर काम नहीं कर सकते। इन सब का संयोजन हमेशा निश्चित अनुपात (१:१) में किया जाता है। यदि अधिक कार्य करने की आवश्यकता समझी जाती है तब एक अधिक टाइप राइटर तथा टाइपिस्ट दोनों को बढ़ाना आवश्यक होता है। यह उत्पादन के स्थिर प्राविधिक गुणक (fixed technical co-efficient) की दशा है।

परिवर्ती अनुपात में एक निश्चित परिणाम की प्राप्ति के लिए अनेक उत्पादन के साधनों का संयोजन विभिन्न अनुपातों में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वस्तु की ५० इकाइयों का उत्पादन या तो १० श्रमिकों तथा २ मशीनों अथवा ४ श्रमिकों और ३ मशीनों की सहायता से किया जा सकता है। यहाँ पर एक ही परिणाम की प्राप्ति के लिए श्रमिक तथा मशीन का संयोजन विभिन्न अनुपातों में किया गया है। एक कृषक या तो अधिक मजदूरों तथा अपने पुराने हल और मशीन

की सहायता से अन्न पैदा कर सकता है या वह आधुनिक हल और ट्रैक्टर के साथ कम मजदूरों को लगाकर। यह उत्पादन के परिवर्ती प्राविधिक गुणक की दशा है।

परिभाषा हम समस्या पर विचार दो विभिन्न विधियों से कर सकते हैं। उत्पादन में वृद्धि करने के लिए या तो (१) हम अन्य उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर रख कर केवल एक साधन की मात्रा में वृद्धि करें। इस दशा में उत्पादन प्रतिफल के साधारण नियम के अनुसार होगा। उत्पादन या तो स्थिर प्रतिफल या वृद्धिमान प्रतिफल अथवा ह्रासमान प्रतिफल के अनुसार होगा; और या (२) हम सभी उत्पादन के साधनों में वृद्धि एक ही साथ समान अनुपात में करें। इस दशा में उत्पादन अनुमाप प्रतिफल (returns to scale) के अनुसार होगा। या तो स्थिर अनुमाप प्रतिफल या वृद्धिमान अनुमाप प्रतिफल अथवा ह्रासमान अनुमाप प्रतिफल की दशा होगी। लेकिन वास्तव में केवल स्थिर अनुमाप प्रतिफल ही होगा क्योंकि जब सभी उत्पादन के साधनों को एक ही अनुपात में बढ़ाया जायगा तब कोई कारण नहीं है कि उत्पत्ति में वृद्धि भी उसी अनुपात में न हो। यदि उत्पत्ति में वृद्धि कम अनुपात में होती है तो इसका अर्थ यह होता है कि कुछ साधनों की वृद्धि नहीं की गई है तथा इसके अनुसार हम साधारण ह्रासमान प्रतिफल उस साधन पर पाते हैं जिसकी वृद्धि नहीं की गई और जो स्थिर है। मार्शल ने जो 'ह्रासमान अनुमाप प्रतिफल' का उदाहरण दिया उसमें उसने मछली पकड़ने के लिए अन्य सभी साधनों—जाल, श्रम आदि—की तो वृद्धि की लेकिन वह समुद्र का क्षेत्रफल न बढ़ा सका जिसमें मछलियाँ पकड़ी जाती थीं। जब सभी सामग्रियों को दूना कर दिया गया तब मछली की उत्पत्ति में वृद्धि दुगुनी से कम हुई क्योंकि समुद्र के क्षेत्रफल में वृद्धि न की जा सकी और इसीलिए इस स्थिर साधन पर ह्रासमान प्रतिफल हुआ। यदि सभी साधनों में वृद्धि समान अनुपात से की जाती तब 'ह्रासमान अनुमाप प्रतिफल' न होता बल्कि केवल 'स्थिर अनुमाप प्रतिफल' ही होता। इसी प्रकार 'वृद्धिमान अनुमाप प्रतिफल' भी नहीं हो सकता। वृद्धिमान प्रतिफल स्थिर साधन के अधिक तीव्र प्रयोग किए जाने के कारण होता है जब अन्य परिवर्ती साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाती है तथा इसके अनुसार बड़े पैमाने के उद्योग की मितव्ययिताएँ सुरक्षित हो जाती हैं। लेकिन इसकी सम्भावना उस समय नहीं रहती जब सभी उत्पादन के साधनों में एक साथ वृद्धि एक ही अनुपात में की जाती है। अनुमाप प्रतिफल की समस्या उच्चतर अध्ययन का विषय है अतः इस पुस्तक में नहीं वर्णन किया जायेगा। इस अध्याय में हम प्रतिफल के साधारण नियमों की व्याख्या करेंगे।

प्रतिफल के नियम की समस्यायें वास्तव में अनुपात से सम्बन्धित हैं। जब हम अन्य उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर रखकर केवल एक साधन की छोटी इकाई बढ़ाते हैं तब तीन प्रकार के सम्भावित परिणाम हो सकते हैं। अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखकर एक साधन की मात्रा में १% वृद्धि करने से उत्पत्ति में या तो (अ) १% वृद्धि हो जिस दशा में स्थिर प्रतिफल होगा या (ब) एक प्रतिशत से अधिक वृद्धि हो जिस दशा में वृद्धिमान प्रतिफल होगा या (स) १% से कम वृद्धि हो जिस दशा में ह्रासमान प्रतिफल होगा।

	प्रयोग किए गए उत्पादन के साधन			उत्पादन की गई वस्तु की इकाइयाँ
	२५ मशीन + १०० श्रमिक	उत्पादन करते हैं		... १,०००
उदाहरण १	+ १०१	,,	,,	... १,०१०
उदाहरण २	+ १०१	,,	,,	... १,००८
उदाहरण ३	+ १०१	,,	,,	... १,०१२

उदाहरण से इस बात को समझना चाहिए। मान लीजिए एक व्यवसाय में १०० श्रमिक तथा २५ मशीन मिलकर वस्तु की इकाई पैदा करते हैं। यदि हम मशीन को (जो सभी स्थिर उत्पादन के साधनों का प्रतिनिधित्व करती है) स्थिर रखें तथा श्रम की मात्रा में एक इकाई अर्थात १% वृद्धि करें तब तीन प्रकार के परिणामों की सम्भावना होती है। जैसा कि उदाहरण १ में दिखलाया गया है, कुल उत्पत्ति में वृद्धि १० इकाई अर्थात १% हुई है। यह दशा स्थिर प्रतिफल की है क्योंकि उत्पत्ति में वृद्धि ठीक उसी अनुपात में हुई है जिस अनुपात में उत्पादन के साधनों में। जैसा कि दूसरे उदाहरण में दिखलाया गया है, उत्पत्ति में वृद्धि ८ इकाई होती है अर्थात उत्पत्ति में वृद्धि एक प्रतिशत से कम है। इस दशा में ह्रासमान प्रतिफल हुआ क्योंकि कुल उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि साधनों में की गई अनुपातिक वृद्धि से कम है। यदि उत्पत्ति में वृद्धि १२ इकाई होती है अर्थात एक प्रतिशत से अधिक, जैसा कि उदाहरण ३ में दिखाया गया है, तब यह वृद्धिमान प्रतिफल की दशा होगी क्योंकि उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि साधनों में की गई अनुपातिक वृद्धि से अधिक है। इस बात को स्पष्टतया ध्यान में रखना चाहिए कि अन्य उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर रखकर एक साधन की एक इकाई में वृद्धि करने के परिणामस्वरूप कुल उत्पादन में अवश्य वृद्धि होनी चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तब उत्पादक उत्पादन के साधन के अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग नहीं करेगा। इस अतिरिक्त इकाई को लगाना तथा उसे मजदूरी देना लाभप्रद नहीं होगा क्योंकि कुल उत्पादन या तो स्थिर रहता है या उसमें कमी हो जाती है।

ह्रासमान प्रतिफल का यह अर्थ नही होता कि उत्पादन के साधनों की एक अधिक इकाई लगाने से उत्पत्ति में पूर्णतया कमी हो जाती है। इसका अर्थ केवल इतना ही होता है कि उत्पादन में अनुपातिक वृद्धि कम होती है। प्रतिफल के नियम इस बातपर आधारित हैं कि उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि अधिक हुई अथवा कम तथा इसी के अनुसार वृद्धिमान तथा ह्रासमान प्रतिफल होता है।

प्रतिफल तथा लागत में सम्बन्ध. प्राचीन काल मे भुगतान उत्पादन की गई वस्तुओ में ही किया जाता था अत: उस समय प्रतिफल के नियम पर उत्पादित वस्तुओ के दृष्टिकोण से विचार करना उपयुक्त था। परन्तु आधुनिक औद्योगिक तथा कृषि के संगठन में भुगतान द्रव्य में किया जाता है। अत: हम प्रतिफल के नियम पर प्रति इकाई लागत के दृष्टिकोण से विचार करेंगे। वृद्धिमान प्रतिफल के स्थान पर प्रति इकाई ह्रासमान लागत तथा ह्रासमान प्रतिफल के स्थान पर वृद्धिमान लागत पर विचार करेंगे। प्रतिफल के नियम को प्रति इकाई उत्पादन लागत के रूप में दिखलाया जा सकता है जैसा निम्न उदाहरण से स्पष्ट है।

	कुल उत्पत्ति (इकाई में)	कुल लागत (रुपयों में)	प्रति इकाई लागत (रुपयों में)
उदाहरण १			
स्थिर प्रतिफल या स्थिरलागत की दशा			
मशीन + १००श्रमिक उत्पादन करते हैं	२००	१६००	८·००
मशीन + १०१ ,, ,, ,,	२०२	१६१६	८·००
मशीन + १०२ ,, ,, ,,	२०४	१६३२	८·००
उदाहरण २			
ह्रासमान प्रतिफल अथवा वृद्धिमान लागत की दशा			
मशीन + १०० श्रमिक उत्पादन करते है	२००	१६००	८·००
मशीन + १०१ ,, ,, ,,	२०१	१६१६	८·०३
मशीन + १०२ ,, ,, ,,	२०२	१६३२	८·७९
उदाहरण ३			
वृद्धिमान प्रतिफल या ह्रासमान लागत की दशा			
मशीन + १०० श्रमिक उत्पादन करते है	२००	१६००	८·००
मशीन + १०१ ,, ,,	२२०	१६१६	७·३४
मशीन + १०२ ,, ,,	२३०	१६३२	७·०९

ऊपर के उदाहरण में कुल उत्पादन लागत का अंक मान लिया गया है। जब दी हुई निश्चित मशीन के साथ १०० श्रमिक लगाये जाते है तब कुल उत्पादन लागत १६०० रुपये ही रहती है चाहे उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि अधिक अथवा कम हुई हो। इसी प्रकार जब १०१ श्रमिक लगाये जाते हैं तब कुल उत्पादन लागत १६१६ रुपये तथा जब १०२ श्रमिक लगाये जाते हैं तब उत्पादन लागत १६३२ रुपये मान ली गई है और ये तीनो उदाहरणो में स्थिर रहती है। अन्तिम तालिका में प्रति इकाई लागत की प्राप्ति कुल उत्पादन लागत को कुल उत्पत्ति की मात्रा से भाग देकर की गई है। चूंकि कुल उत्पादन लागत के अक सभी उदाहरणो में एक से हैं इसलिए तीनों उदाहरणो में प्रति ईकाई लागत का अन्तर विभिन्न प्रतिफल के नियमो के कारण है। पहले उदाहरण में कुल उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि साधनो में की गई अनुपातिक वृद्धि के बराबर है इसलिए स्थिर प्रतिफल या स्थिर लागत है। दूसरे उदाहरण में कुल उत्पत्ति की अनुपातिक वृद्धि साधनों की अनुपातिक वृद्धि से कम है अतः ह्रासमान प्रतिफल या प्रति इकाई वृद्धिमान लागत होती है। तीसरे उदाहरण में कुल उत्पत्ति की अनुपातिक वृद्धि साधनो की अनुपातिक वृद्धि से अधिक है इसलिए वृद्धिमान प्रतिफल या प्रति इकाई ह्रासमान लागत होती है।

अनुकूलतम उत्पादन का अर्थ. वृद्धिमान प्रतिफल पर प्रति इकाई ह्रासमान लागत तथा ह्रासमान प्रतिफल पर प्रति इकाई वृद्धिमान लागत के दृष्टिकोण से विचार करना अधिक सुविधाजनक होगा। जब श्रम की अधिक इकाई का प्रयोग एक दी हुई भूमि या मशीन पर किया जाता है तब पहले वृद्धिमान् प्रतिफल या प्रति इकाई ह्रासमान लागत होगी और बाद में ह्रासमान प्रतिफल या प्रति इकाई वृद्धिमान लागत होगी। चित्र २६ मे उत्पादन की मात्रा का निरुपण x-axis पर तथा प्रति इकाई उत्पादन लागत y-axis पर किया गया है।

चित्र २६
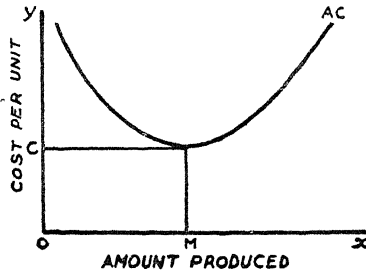
जब उत्पादन में वृद्धि की जाती है तब पहले औसत लागत में कमी होती है तथा वृद्धिमान प्रतिफल या ह्रासमान लागत होती है। जब OM मात्रा का उत्पादन किया जाता है तब प्रति इकाई उत्पादन लागत OC है जो कि न्यूनतम है। यही अनुकूलतम उत्पादन का विन्दु है। यदि उत्पादन इसी पैमाने पर किया जाता है तब स्थिर प्रतिफल या प्रति इकाई

उत्पादन लागत समान रहेगी। दिये हुये मशीन तथा प्राविधिक ज्ञान के आधार पर यही सर्वोत्तम विन्दु है जिसपर उत्पादन हो सकता है। यदि उत्पादन OM से अधिक किया जाता है तब औसत उत्पादन लागत में वृद्धि होने लगेगी और ह्रासमान प्रतिफल की दशा होगी।

"प्रत्येक कारीगर तथा कृषक की यह सतत अभिलाषा रहती है कि वह उत्पादन सस्ती से सस्ती लागत पर करे क्योंकि स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा में इसमे उन्हें अधिक से अधिक लाभ की सम्भावना रहती है। यह भली भाँति विदित है कि उत्पादन लागत के निर्धारण में उत्पादन के आकार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसलिए उद्योगपति ऐसे उत्पादन आकार पर उत्पादन करने के लिए उत्सुक रहता है जो कि दी हुई दशाओं में सबसे अधिक कुशल हो; ऐसे आकार को हम उत्पादन का अनुकूलतम आकार कहते हैं। अधिक स्पष्ट शब्दों में अनुकूलतम आकार वह है जिस पर दी हुई क्षमता तथा प्राविधिक ज्ञान की दशाओं में प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत सबसे कम हो। यदि हम अनुकूलतम विन्दु से अधिक या कम उत्पादन करेंगे तब प्रति इकाई उत्पादन लागत में वृद्धि होगी।"

उत्पादन का अनुकूलतम आकार सदैव स्थिर नहीं रहता। यदि भूमि की उर्वराशक्ति सुधर जाती है, या यदि अच्छे प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है अथवा यदि उत्पादन के साधनों की पूर्ति की दशाओं में तथा प्राविधिक ज्ञान आदि में परिवर्तन हो जाता है तब अनुकूलतम आकार में भी परिवर्तन हो जायेगा। भारतीय चीनी उद्योग के लिए सन् १९३२ के टैरिफ बोर्ड ने प्रति दिवस ४०० टन गन्ना पेरने वाले कारखाने को अनुकूलतम आकार वाला माना था जबकि सन् १९३८ में टैरिफ बोर्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ५०० टन प्रति दिवस गन्ना पेरने वाला कारखाना अनुकूलतम है। वर्तमान समय में ८०० से १००० टन प्रति दिवस गन्ना पेरने वाले कारखाने को अनुकूलतम आकार का समझा जाता है। चीनी के कारखाने के लिए अनुकूलतम आकार की वृद्धि मुख्यतया कारखानों के आस पास ईख की अधिक उपज के फलस्वरूप नई ईख की पूर्ति में वृद्धि हो जाने के कारण हुई है। पहले ईख की पर्याप्त मात्रा नहीं उपलब्ध थी अतः बड़े आकार की चीनी मिल खोलना अधिक मितव्ययी नहीं होता क्योंकि पर्याप्त ईख की मात्रा उपलब्ध नहीं हुई होती। बम्बई में सूती मिल का अनुकूलतम आकार अहमदाबाद से अधिक है क्योंकि बम्बई में जल विद्युत पद्धति से सस्ती बिजली मिल जाती है लेकिन अहमदाबाद की मिलों को विद्युत शक्ति की प्राप्ति के लिए अपनी मशीनों को लगाना पड़ता

है इसलिए यहाँ पर अनुकूलतम आकार का निर्धारण विद्युत शक्ति प्रदान करने वाले कारखानों के आर्थिक आकार के द्वारा होता है।

एक ही उद्योग में विभिन्न इकाइयों के अनुकूलतम आकार में अन्तर स्थान स्थान पर होता है। अनुकूलतम आकार में परिवर्तन दशाओं में परिवर्तन के अनुसार होता रहता है। इसके अतिरिक्त अनुकूलतम आकार सदैव बड़ा आकार नहीं होता। कुछ उद्योगों में छोटा आकार अनुकूलतम आकार होता है तथा कुछ में बड़ा आकार अनुकूलतम होता है। दी हुई दशाओं में अनुकूलतम आकार वह होता है जिस पर प्रति इकाई उत्पादन लागत सबसे कम हो। जहाँ तक सम्भव हो सकता है उत्पादक सदैव अनुकूलतम आकार पर उत्पादन करने की चेष्टा करता है। कृषि में अनुकूलतम उत्पादन की भावना का प्रकटीकरण पोषण क्षमक्षेत्र से होता है। कृषक अनुकूलतम पैमाने पर उत्पादन करने के लिए पोषण क्षमक्षेत्र (economic holding) रखना चाहता है क्योंकि इस पर दी हुई दशाओं में उत्पादन लागत न्यूनतम होगी।

वृद्धिमान प्रतिफल या ह्रासमान लागत. अनुकूलतम आकार तक उत्पादन वृद्धिमान प्रतिफल या प्रति इकाई ह्रासमान लागत पर होता है। इसका अर्थ हुआ कि बड़े पैमाने के उत्पादन में मितव्ययिताओं के कारण उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि उत्पादन के साधनों में की गई वृद्धि से अधिक है। एक कृषक जब कृषि के अनुकूलतम आकार तक नहीं पहुँच पाता तब भी श्रमिकों में वृद्धि करने के फलस्वरूप फसल में हुई अनुपातिक वृद्धि अधिक होगी क्योंकि उसे बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ प्राप्त होने लगती हैं। यदि वह पहले १०० श्रमिकों के द्वारा एक हजार मन गेहूँ का उत्पादन करता था और जब वह १०१ श्रमिक लगाता है अर्थात श्रमिक की वृद्धि १% कर देता है तब गेहूँ की उत्पत्ति में वृद्धि १०१२ अर्थात १% से अधिक हो जाती है क्योंकि भूमि की उर्वराशक्ति जिसका पहले भली भाँति उपयोग नहीं किया जा सकता था उसका अब एक अतिरिक्त श्रमिक के लगा देने से भली भाँति उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि चीनी का उद्योग अनुकूलतम आकार तक नहीं पहुँचा है तब श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करने के फलस्वरूप चीनी की उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि उत्पादन के साधनों में की गई वृद्धि की अपेक्षा अधिक होगी। अतः वृद्धिमान प्रतिफल की परिभाषा इस प्रकार से की जा सकती है: वृद्धिमान प्रतिफल वह अवस्था है जिसमें, दी हुई दशाओं में, उत्पादन के साधनों में वृद्धि के परिणाम स्वरूप उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि अधिक होती है। दूसरे ढंग से इस नियम की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है।

"जब किसी उत्पादन के साधन की अधिक मात्रा का प्रयोग किसी उत्पादन कार्य में किया जाता है तब बहुधा संगठन में ऐसे सुधार किए जा सकते हैं जिनसे साधन की प्राकृतिक इकाइयों (मनुष्य, एकड़, अथवा द्रव्य पूंजी) की क्षमता में वृद्धि हो जाती है अत: उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिए उसी अनुपात में उत्पादन के साधनों में वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।" यहाँ पर यह बतला देना चाहिए कि यह नियम या प्रवृत्ति ह्रासमान प्रतिफल के अनुसार सभी उत्पादन के साधनों में समान रूप से लागू हो सकती है लेकिन ह्रासमान प्रतिफल के समान यह सब दशाओं में नहीं लागू होती। कभी तो साधनों की मात्रा में वृद्धि से क्षमता में सुधार होगा और कभी नहीं होगा।

ह्रासमान लागत के कारण. बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ या वृद्धिमान प्रतिफल इस कारण से होता है कि वस्तुओं को बनाने वाली मशीन एक निश्चित न्यूनतम आकृति की ही बनाई जा सकती है उससे छोटी नहीं। मशीन की उत्पादन क्षमता एक बड़े रूप में उपलब्ध है जो छोटे टुकड़ों में विभाजित नहीं की जा सकती। हम एक ऐसी सीमेन्ट की मशीन नहीं बना सकते जो कि केवल एक ही बोरे सीमेन्ट का उत्पादन करती हो। जब हम एक ऐसी सीमेन्ट बनाने की मशीन बनाते हैं जो कि कम से कम एक हजार बोरे प्रतिदिन सीमेन्ट का उत्पादन कर सकती है तब हमें सीमेन्ट के अधिक उत्पादन करने के साथ साथ बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ उपलब्ध होने लगती हैं और यह मितव्ययिता तब तक प्राप्त होती रहेगी जब तक मशीन की उत्पादन क्षमता का पूर्णतया उपयोग नहीं किया जाता। यही बात भूमि के बारे में भी लागू होती है। दी हुई भूमि के आकार में १ मन गेहूँ का उत्पादन करना सम्भव नहीं है। यदि भूमि का विभाजन अनेक छोटे छोटे खण्डों में कर भी दिया जाय तब भी भूमि का आकार इतना छोटा नहीं किया जा सकता कि उससे १ मन गेहूँ पैदा किया जा सके। भूमि की उर्वराशक्ति एक निश्चित रूप में केन्द्रित रहती है तथा जब अधिक गेहूँ का उत्पादन किया जाता है तब भूमि की उर्वराशक्ति का उपयोग भली भाँति होता है और इसी कारण वृद्धिमान प्रतिफल या प्रति इकाई ह्रासमान लागत होती है।

वृद्धिमान प्रतिफल का प्रमुख कारण अविभाज्यता की अवस्था है। कृषि में भूमि की उर्वराशक्ति तथा उद्योग में मशीन की उत्पादन शक्ति का विभाजन छोटे छोटे टुकड़ों में नहीं किया जा सकता। एक निश्चित आकार से छोटे रूप में ये अविभाज्य होती हैं। इन्हीं कारणों से बड़े पैमाने की मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं।

ये मितव्ययिताएँ तब तक प्राप्त होती रहेंगी जब तक कि अविभाज्यता, अर्थात इनकी निश्चित उत्पादन क्षमता, का उपयोग पूर्णतया नहीं हो जाता।

मार्शल ने बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं को दो भागों में विभाजित किया—आन्तरिक मितव्ययिताएँ तथा वाह्य मितव्ययिताएँ। बड़े पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक एवं वाह्य मितव्ययिताएँ साधनों की अविभाज्यता के कारण होती हैं। दोनों में अन्तर यह है कि आन्तरिक मितव्ययिताएँ—भूमि की दी हुई उर्वराशक्ति तथा मशीन की निश्चित उत्पादन क्षमता का पूर्ण प्रयोग, आफिस एवं विपणन संगठन (Marketing organisation) आदि—वे होती हैं जिन्हें उत्पादक अपने प्रयास से ला सकता है। यह एक कृषक के पूर्णतया आधीन है कि वह अपनी भूमि का भली भाँति उपयोग करके बड़े पैमाने के उत्पादन की सभी मितव्ययिताओं को प्राप्त करे चाहे अन्य कृषक आन्तरिक मितव्ययिताओं को प्राप्त कर रहे हों या नहीं। इसके विपरीत वाह्य मितव्ययिताएँ वे होती हैं जिन्हें एक उत्पादक अपने व्यक्तिगत प्रयास से नहीं प्राप्त कर सकता। वे उस समय प्राप्त होती हैं जब अनेक उत्पादक बड़े पैमाने पर उत्पादन करने लगते हैं। जब एक बढ़ई फर्नीचर का उत्पादन बड़े पैमाने पर करता है तब कोई सस्ते दामों पर कील तथा स्क्रू नहीं देगा परन्तु यदि अनेक बढ़ई इन वस्तुओं की माँग करते हैं तब एक सहायक उद्योग का विकास हो जायेगा तथा बढ़इयों को कील तथा स्क्रू के सस्ते दामों के रूप में वाह्य मितव्ययिताएँ प्राप्त होने लगेगीं। कृषि में भी यही बात ठीक होती है। यदि केवल एक कृषक है तब किसी व्यक्ति के लिए अच्छे बीज तथा खाद का उत्पादन करना अधिक लाभप्रद नहीं होगा लेकिन जब अनेक कृषक होते हैं तब इन सब वस्तुओं को सस्ते दामों में प्रदान करने के लिए एक सहायक उद्योग का विकास हो जायेगा। इस प्रकार की मितव्ययिताएँ बड़े पैमाने के उत्पादन की वाह्य मितव्ययिताएँ कहलाती हैं। यदि हम इस समस्या पर गहराई से विचार करें तब हमें मालूम होगा कि आन्तरिक एवं वाह्य मितव्ययिताएँ अविभाज्यता के कारण होती हैं।

आन्तरिक मितव्ययिताएँ. उत्पादन क्षमता के प्रयोग, कार्यालय, विक्रय एवं क्रय संगठन से सम्बन्धित तीन प्रमुख आन्तरिक मितव्ययिताएँ होती हैं।

मान लीजिए एक मशीन अनुकूलतम आकार पर १०० इकाइयों का उत्पादन कर सकती है। यदि वस्तु की केवल ५ इकाइयाँ पैदा की जाती हैं, जैसा कि पहली अवस्था में है, तब उत्पादन लागत २०४ रुपये प्रति इकाई है लेकिन जब अनुकूलतम आकार पर १०० इकाइयों का उत्पादन किया जाता है, जैसा

	उत्पादन की गई इकाइयो की संख्या	उत्पादन लागत (रुपयो में)			प्रति इकाई लागत (रुपयो में)
		अपरिवर्ती लागत	परिवर्ती लागत	कुल लागत	
पहली अवस्था	५	१०००	२०	१०२०	२०४
दूसरी अवस्था	१००	११००	४००	१५००	१५

कि दूसरी अवस्था में है, तब उत्पादन लागत घटकर १५ रु० प्रति इकाई हो जाती है। अपरिवर्ती लागत मशीन, आफिस आदि पर लगाई जाती हैं, इसमें उत्पादन मे वृद्धि के साथ साथ वृद्धि नहीं होती : चाहे ५ इकाइयों का उत्पादन किया जाय या अधिक, उत्पादन लागत प्राय: स्थिर ही रहती है। दूसरी अवस्था में जब उत्पत्ति बढ़कर १०० इकाई हो जाती है तब मशीन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता होगी और तब अधिक मशीन टूटने की भी सम्भावना होगी। अतः हम लोगो ने अपरिवर्ती लागत (overhead cost) को ११०० रुपये माना है। परिवर्ती लागत कच्चे माल तथा रसायन के खरीदने तथा श्रमिकों को मजदूरी देने मे लगाई जाती है और जब उत्पादन किया जायेगा तभी इसकी आवश्यकता होगी। उपरोक्त उदाहरण मे हमने मान लिया है कि जब उत्पादन होता है तब परिवर्ती लागत ४ रुपये प्रति इकाई है। जितनी अधिक मात्रा का उत्पादन किया जाता है उतनी ही अधिक परिवर्ती लागत होती है तथा इसके विपरीत जितनी कम मात्रा का उत्पादन किया जाता है उतनी ही कम परिवर्ती लागत होती है। पहली अवस्था मे प्रति इकाई उत्पादन लागत अधिक है क्योंकि मशीन का पूर्ण रूपेण प्रयोग नहीं किया जा रहा है तथा पूरी अपरिवर्ती लागत का विभाजन ५ इकाइयों मे होता है। लेकिन जब उत्पादन की जाने वाली इकाइयो की संख्या मे वृद्धि होती है, जैसा कि दूसरी अवस्था में दिखलाया गया है, तथा उत्पादन १०० इकाइयो का (जो कि अनुकूलतम आकार की हैं) होता है तब अपरिवर्ती लागत का विभाजन अनेक इकाइयों में हो जाता है तथा प्रति इकाई उत्पादन लागत घटकर १५ रुपये हो जाती है। जिस प्रकार कारखाने मे जब कम इकाइयो का उत्पादन होता है तब प्रति इकाई अपरिवर्ती उत्पादन लागत अधिक होती है उसी प्रकार जब एक निश्चित आकार की भूमि में कम गेहूँ का उत्पादन किया जायेगा तब गेहूँ की भी उत्पादन लागत अधिक होगी। ज्यों ज्यो गेहूँ की अधिक मात्रा का

उत्पादन भूमि का पूर्णतया प्रयोग करके किया जाता है, त्यो त्यो अनुकूलतम आकार तक गेहूँ की प्रतिमन उत्पादन लागत घटती जाती है क्योकि अपरिवर्ती लागत का विभाजन अधिक उत्पत्ति की मात्रा से हो जाता है।

मशीन की तरह 'कार्यालय सामग्री', विक्रय तथा क्रय संगठन भी अविभाज्य होते है। एक कार्यालय होना ही चाहिए चाहे वस्तु की ४ इकाइयो का उत्पादन किया जाय अथवा ४०० इकाइयो का। मान लीजिए कार्यालय पर व्यय १००० रुपये किए जाते हैं और केवल ४ इकाइयो का उत्पादन किया जाता है। इस दशा में प्रति इकाई पर आफिस का २५० रुपये व्यय पड़ेगा। परन्तु जब ४०० इकाइयो का उत्पादन किया जाता है तब आफिस व्यय जो अपरिवर्ती लागत का एक अंग है घटकर २५ रुपये प्रति इकाई हो जाता है। कारखाने या खेत का एक क्रय एवं विक्रय संगठन होता है और यदि कम मात्रा का उत्पादन किया जाता है तब इस संगठन का पूरा व्यय इन थोड़ी इकाइयो पर पड़ता है और जब उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तब प्रति इकाई लागत घटती जाती है। अतः मशीन, भूमि तथा संगठन की अविभाज्यता ही बड़े पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक मितव्ययिताओं के प्रमुख कारण हैं।

बाह्य मितव्ययिताएं. जब बड़े पैमाने पर उत्पादन अनेक उत्पादकों द्वारा किया जाता है तब सस्ते सहायक पदार्थों की प्राप्ति, रेल, डाक, बीमा तथा बैंक आदि की सुविधाएँ एवं श्रम तथा पूँजी की पूर्ति ये प्रमुख मितव्ययिताएँ होती हैं। उदाहरणार्थ यदि मोटर कार का केवल एक ही उत्पादक है तब उसे स्वयं शीशे के पर्दे, रबर के टायर, ट्यूब, गद्दे तथा बिजली की अन्य वस्तुओं इत्यादि का उत्पादन करना पड़ेगा और उसकी उत्पादन लागत अधिक होगी क्योंकि वह अपने प्रयोग के लिए इन वस्तुओ का उत्पादन थोडी मात्रा में कर रहा है। परन्तु जब मोटर कार के अनेक उत्पादक होते हैं तथा बहुत सी कारो का उत्पादन किया जाता है तब किसी व्यक्ति के लिए इन वस्तुओ का उत्पादन करना तथा सस्ते दामो पर उनकी पूर्ति करना अधिक लाभप्रद होगा। अन्य शब्दो में, एक सहायक उद्योग की स्थापना सम्भव हो सकेगी जो कि इन वस्तुओ की पूर्ति सस्ते दामो पर करेगी और साथ साथ बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं को भी प्राप्त करेगी। यहाँ पर यह बात बतला देना चाहिए कि जो बाह्य मितव्ययिताएँ मोटर कार के उद्योग को उपलब्ध है वे इन वस्तुओ को प्रदान करने वाले उद्योग का आन्तरिक मितव्ययिताएँ है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से सहायक उद्योग की उत्पादन लागत का कम होना मशीन तथा प्राविधिक सामग्रियों की अविभाज्यता के कारण ही है। मोटर कार उद्योग की बाह्य मितव्ययिताएँ भी परोक्ष

रूप से अविभाज्यता के कारण ही हैं। जब बहुत से उत्पादक रेल, डाक, बीमा, बैंक आदि अनेक सुविधाओं की मांग करते हैं तब बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं का, जो कि इन सेवाओं की अविभाज्यता के कारण हैं, पूर्ण उपयोग सम्भव हो जाता है तथा वे प्रमुख उत्पादक को प्राप्त होती हैं क्योंकि उन्हें वस्तुओं की पूर्ति सस्ते दामों पर हो जाती है।

स्थिर लागत या स्थिर प्रतिफल जब बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं का पूर्ण उपयोग हो जाता है और जब प्रति इकाई अपरिवर्ती लागत न्यूनतम हो जाती है तथा जब उत्पादन अनुकूलतम आकार पर होता है तब स्थिर प्रतिफल या स्थिर उत्पादन लागत होती है। यदि इस अवस्था पर दी हुई मशीन और सामग्रियों के साथ श्रम की एक अधिक इकाई हम लगा देते हैं तब ह्रासमान प्रतिफल या वृद्धिमान लागत प्रारम्भ होगी जैसा कि हम अभी देखेंगे। परन्तु यदि सभी वस्तुएँ स्थिर रखी जायें तब वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत पर होता रहेगा। मान लीजिए इस अवस्था में हम वस्तु की १०,००० इकाइयों के उत्पादन के लिए १० मशीन तथा १००० श्रमिकों का प्रयोग करते हैं तथा उत्पादन लागत १० रुपया प्रति इकाई है। दूसरी १०,००० इकाइयों का उत्पादन भी १० रुपया प्रति इकाई उत्पादन लागत पर किया जा सकता है जब कि उसी प्रकार की १० मशीनें तथा १००० श्रमिकों का प्रयोग किया जाय। अन्य शब्दों में, उत्पादन प्रति इकाई स्थिर लागत पर अनिश्चित काल तक वर्तमान उत्पादन सामग्रियों में वृद्धि करके किया जा सकता है।

प्रतिफल के साधारण नियमों में अन्य उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर रखी जाती है और किसी एक साधन की वृद्धि एक छोटी इकाई में की जाती है। परन्तु यदि हम अनुकूलतम पैमाने पर उत्पादन करना चाहते हैं तब सभी उत्पादन के साधनों की वृद्धि एक ही अनुपात में करनी होगी। अनुकूलतम पैमाने पर उत्पादन प्रतिफल तथा स्थिर अनुमाप प्रतिफल (constant returns to scale) दोनों के कारण होगा। इस बिन्दु पर उत्पादन स्थिर लागत पर अनिश्चित सीमा तक बढ़ाया जा सकता है यदि हम अधिक मात्रा का उत्पादन उतना ही करें जितना कि अनुकूलतम आकार पर किया जाता था। यदि १० हजार इकाइयों का उत्पादन १० रु० प्रति इकाई पर किया जाता था तब अन्य १० हजार इकाइयों का भी उत्पादन १० रुपये प्रति इकाई पर होना चाहिए। लेकिन हम १०,००५ इकाइयों का उत्पादन १० रु० प्रति इकाई स्थिर लागत पर नहीं कर सकते क्योंकि इस दशा में उत्पादन की सभी सामग्रियों को दुगुना कर देने से काम नहीं चलेगा तथा हमें किसी एक साधन की वृद्धि

अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक अनुपात में करनी होगी। ऐसी दशा में या तो ह्रासमान प्रतिफल या वृद्धिमान प्रतिफल होगा।

ह्रासमान प्रतिफल या वृद्धिमान लागत यदि अनुकूलतम आकार से अधिक उत्पादन किया जाता है तब परिवर्तित साधन के एक अधिक इकाई के लगाने से उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि कम होती है तथा प्रति इकाई उत्पादन लागत में वृद्धि होने लगती है। चीनी के कारखाने की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग हो जाने के बाद यदि अधिक चीनी के उत्पादन के लिए अतिरिक्त श्रमिकों का प्रयोग किया जाता है तब चीनी की उत्पादन लागत में वृद्धि होने लगेगी। इसी प्रकार यदि कृषक अपनी भूमि का प्रयोग उसकी उर्वराशक्ति की सीमा के बाद करता है तब प्रति इकाई उत्पादन लागत में वृद्धि होगी और ह्रासमान प्रतिफल होने लगेगा।

मार्शल के अनुसार "यदि कृषि कला में किसी प्रकार का सुधार न हो तो पूँजी और श्रम की अधिक मात्रा का कृषि में प्रयोग करने के परिणामस्वरूप उससे प्राप्त होने वाली उपज की मात्रा में अनुपातिक वृद्धि सामान्यतः कम होती जायेगी"। इस परिभाषा से यह आभास होता है कि ह्रासमान प्रतिफल केवल कृषि (भूमि) में ही होता है, उद्योग (मशीन) में नहीं। लेकिन ऐसा नहीं है। निश्चित उत्पादन क्षमता के समाप्त हो जाने के बाद ह्रासमान प्रतिफल कृषि तथा उद्योग दोनों में लागू होता है। इसके अतिरिक्त मार्शल की परिभाषा ह्रासमान प्रतिफल पर बल देती है, वृद्धिमान लागत पर नहीं। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं, इस पर उत्पादन लागत के दृष्टिकोण से विचार करना प्रतिफल के दृष्टिकोण से विचार करने से अधिक उचित एवं सुविधाजनक है।

इसलिए हम श्रीमती जोन राबिन्सन की परिभाषा को स्वीकार कर सकते हैं जो इस प्रकार से हैं : "किसी एक उत्पादन के साधन की निश्चित मात्रा के साथ अन्य साधनों की क्रमशः बढ़ती हुई मात्रा कुछ समय बाद ह्रासमान प्रतिफल देगी। लागत के दृष्टिकोण से यदि उत्पादन के एक साधन की निश्चित मात्रा के साथ अन्य साधनों की बढ़ती हुई मात्रा का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि बढ़ी हुई मात्रा के प्रयोग से उनकी कार्य क्षमता तथा मूल्यों में कोई परिवर्तन न हो तो कुछ समय बाद प्रति इकाई उत्पादन लागत में वृद्धि होने लगेगी"।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि अन्ततोगत्वा उद्योग तथा कृषि दोनों में क्यों ह्रासमान प्रतिफल होता है। इसके अनेक कारण हैं।

(१) भूमि की एक निश्चित उर्वराशक्ति तथा मशीन की एक निश्चित

उत्पादन क्षमता होती है। जब उत्पादन में अधिक श्रमिकों को लगाया जाता है तब इन निश्चित उर्वराशक्ति तथा उत्पादन क्षमता का पूर्णतया उपयोग हो जाता है। इस सीमा के बाद अधिक श्रमिकों को लगाने से स्थिर साधनों (भूमि तथा मशीन) पर अधिक भार पड़ने लगता है। इसके फलस्वरूप ह्रासमान प्रतिफल या प्रति इकाई वृद्धिमान लागत होती है। मशीन पर अधिक भार पड़ने का परिणाम यह होता है कि उसके हिस्से अधिक टूटने लगने हैं तथा उस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता उस समय अधिक हो जाती है जब मशीन अपनी पूरी गति से अधिक तीव्र चलती है। इससे स्थिर लागत में अपार वृद्धि हो जाती है।

खानों, पत्थर निकालने तथा मछलियों के व्यवसाय में भी ह्रासमान प्रतिफल लागू होता है क्योंकि प्राकृतिक उपादान निश्चित मात्रा में ही उपलब्ध होते हैं। ज्यों-ज्यों हम अधिक उत्पादन करते हैं त्यों त्यों प्राकृतिक उपादान समाप्त होते जाते हैं तथा कुछ समय बाद उत्पत्ति में अनुपातिक वृद्धि साधनों में की गई अनुपातिक वृद्धि से कम होती है। अन्य शब्दों में, ज्यों-ज्यों हम अधिक उत्पादन करते हैं त्यों-त्यों खानों की गहराई, कच्चे धातुओं की कमी, तथा कार्य करने की अधिक विकट परिस्थितियों के कारण उत्पादन लागत में वृद्धि होने लगती है।

	उत्पादन की गई इकाइयाँ	उत्पादन लागत (रुपयों में)			प्रति इकाई उत्पादन लागत रुपयों में)
		अपरिवर्ती लागत	परिवर्ती लागत	कुल लागत	
तीसरी अवस्था	११०	२,०००	४४०	२४४०	२२'१६

आइए पुराने उदाहरण को लें। मान लीजिए कि वस्तु की १०० इकाइयों के स्थान पर ११० इकाइयों का उत्पादन किया जाता है जैसा कि तीसरी अवस्था में दिखलाया गया है। अपरिवर्ती लागत में वृद्धि अधिक तीव्रता से होगी क्योंकि मशीन पर अब काफी भार पड़ेगा। यदि हम यह मान लें कि परिवर्ती लागत वही है जो पहले थी (४ रुपये प्रति इकाई) तब अपरिवर्ती लागत में वृद्धि होगी—मान लीजिए वह २००० रुपये है। अब प्रति इकाई उत्पादन लागत १५ रु० से बढ़ कर तीसरी अवस्था में २२'१६ रु०—

हो जायेगी। जैसा कि चित्र २६ से ज्ञात होगा, यदि उत्पादन अनुकूलतम आकार से अधिक किया जायेगा तब औसत लागत में वृद्धि होती जायेगी।

अनुकूलतम आकार के आगे उत्पादन लागत में वृद्धि भूमि की सीमित उर्वराशक्ति तथा मशीन की सीमित उत्पादन क्षमता के कारण होती है। यदि विज्ञान की सहायता से हम भूमि की उर्वराशक्ति तथा मशीन की उत्पादन क्षमता में असीमित वृद्धि कर सकें तब ह्रासमान प्रतिफल नहीं होगा। वास्तव में विज्ञान के विकास के फलस्वरूप कृत्रिम खादों तथा जुताई की नवीन विधियों आदि का आविष्कार किया गया है जिसकी सहायता से भूमि की उर्वराशक्ति में कुछ वृद्धि की जा सकती है तथा ह्रासमान प्रतिफल को स्थगित किया जा सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश विज्ञान का इतना अधिक विकास नहीं हो पाया है जिससे भूमि की उर्वराशक्ति में असीम वृद्धि की जा सके। इसी प्रकार उद्योग में बड़े तथा उत्तम प्रकार के यंत्रों एवं सम्भारों (equipments) के निर्माण हो जाने के परिणाम स्वरूप मशीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि की जा सकी है तथा ह्रासमान प्रतिफल को स्थगित किया जा सका है। लेकिन कृषि के समान उद्योग में भी विज्ञान ऐसे यन्त्रों के निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सका है जिससे वस्तुओं की अधिक मात्रा का उत्पादन विना ह्रासमान प्रतिफल के किया जा सके। अन्तिम विश्लेषण में, ह्रासमान प्रतिफल का वास्तविक कारण स्थिर उत्पादन के साधन की (भूमि या मशीन) उत्पादन क्षमता का सीमित होना नहीं वरन् हमारे ज्ञान तथा वैज्ञानिक विकास की भूमि की उर्वराशक्ति तथा मशीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि उस सीमा तक करने की असमर्थता के कारण है जहाँ पर ह्रासमान प्रतिफल सदा के लिए स्थगित किया जा सके।

विज्ञान के विकास ने तो पहले ही उद्योग तथा कृषि दोनों में ह्रासमान प्रतिफल को पर्याप्त मात्रा में स्थगित कर दिया है, तथा एक ऐसा समय आ सकता है जब ह्रासमान प्रतिफल केवल एक अतीत की वस्तु रह जायेगी।

(२) ऊपर के उदाहरण में हमने यह मान लिया है कि जब वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का उत्पादन किया जाता है तब परिवर्ती लागत ४ रुपये प्रति इकाई स्थिर रहती है। यदि केवल एक ही उत्पादक वस्तु का उत्पादन बड़ी मात्रा में कर रहा है तब श्रम, कोयला तथा अन्य कच्चे पदार्थों की अधिकाधिक माँग के परिणाम स्वरूप इनके मूल्यों में वृद्धि नहीं भी हो सकती। परन्तु यदि सभी उत्पादक इन वस्तुओं की अधिकाधिक मांग करते हैं तब श्रम, कोयला, रूई, जूट तथा अन्य कच्चे पदार्थों की मांग में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि इनके मूल्यों में वृद्धि होना आवश्यक हो जायेगा। एक निश्चित

सीमा के बाद इनकी पूर्ति बिल्कुल बेलोच होती है तथा जब मांग में अधिकाधिक वृद्धि होने लगती है तब पूर्ति की समान रूप से वृद्धि नहीं की जा सकती; परिणाम-स्वरूप इनके मूल्यों में वृद्धि होगी। इसके कारण जब उत्पादन में वृद्धि की जायेगी तब परिवर्ती लागत भी बढ़ेगी। अत: अधिक उत्पादन के साथ न केवल अपरिवर्ती लागत में वृद्धि होती है वरन् परिवर्ती लागत में भी।

यदि श्रम दुष्प्राप्य है और इसके स्थान पर मशीन का भली भाँति प्रयोग किया जा सकता अथवा कोयले की सीमित पूर्ति के स्थान पर विद्युत शक्ति का प्रयोग हो पाता तब वस्तुओं की असीमित मात्रा में उत्पादन के परिणाम स्वरूप भी परिवर्ती उत्पादन लागत में वृद्धि नहीं होती। व्यवहार में यद्यपि कुछ सीमा तक एक उत्पादन के साधन के स्थान पर दूसरे साधनों का प्रतिस्थापन किया जा सकता है परन्तु एक प्राप्य (available) उत्पादन के साधन के स्थान पर दुष्प्राप्य साधनों का पूर्णतया प्रतिस्थापन नहीं हो सकता। विभिन्न साधनो में प्रतिस्थापन की लोच पूर्ण नहीं होती। इसके फलस्वरूप उत्पादन लागत में वृद्धि होती है। यदि दुष्प्राप्य साधनों के स्थान पर अन्य साधनों (जो सरलता पूर्वक प्राप्य हैं) का प्रतिस्थापन पूर्णतया तथा भली भांति किया जा सकता तब ह्रासमान प्रतिफल कभी न होता।

क्या कारण है कि विभिन्न उत्पादन के साधनों में प्रतिस्थापन की लोच पूर्ण नहीं होती? क्या कारण है कि इस्पात के निर्माण में कोयले को विद्युत से नहीं हटाया जा सकता? किसी उत्पादन में श्रम को पूर्णतया मशीन से क्यों नहीं हटाया जा सकता? यह इसीलिए है कि विज्ञान की प्रगति अभी पर्याप्त नहीं हो पाई है। अतः हम पुन: इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विज्ञान का पिछड़ा होना तथा हमारे ज्ञान की कमी ह्रासमान प्रतिफल को लाते हैं।

(३) मान लीजिए कि विज्ञान की प्रगति होती है तथा हमारे ज्ञान में वृद्धि भी। हम स्थिर उत्पादन के साधन की उत्पादन क्षमता में असीमित वृद्धि भी कर लेते हैं, और साथ साथ एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का पूर्णतया प्रति-स्थापन भी कर लेते हैं, तो क्या ह्रासमान प्रतिफल कभी नहीं होगा? मान लीजिए एक कृषक के पास एक बड़ा भूमि खण्ड है और उसके पास सभी कच्चे पदार्थ तथा उपकरण उपलब्ध हैं जिनकी उसे आवश्यकता उत्पादन को अनिश्चित काल के लिए बढ़ाने के लिए पड़ती है। इन दशाओं में भी ह्रासमान प्रतिफल अवश्य होगा क्योंकि कृषक के मस्तिष्क की क्षमता सीमित है तथा एक निश्चित सीमा के बाद निरीक्षण एवं संगठन का कार्य इतना भारी हो जायेगा

कि वह उनकी व्यवस्था नहीं कर कर सकेगा। उद्योग में, यदि मशीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि अनिश्चित काल तक के लिए कर दी जाय तथा सभी उत्पादन के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों तब भी ह्रासमान प्रतिफल होगा क्योंकि साहसोद्यमी का कार्य एक व्यक्ति के लिए अत्यन्त भारी हो जायेगा। कृषक तथा साहसोद्यमी के लिए यह सम्भव है कि वे सहायकों को लगा सकते हैं तथा परिगणन, रेतीकरण और अन्य यन्त्रों का प्रयोग भी कर सकता है, लेकिन इन सब के होते हुये भी उत्पादन से सम्बन्धित अन्य कार्यों को तो अन्त में एक ही व्यक्ति को करना पड़ता है। सहायक केवल सलाह दे सकते हैं और साहसोद्यमी की आज्ञाओं का पालन कर सकते हैं परन्तु वे साहसोद्यमिक योग्यता में वृद्धि नहीं कर सकते। सर्वोत्तम दशाओं में भी ह्रासमान प्रतिफल अवश्य होगा क्योंकि एक साहसोद्यमी के मस्तिष्क की क्षमता सीमित होती है। विज्ञान की प्रगति एवं ज्ञान के विकास अब तक मानव मस्तिष्क का पूर्ण प्रतिस्थापक नहीं पैदा कर सके हैं और न इस बात की भविष्य में सम्भावना ही है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में ह्रासमान प्रतिफल या वृद्धिमान लागत उद्योग तथा कृषि दोनों में साहसोद्यमी के मस्तिष्क की सीमाबद्धता के कारण होती हैं।

अन्त में प्रतिफल के नियम के बारे में दो महत्वपूर्ण बातों पर पुनः जोर देना हम आवश्यक समझते हैं।

(१) यह कहना ठीक नहीं है कि उद्योग में वृद्धिमान प्रतिफल तथा कृषि में ह्रासमान प्रतिफल होता है। मार्शल तथा अन्य क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने ह्रासमान प्रतिफल की व्याख्या कृषि से सम्बद्ध करके की। इससे यह गलत समझा गया कि ह्रासमान प्रतिफल केवल कृषि में ही उपयुक्त है। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। प्रारम्भ में उद्योग तथा कृषि दोनों में वृद्धिमान प्रतिफल होता है तथा बाद में दोनों में ह्रासमान प्रतिफल होता है। यह कहना ठीक नहीं है कि भूमि प्रकृति प्रदत्त है तथा मशीन मानव निर्मित, अतः ह्रासमान प्रतिफल कृषि में ही होगा उद्योग में नहीं। भूमि की उर्वराशक्ति सीमित होती है लेकिन इसमें वृद्धि कृत्रिम खादों द्वारा ठीक उसी प्रकार की जा सकती है जिस प्रकार मशीन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि वैज्ञानिक ज्ञानों द्वारा। यह सम्भव है कि कृषि में ह्रासमान प्रतिफल मशीन की अपेक्षा शीघ्र होता है लेकिन इसके कारण यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि अन्त में भूमि में ह्रासमान प्रतिफल तथा उद्योग में वृद्धिमान प्रतिफल होगा। वास्तव में कुछ उद्योगों में ह्रासमान प्रतिफल उतना ही शीघ्र होगा जितना कि कृषि में, तथा कुछ दशाओं में भूमि में

ह्रासमान प्रतिफल को उतने समय तक स्थगित किया जा सकता है जितने समय तक उद्योगो में। भारतवर्ष में कृषि तथा उद्योग • दोनो में ह्रासमान प्रतिफल की अवस्था तक पहुँचा जा चुका है तथा यह तर्क देना उचित नहीं है कि उद्योग में सदैव वृद्धिमान प्रतिफल तथा कृषि में ह्रासमान प्रतिफल होता है।

(२) अनुकूलतम आकार ही उत्पादन के लिए सर्वोत्तम आकार है क्योंकि यहाँ पर प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम होती है। लेकिन हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सभी दशाओं में अनुकूलतम आकार एक बड़ा आकार ही होता है। यद्यपि बड़े पैमाने के उत्पादन को कुछ आन्तरिक तथा वाह्य मितव्ययिताएं प्राप्त होती हैं परन्तु इनका सम्बन्ध बड़े पैमाने के उद्योगो से ही नहीं है। कुछ दशाओं में छोटे पैमाने के उत्पादन भी अधिक कुशल हो सकते हैं। वास्तव में कभी कभो तो छोटे पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन अधिक सस्ता होता है।

अध्याय १३

उत्पादन में प्रतिस्थापन का सिद्धान्त

(Principle of Substitution in Production)

प्रत्येक उत्पादक के सम्मुख विभिन्न उत्पादन के साधनों के चुनाव करने की समस्या ठीक उसी प्रकार उपस्थित होती है जिस प्रकार प्रत्येक उपभोक्ता के सम्मुख विभिन्न वस्तुओं के चुनाव की समस्या। उपभोक्ता वस्तुओं के उसी समूह को चुनता है जो उसे सर्वाधिक सन्तोष प्रदान करता है, तथा उत्पादक उत्पादन के साधनों के उस समूह को चुनता है जिससे उसकी प्रति इकाई उत्पादन-लागत न्यूनतम हो, ताकि वह अधिक से अधिक लाभ उठा सके। प्रतिस्पर्द्धा के बाजार में मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति की शक्तियो द्वारा होता है जिन पर किसी एक उत्पादक का कोई नियन्त्रण नहीं होता। वस्तु के एक दिये हुए मूल्य पर प्रति इकाई न्यूनतम लागत पर ही उत्पादन करने में उत्पादक का सर्वाधिक हित है। जितनी कम लागत होगी उतना ही अधिक लाभ होगा तथा इसके विपरीत जितनी अधिक लागत होगी उतना ही कम लाभ होगा। ठीक यही बात एकाधिकारिक प्रतिस्पर्द्धा में भी होती है, जब उत्पादक जानबूझ कर वस्तुओं का मूल्य निश्चित करता है। माँग की दी हुई निश्चित अवस्था में कम उत्पादन लागत एकाधिकारिक को अधिक लाभ प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। उत्पादक की अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा ही उत्पादकों को एक उत्पादन के साधन के स्थान पर दूसरे उत्पादन के साधनों को प्रतिस्थापित करने के लिए प्रेरित करती है।

प्रतिस्थापन का आधार. वस्तु की निश्चित मात्रा के उत्पादन के लिए एक उत्पादन के साधन के स्थान पर दूसरे उत्पादन के साधन का प्रतिस्थापन तभी सम्भव हो सकता है जब (१) उत्पादन के प्राविधिक-गुणक परिवर्ती (variable technical coefficient) हों जिससे विभिन्न उत्पादन के साधन परिवर्ती अनुपातों (variable proportions) में लगाए जा सकें, तथा (२) उसी परिणाम की प्राप्ति अनेक उत्पादन के साधनों को विभिन्न अनुपातों में लगाकर की जा सके। उदाहरणार्थ एक सिलाई के कारखाने में १०० कमीजें या तो २० दर्जियों तथा मशीन की थोड़ी मात्रा (सुई तथा कैंची आदि) द्वारा बनाई जा सकती हैं अथवा दो दर्जियों तथा एक सिलाई की मशीन, सुइयों और कैंचियों

द्वारा। यहाँ पर एक ही परिणाम की प्राप्ति के लिए १८ दर्जियों के स्थान पर एक मशीन का प्रतिस्थापन किया गया है। प्रतिस्थापन सम्भव न हुआ होता यदि एक निश्चित परिणाम की प्राप्ति केवल एक ही प्रकार के उत्पादन के साधनों के समूह से होती। यदि १०० कमीजें केवल बीस दर्जियों और कुछ मशीनों से ही बनाई जा सकतीं तथा अन्य समूहों से नहीं तब प्रतिस्थापन सम्भव न हुआ होता। प्रतिस्थापन का आधार इसलिए यह है कि एक निश्चित परिणाम की प्राप्ति या तो एक दिये हुए उत्पादन के साधनों के समूह से हो सकती है अथवा बिल्कुल दूसरे प्रकार के उसी उत्पादन के साधनों के समूहों द्वारा।

प्रतिस्थापन हो सकता है (१) दो विभिन्न उत्पादन के साधनों में जैसे श्रम तथा मशीन, अथवा भूमि और मशीन में; (२) दो विभिन्न गुण वाले एक ही उत्पादन के साधनों में जैसे लम्बी धागे वाली और छोटी धागे वाली रूई में कपड़ा पैदा करने के लिए, अथवा गुड़ और ईख में चीनी पैदा करने के लिए; तथा (३) दो प्रकार के एक ही साधनों में जैसे स्त्री या शिशु श्रम और पुरुष श्रम में।

प्रतिस्थापन की विधि. चूँकि प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य प्रति इकाई न्यूनतम लागत पर वस्तु का उत्पादन करना होता है इसलिए वह सब से कुशल उत्पादन के साधनों का प्रयोग करता है। उत्पादन के साधनों की कुशलता का निर्णय वह केवल उनके द्वारा किए गए कार्यों को ही दृष्टि में रखकर नहीं करता वरन् उनको दिए जाने वाले मूल्यों को भी। मान लीजिए अ और ब दो उत्पादन के साधन हैं। एक दिन में अ २० इकाई का उत्पादन करता है और ब ठीक उसी प्रकार गुण वाली वस्तु की ५ इकाई का, लेकिन अ की प्रतिदिन की मजदूरी ३० रुपये हैं तथा ब की मजदूरी ५ रुपये। इस दशा में यद्यपि ब कम इकाइयों का उत्पादन करता है फिर भी यह उत्पादक के दृष्टिकोण से अ की अपेक्षा अधिक कुशल है। उत्पादन के साधनों के अधिक कुशल समूहों का निर्णय करने के लिए उत्पादक प्रत्येक उत्पादन के साधनों द्वारा किए गए कार्यों तथा उनके मूल्यों की तुलना करता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, उत्पादक प्रत्येक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा उसके मूल्य की तुलना करता है। प्रतिस्पर्द्धा के बाजार में विभिन्न उत्पादन के साधनों के मूल्यों पर उत्पादक का कोई नियन्त्रण नहीं रहता; अतः उसे बाजार में दिए हुए मूल्य से सामंजस्य स्थापित करना होता है। उत्पादक एक साधन की सीमान्त उत्पादकता[1] को

1. **सीमान्त उत्पादकता 'संस्थिति की दशा में वह वृद्धि है जो किसी फर्म की उत्पत्ति में उस समय होती है जब उपलब्ध साधनों की पूर्ति में एक**

उसकी मात्रा में वृद्धि तथा कमी करके परिवर्तित कर सकता है। जब उत्पादक, ह्रासमान प्रतिफल (Diminishing returns) की दशा मे, दिए हुए अन्य उत्पादन के साधनो की मात्रा के साथ एक उत्पादन के साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करता है तब अधिक इकाइयो के प्रयोग के साथ-साथ परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है तथा कम इकाइयो के प्रयोग के साथ-साथ सीमान्त उत्पादकता बढ़ती जाती है।

एक उत्पादन के साधन के स्थान पर अन्य साधनों का प्रतिस्थापन करते समय उत्पादक किसी विशेष साधन की सीमान्त उत्पादकता की तुलना उसके मूल्य से करता है। वह सस्थिति की दशा में उस समय पहुँचता है जब उसके द्वारा लगाए गए प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य में अनुपातिक सम्बन्ध, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है, स्थापित हो जाता है।

$$\frac{\text{साधन अ की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन अ का मूल्य}} = \frac{\text{साधन ब की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन ब का मूल्य}}$$

यदि केवल दो उत्पादन के साधनो अ (श्रम) तथा ब (मशीन) का प्रयोग किया जा रहा है तब उत्पादक इन दो साधनो की सीमान्त उत्पादकताओ तथा मूल्यो की तुलना करता है। परन्तु जब दो से अधिक उत्पादन के साधनो का प्रयोग होता है, जैसा कि बहुधा होता है, तब संस्थिति की दशा मे प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के अनुपातिक होगी।

मान लीजिए यदि ऐसा नही है और जब उत्पादक वस्तु की १००० इकाइयों के उत्पादन के लिए २० श्रमिक तथा मशीन की ६ इकाइयो को लगाता है तब प्रत्येक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य का अनुपात निम्न प्रकार का है।

छोटी इकाई बढ़ा दी जाती है और फर्म का संगठन नई पूर्ति के अनुरूप समायोजित हो जाता है।' यदि हम मशीन की दी हुई मात्रा के साथ १०० श्रमिकों का प्रयोग करते हैं तब कुल उत्पादन १००० इकाइयाँ होती हैं और जब मशीन की उसी मात्रा के साथ १०१ श्रमिकों को लगाते है तब कुल उत्पादन १००८ हो जाता है, इस दशा में श्रम की सीमान्त उत्पादकता ८ होगी। यदि प्रति इकाई मूल्य ३ रुपया है तब सीमान्त उत्पत्ति मूल्य २४ रुपया होगा।

दशा १

उत्पादन का साधन	सीमान्त उत्पादकता (सीमान्त उत्पत्ति मूल्य रुपयों में)	प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)
श्रम	३५	५०
मशीन	१६५	१४०

यह उत्पादक के लिए सन्तोषजनक स्थिति नहीं है क्योंकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता (सीमान्त उत्पत्ति मूल्य) ३५ रुपया है जब कि उसका मूल्य (मजदूरी) ५० रुपया है लेकिन दूसरी ओर मशीन की सीमान्त उत्पादकता १६५ है जब कि उसका प्रति इकाई मूल्य १४० रुपया है। अतः अपनी दशा (उत्पादन की) सुधारने के लिए उत्पादक कुछ श्रमिकों को हटा देगा तथा उनके स्थान पर मशीन की कुछ और इकाइयों को लगाएगा। जब वह श्रमिक को हटाता है तथा मशीन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करता है तब श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि तथा मशीन की सीमान्त उत्पादकता में कमी होगी। मान लीजिए वह ४ श्रमिकों को हटाता है और उनके स्थान पर मशीन की एक इकाई को लगाता है। अब वह १००० इकाइयो के उत्पादन के लिये १६ श्रमिकों तथा ७ मशीनों को लगाता है। श्रम की सीमान्त उत्पादकता मान लीजिये बढ़ कर ४५, तथा मशीन की सीमान्त उत्पादकता घट कर १५५ हो जाती है। लेकिन अब भी स्थिति सन्तोषपूर्ण नहीं है क्योंकि श्रम तथा मशीन के प्रति इकाई दिये हुए क्रमशः ५० रुपये तथा १४० रु० मूल्य पर उत्पादक को श्रम पर (श्रम लगाने पर) हानि होती है। वह उस समय तक श्रम के स्थान पर मशीन का प्रतिस्थापन करता जायेगा जब तक कि अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित न हो जाय। मान लीजिए वह अब ४ श्रमिक के स्थान पर एक और मशीन की इकाई का प्रतिस्थापन करता है। उत्पादक १००० इकाइयो के उत्पादन के लिये १२ श्रमिकों तथा ८ मशीन की इकाइयों का प्रयोग करता है। अब स्थिति इस प्रकार है—

दशा २

उत्पादन के साधन	सीमान्त उत्पादकता (सीमान्त उत्पत्ति मूल्य रुपयो में)	प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)
श्रम	५०	५०
मशीन	१४०	१४०

उत्पादक यहीं रुक जायेगा। वह अब आगे मशीन का प्रतिस्थापन श्रम के स्थान

पर नहीं करेगा क्योंकि इस दशा में दोनों उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों का अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वह अब न तो किसी उत्पादन के साधन पर हानि उठा रहा है और न लाभ ही तथा प्रत्येक का महत्व उसके लिये उतना ही है जितना कि वह उनको दे रहा है। इसलिए वह अब सर्वोत्तम दशा में है।

अगर उत्पादक फिर आगे मशीन का प्रतिस्थापन श्रम के स्थान पर करता है, मान लीजिए १००० इकाई के उत्पादन के लिये ८ श्रमिक तथा ६ मशीन को लगाता है, तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि होगी और उसके मूल्य से बढ़ जायेगी जब कि मशीन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से कम होगी। अवस्था निम्नलिखित प्रकार की होगी।

दशा ३

उत्पादन के साधन	सीमान्त उत्पादकता (सीमान्त उत्पत्ति मूल्य रुपयों में)	प्रति इकाई मूल्य (रुपयों में)
श्रम	५५	५०
मशीन	१३०	१४०

यह सन्तोषजनक स्थिति नहीं है। अब श्रम पर हानि उठाने के बजाय उत्पादक मशीन पर हानि उठा रहा है क्योंकि मशीन की सीमान्त उत्पादकता इसके मूल्य से कम है। उत्पादक संस्थिति की दशा में तभी आयेगा जब कि वह १२ श्रमिक तथा ८ मशीन की इकाइयों को लगा रहा है। यहाँ दोनों उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने के लिये तीन बातों को दृष्टि में रखना आवश्यक है। (अ) जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, विभिन्न उत्पादन के साधनों के मूल्यों पर उत्पादक का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। वह मूल्यों को परिवर्तित नहीं कर सकता; अतः उसे विभिन्न उत्पादन के साधनों की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करके ही सीमान्त उत्पादकता में तब तक परिवर्तन करना होता है जब तक कि साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता। (ब) यदि एक साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से अधिक है तब उत्पादक इस साधन पर लाभ उठा रहा है लेकिन वह चाहे इसे पसन्द करे या न करे उसे इन साधनों की इकाइयों की मात्रा में वृद्धि करनी ही होगी क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा की अवस्था में वह अपनी सीमान्त उत्पादकता से कम भुगतान स्वीकार करने पर राजी न होगा। इस साधन की इकाइयों की

मात्रा में वृद्धि करने से इसकी सीमान्त उत्पादकता घटकर उसके मूल्य के स्तर के बराबर हो जायेगी और चूंकि भुगतान अब सीमान्त उत्पादकता के अनुसार किया जायेगा अतः उस उत्पादन के साधन को आपत्ति करने का कोई कारण नहीं रहेगा। यदि सीमान्त उत्पादकता मूल्य से कम है तब तो उत्पादक स्वयं उस साधन की कुछ इकाइयों को हटाने के लिए उत्सुक होगा ताकि उसकी सीमान्त उत्पादकता बढ़कर मूल्य के बराबर हो जाय। और (स) जब एक साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है तब उसकी सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है, और यदि अन्य बातें समान रहें, जब साधनों की इकाइयों के प्रयोग में कमी कर दी जाती है तब सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि होती है। यह इसलिए है क्योंकि हम ने ह्रासमान प्रतिफल की दशा को मान लिया है। ऐसा मानना वास्तविक है क्योंकि दीर्घकाल और प्रतिस्पर्द्धा की दशा में ह्रासमान प्रतिफल अवश्य ही लागू होता है।

कठिनाइयाँ. उत्पादक का सर्वाधिक हित अधिक मंहगे उत्पादन के साधनों के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक सस्ते उत्पादन के साधनों के प्रतिस्थापन करने में ही है लेकिन यह सदैव सम्भव नहीं होता। कुछ दशाओं में उत्पादक एक साधन के स्थान पर दूसरे साधनों का प्रतिस्थापन नहीं कर सकता और इस प्रकार अपनी इच्छा के विरुद्ध विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं और मूल्यों में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित किए बगैर ही वह अमितव्ययी ढंग से उत्पादन करने के लिए बाध्य हो जाता है। ऐसी प्रतिकूल अवस्थायें उस समय होंगी जब:

(१) उत्पादन के प्राविधिक गुणक (Fixed Technical Coefficient) स्थिर हों अर्थात विभिन्न उत्पादन के साधनों का संयोजन एक दिये हुए तथा निश्चित अनुपात में ही स्थापित किया जा सकता है जैसे टैक्सी और टैक्सी ड्राइवर या टाइपिस्ट और टाइपराइटर का। यदि प्रतिस्थापन अधिक मितव्ययी भी हो तब भी नहीं हो सकता। यदि टाइप करने की मशीन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से बहुत अधिक हो और जब कि टाइप करने वाले की सीमान्त उत्पादकता उसको दी जाने वाली मजदूरी के कम हों तब भी उत्पादक के लिए प्रतिस्थापन करना सम्भव नहीं होगा क्योंकि दो टाइप करने की मशीनों पर एक टाइप करने वाले से कार्य नहीं कराया जा सकता। ऐसे स्थिर-अनुपात की दशा में, जिसे स्थिर प्राविधिक गुणक कहते हैं, प्रतिस्थापन की क्रिया सम्भव नहीं है।

(२) प्रतिस्थापन में यह पहले ही से मान लिया जाता है कि उत्पादक को सभी साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों का पूर्ण ज्ञान है। इसी ज्ञान

के आधार पर ही उत्पादक विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादकताये तथा मूल्यो में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। आवश्यक ज्ञान के अतिरिक्त उत्पादक के पास परिवर्तन के लिए पर्याप्त समय भी होना चाहिए। लेकिन व्यवहार मे उत्पादक को न तो विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादकताओ तथा मूल्यों का पूर्ण ज्ञान ही होता है और न तो आवश्यक परिवर्तन करने के लिए पर्याप्त समय ही।

(३) यदि उत्पादक को ज्ञान भी हो तब भी मशीन के स्वरूप तथा श्रमिको के रुख के कारण, कम से कम अल्प काल में तो, प्रतिस्थापन असम्भव हो ही जाता है। एक सूती कपड़े की मिल में उत्तम प्रकार की रूई के स्थान पर निकृष्ट प्रकार की रूई का प्रयोग अधिक मात्रा मे नही किया जा सकता क्योंकि मशीन मे इस प्रकार के परिवर्तन का गुंजाइश नही है और साथ ही उत्तम प्रकार की तथा निकृष्ट रूइयो के ना-सज्जा विभागो तथा परिरूपण विभागो में एक नवीन प्रकार का सन्तुलन स्थापित करना होगा। उत्तम प्रकार की रूई के स्थान पर निकृष्ट रूई के प्रयोग से प्राप्त लागत सम्बन्धो मितव्ययिता सम्भव है कि अधिक उत्पादन लागत से, जो उत्पादन सन्तुलन के अस्तव्यस्त हो जाने के कारण है, अधिक न हो। इसी प्रकार चीनी की मिल में गुड़ के सस्ते होने पर भी गुड़ के स्थान पर गन्ने का प्रयोग नही किया जा सकता क्योंकि कारखाने मे यह सम्भव नही है कि मशीन तथा प्राविधिक संभारो (technical equipment) में आवश्यक परिवर्तन किया जा सके।

प्रतिस्थापन मे श्रमिको का रुख भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उदाहरणार्थ एक सूती मिल मे कुछ श्रमिको को हटाकर उनके स्थान पर अधिक मशीन लगाना तथा एक कारीगर का केवल दो करघो की व्यवस्था करने के स्थान पर ४,६ या अधिक करघो की देख रेख करना अधिक मितव्ययी हो सकता है। वास्तव मे भारतवर्ष की कुछ मिलो में इस प्रकार का परिवर्तन किया गया है लेकिन कानपुर तथा अन्य केन्द्रो पर श्रमिको ने इस प्रकार के प्रतिस्थापन की क्रिया का (युक्तीकरण) विरोध किया। श्रमिको का विरोध मशीन तथा श्रमिको के प्रतिस्थापन को प्रायः असम्भव बना देता है।

(४) इसके अतिरिक्त कुछ प्राविधिक सीमाएँ (technical limits) होती है जिनके बाहर प्रतिस्थापन सम्भव नही है। चित्र ३० में कुल उत्पत्ति y-axis पर दिखलाई गई हैं तथा परिवर्ती साधन (श्रम) की इकाई x-axis पर। मशीन तथा अन्य प्राविधिक सम्भार (technical equipment) स्थिर

मान लिए गए हैं तथा चित्र में नहीं दिखलाए गए हैं। जैसा कि कुल
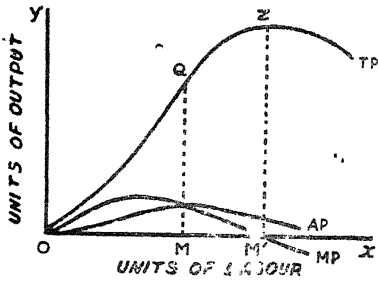
चित्र ३०

उत्पादकता वक्र TP में दिखलाया गया है, ज्यों-ज्यों श्रम की मात्रा में वृद्धि की जाती है त्यों-त्यों कुल उत्पादन में वृद्धि होती है। इस वक्र से हम परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता वक्र MP तथा औसत उत्पादकता वक्र AP प्राप्त कर सकते हैं। चित्र ३० से यह स्पष्ट होता है कि ज्यों-ज्यों मशीन तथा स्थिर अन्य व्यवस्थाओं के साथ श्रम की अधिक मात्रा लगाई जाती है त्यों-त्यों परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादकता में वृद्धि होती जाती है और जब तक OM (मान लीजिए-२००) श्रमिक नहीं लगाए जाते तब तक सीमान्त-उत्पादकता औसत उत्पादकता से अधिक तेजी से बढ़ती है। M बिन्दु पर सीमान्त उत्पादकता MP तथा औसत उत्पादकता AP बराबर हैं। यदि OM से (२०० से) अधिक श्रमिक लगाए जाते हैं तब परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादकता दोनों घटने लगती हैं, लेकिन औसत उत्पादकता सीमान्त उत्पादकता से अधिक है जब तक कि श्रम की OM' मात्रा (मान लीजिए ३००) नहीं लगाई जाती। इस बिन्दु पर सीमान्त उत्पादकता शून्य है तथा औसत उत्पादकता धनात्मक है। यदि OM' (३००) से अधिक श्रमिक लगाए जाते है तब परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है।

उत्पादन होने के लिए सीमान्त तथा औसत उत्पादकता को धनात्मक और घटता हुआ होना चाहिए तथा औसत उत्पादकता को सीमान्त उत्पादकता से अधिक होना चाहिए। यह आवश्यक इसलिए है कि यदि भुगतान सीमान्त उत्पादकता के अनुसार किया जाता है, जैसा कि प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत संस्थिति की दशा में निस्संदेह किया जाता है, तथा औसत उत्पादकता (कुल उत्पादन को श्रमिकों की संख्या से भाग देने पर) श्रम की सीमान्त उत्पादकता से कम है तब कुल उत्पत्ति श्रमिकों को मजदूरी देने के लिए पर्याप्त नहीं होगी और साहसोद्यमी को सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादकता के अन्तर को पूरा करने के लिए अपनी जेब से भुगतान करना पड़ेगा। यह साहसोद्यमी के हित में अच्छा नहीं होगा और वह ऐसी सीमा पर (२०० श्रमिकों से कम) उत्पादन नहीं करेगा जब उसे लाभ के बजाय हानि उठानी पड़े। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन केवल Q तथा Z की सीमा के भीतर ही हो सकता है जहाँ

पर सीमान्त उत्पादकता और औसत उत्पादकता ह्रासमान हो रहे हैं तथा औसत उत्पादकता सीमान्त उत्पादकता से अधिक है। अन्य शब्दों में, साहसोद्यमी या तो २०१ श्रमिकों को लगाएगा या २६६ को।

उत्पादन Q विन्दु पर (२०० श्रमिकों के साथ) भी नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ सीमान्त उत्पादकता औसत उत्पादकता के बराबर है और सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान करने के बाद उसके पास कुछ भी शेष नहीं रह जायेगा। Z विन्दु पर भी उत्पादन नहीं हो सकता (३०० श्रमिकों के साथ) क्योंकि यहाँ पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। सब उत्पत्ति का भाग साहसोद्यमी ले लेगा और श्रम को कुछ भी नहीं मिलेगा। Q विन्दु के पूर्व (२०० श्रमिकों से कम) भी उत्पादन नहीं हो सकता क्योकि सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान करने के लिए कुल उत्पत्ति पर्याप्त नहीं होगी तथा उत्पादन Z विन्दु से आगे भी नहीं हो सकता (३०० श्रमिक से अधिक) क्योकि यहाँ पर श्रम की सीमन्त उत्पादकता ऋणात्मक है। उत्पादन को Q और Z की सीमा के भीतर ही होना चाहिए—या तो २०१ या २६६ श्रमिकों के साथ। ये उत्पादन की प्राविधिक सीमाए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि दी हुई व्यवस्था में उत्पादक ३०० या इस से अधिक श्रमिकों का प्रतिस्थापन उनके सस्ते हो जाने पर भी मशीन के स्थान पर नहीं कर सकता तथा श्रमिकों की संख्या वह २०० से कम भी नहीं कर सकता भले ही श्रमिक अधिक महंगे क्यो न हों। उत्पादक इन सीमाओं के बाहर प्रतिस्थापन तभी कर सकता है जबकि वह नवीन कारखाना स्थापित करने के लिए तैयार हो। उत्पादन की प्राविधिक सीमाएँ प्रतिस्थापन के विस्तार को अधिक संकीर्ण बना देती हैं।

प्रतिस्थापन की ये सीमाएँ स्पष्ट रूप से उत्पादन के प्रतिस्थापन के सिद्धान्त तथा उपभोग के प्रतिस्थापन के सिद्धान्त (जिसे सम सीमान्त उपयोगिता का नियम कहते हैं) के अन्तर को व्यक्त करती हैं। दी हुई आय, अधिमान श्रेणी (Scale of Preference) तथा वस्तु के मूल्य पर जैसे-जैसे वस्तु के मूल्य में कमी होती है वैसे-वैसे उनका प्रतिस्थापन अन्य वस्तुओं के स्थान पर करने में उपभोक्ता उत्पादन के एक साधन के स्थान पर दूसरे साधनों के प्रतिस्थापन करने की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र होता है। उपभोक्ता को पूर्ण ज्ञान तथा
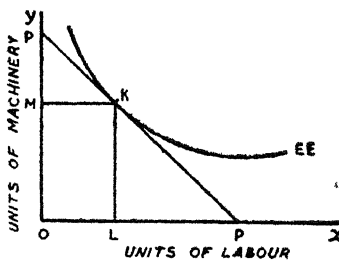
चित्र ३१

प्रबन्ध का संचालन ठीक प्रकार से नहीं किया जाता तब श्रमिकों पर अनावश्यक भार पड़ता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य श्रमिकों पर अत्यधिक भार डाले बगैर अधिक से अधिक कार्य करने का प्रयास है। परन्तु यदि कार्य के लिए लगाये गए विशेषज्ञ सतर्क नहीं हैं तब यह सम्भव है कि श्रमिकों पर अनावश्यक भार पड़े। भारतवर्ष की जलवायु, श्रमिकों का स्वास्थ्य और उनकी कार्यक्षमता, तथा भारतीय उद्योगों का संगठन सम्भवतः वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए उपयुक्त नहीं है।

अध्याय १५

उद्योग का स्थान निर्धारण तथा स्थानीकरण

(Location and Localisation of Industry)

स्थान निर्धारण का सिद्धान्त उन सभी प्रतिकारकों (factors) का विवेचन करता है जो एक उद्योग को किसी निश्चित स्थान पर स्थापित करने में सहायक होते हैं। यह उन सभी प्रतिकारकों का अध्ययन करता है जो साहसोद्यमियों के कारखानो को किसी एक स्थान पर स्थापित करने के निर्णय को प्रभावित करते हैं। स्थान निर्धारण के सिद्धान्त का अध्ययन उद्योग के स्थान-निर्धारण के अनुकूलतम बिन्दुओं का निर्देशन करता है तथा यह जानने की विधि भी बतलाता है कि कहाँ तक किसी उद्योग का स्थान-निर्धारण अनुकूलतम स्थान से भिन्न है।

किसी उद्योग के स्थान का निर्धारण अनेक मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक तथा आर्थिक प्रतिकारकों पर आधारित है। यदि इन विभिन्न प्रतिकारकों से एक उद्योग के विभिन्न कारखाने एक ही स्थान में केन्द्रित हो जाते हैं तब इसका परिणाम उद्योगों का स्थानीकरण होता है। "स्थानीकरण का अर्थ विभिन्न उद्योगों का विभिन्न स्थानों में केन्द्रीकरण होता है जो अपने अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष में बहुधा स्थानीय श्रम विभाजन कहलाता है"। स्थानीकरण में हम उन कारणों का अध्ययन करते हैं जिनसे एक उद्योग का केन्द्रीकरण एक निश्चित स्थान में होता है तथा इससे होने वाले लाभों और हानियों का भी अध्ययन करते हैं। यह सम्भवतः कुछ उपायों को भी बतलाता है जिनके द्वारा उद्योग के केन्द्रीकरण को कम किया जा सके तथा स्थानीकरण के कुप्रभावों को दूर किया जा सके।

वेबर (Weber) का सिद्धान्त. स्थान निर्धारण का सबसे प्राचीन तथा अब भी सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त जर्मन अर्थशास्त्री वेबर का है। किसी कारखाने के स्थान निर्धारण करने में साहसोद्यमी बहुत से आर्थिक तथा अनार्थिक प्रतिकारकों द्वारा प्रभावित होता है। यह उसके लिए अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है कि वह कारखानों के स्थान निर्धारण सम्बन्धित उचित निर्णय करे क्योंकि इस पर उत्पादन लागत आधारित है। यदि कारखाने के स्थान का निर्धारण गलत स्थान पर होता है तब उत्पादन लागत अधिक होगी तथा इसके द्वारा उत्पादक की स्पर्धा-शक्ति में काफी कमी हो जायेगी और उसके सम्मुख अनेक रुकावटें भी उपस्थित हो जायेंगी। इसके विपरीत यदि वह ठीक चुनाव कर, कार

खाने का निर्धारण उचित स्थान पर करता है तब उसकी उत्पादन लागत कम होगी तथा वह अपने प्रतिद्वन्दी उत्पादकों से स्पर्धा का सामना भली भांति कर सकता है।

अपने सिद्धान्त में अल्फ्रेड वेबर ने पदार्थों के विभिन्न उद्गम स्थानों के मूल्यों में अन्तर, श्रम की लागत तथा परिवहन लागत (cost of transportation) पर विचार किया। परन्तु अपने सिद्धान्त को सरल बनाने के लिए उसने यह मान लिया कि श्रम समान रूप से हर जगह उपलब्ध है। इस सरलीकरण से कच्चे पदार्थों के वजन जिसे उसकी उपलब्धि के स्थान से कारखाने तक ले जाना होता है तथा उस तैयार पदार्थ के भार पर जिसे कारखाने से बाजार तक ले जाना होता है, विचार करना सम्भव हो जाता है। अतः वेबर के स्थान निर्धारण का सिद्धान्त सरलीकृत रूप से परिवहन लागत का अध्ययन टन-मीलो (अर्थात् ले जाई जाने वाली वस्तु का वजन तथा उसे ले जाने की दूरी) के रूप में ही करता है। किसी कारखाने के निर्धारण के लिये सर्वोत्तम स्थान वह होगा जहाँ पर कच्चे पदार्थों तथा तैयार पदार्थों दोनों को ध्यान में रखते हुए टन-मील दर न्यूनतम होती है।

कच्चे पदार्थों का विभाजन वेबर ने दो प्रकार से किया : (१) जो सर्वत्र उपलब्ध होते हैं जैसे ईंटा, मिट्टी, बालू, जल इत्यादि। इन्हे वेबर ने सर्वव्यापी (ubiquities) कहा, तथा (२) वे जो विशेष प्रदेशों में ही उपलब्ध होते हैं। उन्हे स्थानिक पदाथ (localised materials) कहते हैं जैसे कच्चा लोहा, बाक्साइड, ईख, रुई तथा कोयला इत्यादि। चूँकि सर्वव्यापी पदार्थ प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध होते है इसलिए इनका विशेष प्रभाव उद्योग के स्थान निर्धारण पर नहीं पडता। स्थानिक पदार्थों का उद्योगो के स्थान निर्धारण मे महत्व पूर्ण भाग होता है।

स्थानिक पदार्थों का पुनः विभाजन वेबर ने शुद्ध पदार्थ (Pure materials) तथा पूर्ण पदार्थ (gross materials) के रूप में किया। शुद्ध पदार्थ वे होते हैं जो तैयार वस्तु के निर्माण में अपने समस्त या अधिकांश वजन का योग देते हैं। कपड़े के उत्पादन में कपास और सीमेण्ट के उत्पादन मे चूना और रेत ऐसे पदार्थों के उदाहरण हैं। इस प्रकार के शुद्ध पदार्थों के बारे मे जो वजन त्याग करने वाले नहीं होने यह उतना महत्वपूर्ण नही होता कि कारखाने के स्थान का निर्धारण कच्चे पदार्थों की पूर्ति के श्रोतो के निकट होता है अथवा बाजार के निकट, क्योंकि दोनो दशाओं में चाहे जहाँ भी कारखाना स्थापित किया जाय, ले जाने का भार प्रायः समान ही रहेगा।

यह इस बात को बतलाता है कि सूती कपड़े के उद्योग की वृद्धि जापान तथा ब्रिटेन में हुई जो कच्चे पदार्थों की पूर्ति के श्रोतों से दूर हैं परन्तु जो बाजार के मध्य में हैं। यदि सुदूर स्थानों से कच्चा माल इन स्थानों पर लाया जाता है तथा यहाँ पर इनसे कपड़ा बनाकर बाजार में बेचा जाता है, तब इससे उत्पादन लागत में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

केवल पूर्ण पदार्थ (gross materials), जो वजन त्याग करने वाले होते हैं, उद्योग को कच्चे पदार्थों की पूर्ति के श्रोतों के निकट आकृष्ट करते हैं। चीनी के उत्पादन के लिए गन्ना, कागज के उत्पादन के लिए बाँस तथा सबाई घास पूर्ण पदार्थ (gross materials) अथवा वजन त्याग करने वाले पदार्थ के उदाहरण हैं। निर्माण की प्रक्रिया में इन पदार्थों का केवल आंशिक वजन ही तैयार पदार्थ में सम्मिलित होता है तथा शेष उपोत्पाद (by product) तथा निरर्थक पदार्थ के रूप में उत्पादन की प्रक्रिया में नष्ट हो जाते हैं। ये वजन त्याग करने वाले पदार्थ उद्योगों को उनके कच्चे माल की पूर्ति के श्रोतों के निकट आकृष्ट करते हैं जिससे परिवहन लागत में काफी कमी हो जाती है।

वेबर ने यह पता लगाने के लिये कि कच्चे पदार्थ की पूर्ति का श्रोत अथवा बाजार उद्योग के स्थान निर्धारण के लिए अधिक अधिमान्य है, 'पदार्थ देशनांक' (material index) का निर्माण किया। पदार्थ देशनांक की प्राप्ति स्थानिक पदार्थ के भार में तैयार किए गए पदार्थ के भार द्वारा भाग देकर की जा सकती है। यदि किसी उद्योग का 'पदार्थ देशनांक' काफी अधिक है तब इसका अर्थ यह होता है कि कच्चे माल की पूर्ति का श्रोत अधिक प्रभाव डाल रहा है तथा उद्योग के स्थान निर्धारण के लिए यह अधिक श्रेष्ठ स्थान होगा। इसके विपरीत यदि पदार्थ देशनांक कम है तब इसका अर्थ यह हुआ कि कच्चे माल की पूर्ति अधिक महत्वपूर्ण नहीं है अतः उद्योग के स्थान का निर्धारण बाजार के निकट भली-भाँति किया जा सकता है।

यहाँ इस बात पर जोर दिया जा सकता है कि एक उद्योग के लिए जहाँ तक परिवहन लागत का सम्बन्ध है समान रूप से अच्छे अनेक वैकल्पिक स्थान हो सकते हैं। सिद्धान्त के प्रथम उपसदन (approximation) में यह मान लिया गया था कि श्रम, पूंजी तथा अन्य सुविधाएँ समान रूप से प्रत्येक जगह उपलब्ध हैं। यदि ऐसा होता तब उद्योग के निर्धारण के लिए सर्वोत्तम स्थान वही होता जहाँ से कच्चे पदार्थों तथा तैयार पदार्थों को ले जाने की प्रति इकाई लागत न्यूनतम हो। परन्तु यदि श्रम, पूंजी इत्यादि एक रूप से हर जगह उपलब्ध नहीं है तब हमें उन्हें प्राप्त करने की लागत पर भी ध्यान देना होगा।

यदि परिवहन लागत के दृष्टिकोण से कोई स्थान उद्योग निर्धारण के लिए सर्वोत्तम है परन्तु यदि लागत (परिवहन) में मितव्ययिता श्रम, पूँजी तथा अन्य सुविधाएँ प्राप्त करने की ऊँची लागत की अपेक्षा कम होती है तब वह स्थान उपयुक्त नहीं होगा। इसके विपरीत यदि कोई स्थान परिवहन लागत के दृष्टिकोण से उतना अच्छा नहीं है परन्तु श्रम, पूँजी इत्यादि की लागत अन्य वैकल्पिक स्थानों से कम है, जो कि परिवहन लागत के दृष्टिकोण से समान रूप से अच्छे हैं, तो उद्योग के स्थान निर्धारण के लिए वह उपयुक्त हो सकता है। इसलिए उद्योग के लिए सर्वोत्तम स्थान का निर्धारण करने में हमें कच्चे पदार्थ और तैयार माल को ले जाने तथा पूँजी, श्रम तथा अन्य सुविधाओं को प्राप्त करने, आदि सभी की प्रति इकाई कुल लागत पर ध्यान देना चाहिए। उद्योग के लिए सर्वोत्तम स्थान वही होता है जहाँ पर प्रति इकाई लागत न्यूनतम होती है।

आलोचनाएँ. वेबर के सिद्धान्त की अनेक प्रकार से आलोचनाएँ की गई हैं: (१) यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त अति-सरलीकृत और अयथार्थ है तथा उन सभी जटिल तत्वों की जानकारी नहीं प्रदान करता जो उद्योग के स्थान निर्धारण में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ इसमें उपलब्ध परिवहन के प्रकार, ले जाई जाने वाली वस्तुओं के गुण तथा पैकिंग के स्वरूप को छोड़ दिया गया है; (२) यह पूर्णतया स्थैतिक सिद्धान्त है तथा केवल कुछ दी हुई निश्चित दशाओं में ही लागू होता है। वेबर का सिद्धान्त प्रवैगिक स्थान निर्धारण (dynamics of location) के अध्ययन में हमारी सहायता नहीं करता तथा यह इस बात को नहीं बतलाता कि परिवर्तनशील दशाओं में उद्योग के स्थान निर्धारण का क्या होगा; और (३) यह लागत तथा मूल्य पर तनिक भी विचार नहीं करता तथा इसका विवेचन मुख्यतया प्राविधिक गुणक के रूप में ही किया गया है। वास्तव में एक अर्थशास्त्री का निरीक्षण मुख्यतया लागत तथा मूल्य के विचारो पर ही आधारित होना चाहिए। श्रम के विचलन (labour deviation) का वर्णन करते समय श्रम के लागत की बचत (वेबर द्वारा) टन-मीलों के रूप में नापी गई है। यह एक अर्थशास्त्री के विश्लेषण के लिए अत्यन्त अस्वाभाविक है। अन्य शब्दों में, वेबर का विवरण स्थान निर्धारण के सिद्धान्त को सामान्य अर्थ के सिद्धान्त का एक अंश नहीं बनाता। यहाँ पर इस बात को बतला देना अत्यन्त आवश्यक है कि यद्यपि इन आलोचनाओं में सत्यांश है परन्तु आज तक स्थान निर्धारण का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं बनाया जा सका है जो पूर्णतया इन दोशों से युक्त हो। ओहलिन, सार्जेण्ट फ्लोरेन्स, तथा डेनीसन इत्यादि अनेक अर्थशास्त्रियों ने कुछ सुझाव दिये हैं परन्तु इन्हें उद्योग के स्थान

निर्धारण का एक वैकल्पिक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। वेबर का सिद्धान्त अपने अति-सरलीकरण (over simplification) तथा अन्य सीमाओं के होते हुये भी अब तक उद्योग के स्थान निर्धारण का सर्वमान्य सिद्धान्त है।

सिद्धान्त का प्रयोग. वास्तविक व्यवहार में उद्योग के स्थान का निर्धारण पूर्णतया आर्थिक प्रतिकारकों (factors) द्वारा नहीं होता। बहुधा ऐसा होता है कि साहसोद्यमी को, जो कारखाना खोलने के लिए सोच रहा है, कच्चे पदार्थों की पूर्ति के वैकल्पिक श्रोतों तथा बाजार (जो उसे उपलब्ध होगें) के बारे में पूरी जानकारी नहीं होती। इसलिए साहसोद्यमी किसी विशेष उद्योग के विद्यमान स्थान निर्धारण से अधिक प्रभावित होता है तथा वह इससे अधिक निर्देशित होता है कि अन्य लोगों ने प्रतीत में क्या किया है। इसके अतिरिक्त उसे वस्तुओं का भाड़ा दर तथा परिवहन लागत की भी जानकारी नहीं होती जो उसे कच्चे पदार्थों को उनकी पूर्ति के श्रोतों से बाजार तक तथा तैयार वस्तु को कारखाने से बाजार तक ले जाने में लगाना होता है। यदि उसे पूर्णतया आर्थिक विचारों से ही निर्देशित होना था तब उसे लगाई गई लागत का सावधानी से अध्ययन करना चाहिए था तथा ऐसे स्थान पर उद्योग का निर्धारण करना चाहिए जहाँ पर प्रति इकाई लागत न्यूनतम हो। परन्तु वास्तविक व्यवहार में वह ऐसा नहीं करता और कारखाने का निर्धारण ऐसे स्थान पर करता है जहाँ पर उस उद्योग से सम्बन्धित अन्य कारखाने पहले से स्थापित होते हैं।

केवल लागत का विचार ही उत्पादक को नहीं प्रभावित करता। कारखाने के स्थान निर्धारण में वह सामाजिक तथा व्यक्तिगत विचारों से भी प्रभावित होता है। बड़े-बड़े शहर साहसोद्यमी को सामाजिक सुविधाएँ तथा मनोरंजन के अवसर प्रदान करते हैं। अतीत में ऐसा बहुधा हुआ है कि भारतीय साहसोद्यमियों ने कारखाने का निर्धारण या तो बड़े शहरों में या उनके निकट किया है यद्यपि ग्रामीण क्षेत्र में स्थान निर्धारण अधिक मितव्ययी हुआ होता। ऐसा करने का कारण उनका व्यक्तिगत विचारों से निर्देशित होना था। इसका परिणाम बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि बड़े शहरों में अधिक भीड़ तथा संकुलन का होना है। यदि उन्होने ग्रामीण क्षेत्रों के बारे में सोचा भी तो उन्होने निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं रखा तथा उन्होंने अपने गृह नगर (home town) अथवा अपने निवास स्थान को अन्य वैकल्पिक स्थानों की अपेक्षा, जहाँ उनकी उत्पादन लागत काफी कम होती, अधिक पसन्द किया।

साहसोद्यमी अपने कारखाने के स्थान का निर्धारण बड़े शहर अथवा अपने गृह नगर में बिना लागत पर विचार किये ही करते हैं क्योंकि बाजार में स्पर्धा

अपूर्ण होती है तथा वह वस्तु को ऊँचे दाम पर भी बेचने की आशा करते हैं। यदि स्पर्धा तीव्र होती तथा उत्पादक वस्तुओं के मूल्य को अपने प्रतिद्वन्दी उत्पादकों की अपेक्षा अधिक नहीं बढ़ा सकते तब अपनी उत्पादन लागत को कम करने के लिए वह कारखाने का निर्धारण उचित स्थान पर करते। परन्तु विद्यमान अपूर्ण स्पर्धा की दशाओं में उत्पादक कारखाने के गलत स्थान निर्धारण के कारण लागत में अल्पवृद्धि हो जाने से अधिक चिंतित नहीं होता।

गलत स्थान पर उद्योग का विकास सरकार की त्रुटिपूर्ण कर, राजकोषीय (fiscal) तथा औद्योगिक नीति के कारण भी होता है। विभाजन के पूर्व भारतवर्ष में शाही राज्यों ने अपने प्रदेशों में उद्योगों को आकर्षित करने के लिये कम कर लगाए, उदारपूर्ण श्रम नियम बनाए तथा अन्य सुविधाएं प्रदान कीं। यद्यपि ये स्थान पूर्णतया आर्थिक दृष्टिकोण से उद्योग के स्थान निर्धारण के लिए उपयुक्त नहीं थे, फिर भी इन राज्यों में उद्योगों का विकास हुआ। आत्मनिर्भरता की लालसा से बृटिश भारत में बहुत से राज्यों ने उद्योगपतियों को अपने राज्य में उद्योग स्थापित करने के लिए प्रेरित किया, यद्यपि उस प्रकार के कारखानें अन्य राज्यों में, जो उसके लिए अधिक उपयुक्त थे, पहले से ही विद्यमान थे। राज्य सरकारों ने राज्य के सभी भागों का पूरा विकास करने पर ध्यान नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो अधिक विकसित भाग थे वहां पर उद्योग अधिक आकृष्ट हुए तथा जो भाग अविकसित थे वे अधिक विकासशील होने के बावजूद भी उपेक्षित रहे। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश के पूर्वीय जिले औद्योगिक स्थान निर्धारण के बहुत से सम्भाव्य लाभों के होते हुए भी उपेक्षित रहे हैं।

युद्ध में हवाई आक्रमणों का भय, तथा दो देशों की सीमा अथवा नदी के किनारे के निकट स्थान निर्धारण की अरक्षा ने उद्योगों को अनुकूलतम स्थान से काफी दूर अन्तस्थ (interior) भागों में स्थापित होने के लिये बाध्य किया है। यह इस बात को दिखलाता है कि केवल पूर्णतया आर्थिक प्रतिकारक ही नहीं वरन् इनके साथ-साथ अनेक अनार्थिक प्रतिकारक भी वास्तविक व्यवहार में उद्योग का स्थान निर्धारण करते हैं।

स्थानीकरण (localisation). उद्योग का स्थान निर्धारण आर्थिक एवं अनार्थिक दोनों प्रकार के प्रतिकारकों द्वारा प्रभावित होता है। चाहे जो भी प्रतिकारक इसे प्रभावित करें, उद्योग के एक निश्चित क्षेत्र में केन्द्रित होने की स्पष्ट प्रवृत्ति होती है। किसी उद्योग का क्षेत्र विशेष में केन्द्रित होना अथवा अन्य शब्दों में उसका स्थानीकरण अनेक प्रतिकारकों द्वारा प्रभावित होता है।

(१) कच्चे पदार्थों, पूंजी, विशेष प्रकार की कुशलता तथा श्रम पूर्ति की उपलब्धि बहुधा उद्योग के स्थानीकरण के लिये उत्तरदायी हैं। चीनी उद्योग बिहार तथा उत्तर प्रदेश में इसलिए केन्द्रित है क्योंकि जब वहां पर पहले उद्योग स्थापित किया गया तब इन क्षेत्रों में गन्ना प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। बिहार में लोहे और इस्पात का उद्योग कच्चे लोहे तथा कोयले की खान की निकटता के कारण केन्द्रित हुआ। आयात और निर्यात की सुविधा के कारण प्रारम्भ में सूती कपड़े का उद्योग बम्बई नगर तथा द्वीप में केन्द्रित हुआ।

(२) यदि किसी स्थान पर एक बार उद्योग स्थापित हो जाता है तब आगे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है क्योंकि स्थानीकरण से उचित प्रकार के श्रम तथा कुशलता प्राप्त होते हैं। सहायक उद्योग, परिवहन तथा संचार (communication) की सुविधाएं, और श्रम तथा पूंजी बाजार जो पहले विद्यमान नहीं थे अब उत्पन्न हो जाते हैं जिससे अधिक कारखाने उस स्थान पर आकृष्ट हो जाते हैं। चमड़े का उद्योग पहले कानपुर में केन्द्रित हुआ, तब से इस उद्योग को कानपुर में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति में काफी वृद्धि हो गई है।

(३) साहसोद्यमियों को कच्चे पदार्थ की उपलब्धि, श्रम की पूर्ति तथा बाजार के बारे में सीमित ज्ञान होता है। भारतवर्ष में तो हमारा अनुभव यह है कि वे अन्वेषणों पर अधिक रुपये व्यय करने के इच्छुक नहीं होते, परिणामतः वे विद्यमान औद्योगिक स्थान निर्धारण से अधिक प्रभावित होते हैं तथा अधिक कारखाने वहीं स्थापित होते हैं जहाँ पर कारखाने पहले से ही विद्यमान थे। इससे स्थानीकरण होता है। यदि उद्योगपति पर्याप्त अन्वेषण करते अथवा उन्हें अन्य सम्भाव्य स्थानों के बारे में सूचना राज्य अथवा अन्य संगठनों द्वारा मिलती, तब कुछ उद्योगों के लिए यह सम्भव हुआ होता कि वे नये स्थानों पर आकृष्ट हो जाते। परन्तु इस सूचना के अभाव में नये कारखाने ऐसे ही स्थान पर स्थापित होते हैं जहाँ पर पुराने पहले से ही विद्यमान हैं। इससे उद्योगों का और भी स्थानीकरण हो जाता है।

(४) उद्योग के स्थानीकरण के लिए राज्य का संरक्षण भी उत्तरदायी हो सकता है। मुगलकाल में उद्योग उन्हीं स्थानों पर समाहरित (concentrate) हुए जहाँ पर राजा का दरबार होता था। भारत के शाही राज्यों ने उद्योगपतियों को प्रेरणा प्रदान की जिसके परिणामानुसार एक निश्चित स्थान पर उद्योगों का समाहरण (concentration) हुआ। आधुनिक युग में भी उद्योग ऐसे ही स्थान पर स्थापित होते हैं जहाँ पर राज्य भूमि प्राप्ति, श्रमिकों की भरती यथा परिवहन सुविधाओं को प्रदान करने के लिए इच्छुक होते हैं।

जिन कारणों से उद्योग का समाहरण होता है अथवा इसकी प्रतिकूल प्रक्रियाओं (जिनसे उद्योगों का केन्द्रीकरण नहीं होता) का वर्गीकरण वेबर ने (१) संहति (agglomerating) वृत्तियों तथा (२) असंहति (deglom erating) वृत्तियों के रूप में किया। संहति वृत्तियों से एक उद्योग का किसी विशेष स्थान पर समाहरण होता है तथा असंहति वृत्तियो से उद्योग का उस स्थान से विकीरण होता है। संहति कारण कुशल श्रमिकों की उपलब्धि, पूंजी की पूर्ति, अन्य सहायक पदार्थों की प्राप्ति होते हैं जो उद्योग को एक स्थान पर आकृष्ट करते हैं, तथा अधिक भीड़ तथा संकुलन के कारण श्रम तथा गृह निर्माण की अधिक लागत तथा एक स्थान से उद्योगों का विकीरण करने के लिए स्थानीय सरकारो द्वारा अधिक कर लगाया जाना इत्यादि असंहति प्रवृत्तियाँ हैं। उद्योग का स्थानीकरण किस सीमा तक होगा, यह संहति एवं असंहति शक्तियो पर आधारित है। स्थानीकरण उस समय होगा जब दूसरे की अपेक्षा पहला अधिक शक्तिशाली होगा।

स्थानीकरण की सीमा को प्रोफेसर सार्जेण्ट फ्लोरेंस द्वारा बतलाये गए देशनांक से, जिसे निर्धारक प्रतिकारक (location factor) कहते है, नापा जा सकता है। निर्धारक प्रतिकारक उद्योग के एक निश्चित स्थान में समाहरण परिमाण (degree of concentration) का सूचक है। देशनांक की प्राप्ति एक निश्चित भाग में पाये जाने वाले उद्योग के श्रमिकों का प्रतिशत निकाल कर तथा उसमें उस क्षेत्र में उपलब्ध पूरे देश के औद्योगिक श्रमिकों की आनुपातिक संख्या द्वारा भाग देकर की जा सकती है। पूरे देश में जहाँ भी उद्योग का समान वितरण होगा वहाँ पर प्रत्येक क्षेत्र के लिए निर्धारक प्रतिकारक इकाई होगी क्योकि उस क्षेत्र के कुल औद्योगिक श्रमिकों का अनुपात उस निश्चित उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों के अनुपात के बराबर होगा। नहीं तो यह या तो इकाई से अधिक अथवा इकाई से कम होगा। यदि यह इकाई से अधिक होता है तब इस क्षेत्र में उद्योग का अधिक अंश स्थित है। इसके विपरीत यदि यह इकाई से कम है तब उस क्षेत्र में उद्योग का पर्याप्त अंश नहीं है। यदि किसी एक क्षेत्र 'क' में श्रमिको की मात्रा देश के कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या का १०% है तथा उस क्षेत्र के १०% श्रमिक चीनी उद्योग में काम करते हैं, तब इस दशा में निर्धारक प्रतिकारक इकाई होगा तथा 'क' स्थान पर न तो चीनी उद्योग का अधिक समाहरण हुआ है और न तो कम ही। परन्तु यदि इस क्षेत्र में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १०% है और इस क्षेत्र में चीनी उद्योग में काम करने वाले श्रमिक ३०% हैं तब निर्धारक प्रतिकारक अधिक है

और यह इस बात को दिखलाता है कि इस क्षेत्र में चीनी उद्योग का समाहरण अधिक हुआ है।

लाभ. स्थानीकरण से कुछ निश्चित लाभ होते हैं : (१) यदि उद्योग किसी एक जगह स्थानीकृत हो जाता है तब उस क्षेत्र के कारखानों को कुशल श्रमिकों, पूँजी तथा अन्य सहायक पदार्थों की पूर्ति सस्ते दामों पर हो जाती है। यदि एक उद्योग के कई कारखाने एक स्थान पर विद्यमान होते हैं तब उन्हें बैंको, रेलवे कम्पनियों तथा सहायक उद्योगों से बहुत सी सुविधायें मिलती हैं। ये सुविधाएँ उस समय न मिलतीं जब एक उद्योग के एक या दो ही कारखाने वहाँ पर होते। इस प्रकार उद्योगों का समाहरण उत्पादन लागत को कम करने में सहायक होता है।

(२) यदि एक उद्योग किसी स्थान पर स्थानीकृत होकर सफल हो जाता है तब उसे एक विशेष ख्याति की प्राप्ति हो जाती है तथा उस स्थान में बनाई गई वस्तु को अच्छे बाजार की प्राप्ति हो जाती है, भले ही वह वस्तु पहले उत्पादक (जिससे वस्तु को ख्याति मिली) द्वारा न बनाई जा कर अन्य उत्पादकों द्वारा बनाई गई हो। लंकाशायर के सूती रेशे तथा स्विटजरलैण्ड की घड़ियों ने इस प्रकार की ख्याति प्राप्त की जिससे इन स्थानों पर बनी हुई वस्तुओं को बाजार सरलतापूर्वक मिल जाता है। मुरादाबाद के पीतल के बर्तन, बनारसी साड़ियाँ, तथा फिरोजाबाद की चूड़ियों की ख्याति अधिक है चाहे इन स्थानों पर इनका उत्पादन कोई भी क्यों न करे। उत्पादकों का एक प्रसिद्ध स्थान में स्थानीकृत हो जाना ही उन्हें स्पर्धी लाभ प्रदान करता है तथा उनकी वस्तुएँ अन्य उत्पादकों की वस्तुओं की अपेक्षा बाजार में अधिक बिकती हैं।

(३) यदि किसी स्थान में एक ही उद्योग के उत्पादक अधिक संख्या में हैं तब उनमें तीव्र स्पर्धा होती है। इसका परिणाम गुण में सुधार तथा उत्पादन लागत में कमी होता है। यह उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों के लिए लाभप्रद होता है। इसके अतिरिक्त यदि एक ही उद्योग के अनेक उत्पादक एक ही स्थान में रहते हैं तब उनके लिये 'पूल', संस्थाओं तथा कार्टेल आदि का निर्माण करना सरल हो जाता है तथा उनमें उत्पादन और विक्रय सम्बन्धी समझौता भी हो जाता है। यह उस समय उतना आसान न होता यदि कारखाने विस्तृत क्षेत्र में छिटके होते। भारतीय जूट उद्योग भली भाँति संगठित है तथा भारतीय इस्पात निर्माताओं में बहुत अच्छे सम्बन्ध हैं, इनके आंशिक कारण इन उद्योगों का एक निश्चित स्थान में समाहरण होना है। इसके विपरीत भारतीय सूती कपड़े का उद्योग सुसंगठित नहीं है क्योंकि सूती मिलें विस्मित खण्ड में बिखरी हुई हैं।

हानियाँ. जहाँ स्थानीकरण से कुछ फायदे होते हैं वहाँ इससे कुछ हानियाँ भी हैं। स्थानीकरण के गम्भीर दोष निम्न हैं : (१) यदि स्थानीकरण एक निश्चित सीमा से अधिक होता है तब इससे उस क्षेत्र में अधिक भीड़ तथा संकुलन (congestion) तथा अस्वास्थ्यपूर्ण दशाएं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि एक स्थान पर कारखाने बहुत ही अधिक हैं तब श्रमिकों को निवास तथा अन्य सुविधाएं उतनी नहीं प्रदान की जा सकतीं जो समाहरण के अभाव में सम्भव हुई होतीं। सीमा से अधिक उद्योगों के स्थानीकरण से श्रमिकों, साहसोद्यमियों तथा जनता को कष्ट तथा असुविधाएं होती हैं।

(२) यदि किसी निश्चित स्थान में उद्योगों का समाहरण अत्यधिक हुआ है तब देश के अन्य ऐसे क्षेत्रों की उपेक्षा हो जाने की सम्भावना है जो उद्योग के प्रारम्भ करने के लिए समान रूप से अच्छे हैं। एक निश्चित स्थान में उद्योगो के समाहरण से देश के अन्य क्षेत्र उपेक्षित होकर पिछड़े हुए रह जाते हैं। सीमा से अधिक उद्योगों के स्थानीकरण से राष्ट्रीय संसाधनों का अपव्यय होता है तथा देश की आर्थिक व्यवस्था अर्ध-विकसित रह जाती है। यदि उद्योग भली-भाँति विकीर्ण (diversified) किया गया होता तब देश के प्राकृतिक तथा अन्य संसाधनो का प्रयोग उचित ढंग से सम्भव होता और उसके द्वारा राष्ट्रीय आय में वृद्धि भी हो जाती।

(३) यदि कोई उद्योग एक स्थान में समाहरित है तब युद्ध काल में हवाई आक्रमणों द्वारा उसके नष्ट एवं विध्वंस हो जाने का खतरा बहुत अधिक है। इसके विपरीत यदि उद्योग देश में उचित ढंग से विकीर्ण किया गया है तब इस प्रकार के खतरे में काफी कमी हो जाती है।

(४) आर्थिक व्यवस्था मे सामयिक व्यापारिक अवसाद (Trade depression) हुआ करते हैं। अवसाद के समय माँग में कमी होती है, मूल्य गिरने लगते हैं तथा बेरोजगारी फैल जाती है। कुछ समय ऐसा होता है कि कुछ विशेष कारणो से व्यापारी अवसाद अन्य उद्योगों को नहीं वरन् केवल एक ही उद्योग को प्रभावित करते हैं। भारत में स्वदेशी आन्दोलन तथा विभिन्न देशों के अनेक उपभोग केन्द्रों पर सूती कपड़े की मिलों के विकास से ब्रिटेन के सूती कपड़े के उद्योग को बहुत धक्का पहुँचा। चूंकि ब्रिटेन का सूती कपड़े का उद्योग लंकाशायर में स्थानीकृत था अत: ब्रिटेन के सूती कपड़े की माँग में कमी हो जाने के कारण लंकाशायर में एक विपन्न क्षेत्र (depressed area) का उदय हुआ। यदि लंकाशायर में केवल कुछ ही सूती मिलें होतीं तथा कुछ मिल अन्य स्थानों पर भी होतीं तब एक उद्योग की मन्दी से पूरा क्षेत्र विपन्न न हुआ होता। मान लीजिए

भारतवष के चीनी उद्योग में मन्दी आ जाती है तब इससे उत्तर प्रदेश तथा बिहार को बहुत बड़ा धक्का पहुँच सकता है तथा इन प्रदेशों की आर्थिक व्यवस्था बहुत ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी क्योंकि यह उद्योग उन्हीं क्षेत्रों में स्थानीकृत है। जूट उद्योग की मन्दी से पश्चिमी बंगाल की अर्थ व्यवस्था को काफी आघात पहुँचेगा। यदि ये उद्योग भली भांति विकीर्ण किए गए होते तब मन्दी के कुप्रभावो में काफी कमी हो जाती। एक निश्चित क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था पर मन्दी का कुप्रभाव कम होगा यदि वह क्षेत्र केवल एक ही उद्योग पर आधारित न होकर अनेक सुसंगठित उद्योगो पर आधारित हो।

स्थान निर्धारण का नियन्त्रण

उद्योगों के स्थान निर्धारण पर सरकारी नियन्त्रण के अभाव में एक निश्चित स्थान पर उद्योगों का अत्यधिक स्थानीकरण अवश्य होगा। इसलिए संकुलन, अत्यधिक भीड़ तथा श्रमिकों के बुरे स्वास्थ्य को रोकने, देश के विभिन्न क्षेत्रों का समुचित विकास करने तथा राष्ट्रीय संसाधनों का सर्वोत्तम विधि से प्रयोग करने के लिए उद्योगो के स्थान निर्धारण पर नियंत्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है। अपने कारखानो के स्थान निर्धारण का निर्णय करते समय वैयक्तिक उद्योगपति केवल अपने निजी स्वार्थों को ही दृष्टि में रखते हैं, राष्ट्रीय हितों को नहीं। स्थान निर्धारण पर सरकारी नियन्त्रण का उद्देश्य राष्ट्रीय हितो को उचित महत्व प्रदान करना है। यदि बाजार में पूर्ण स्पर्धा होती तथा साहसोद्यमी का व्यक्तिगत हित सुसंस्कृत (enlightened) होता जिससे क्लैसिकल अर्थशास्त्रियो ने उन्हें प्रतिष्ठित किया था, तथा उनमें से प्रत्येक न केवल अपने व्यक्तिगत हितो पर विचार करता वरन् राष्ट्रीय हित को भी ध्यान में रखता तब उद्योग के स्थान निर्धारण के नियंत्रण की कोई आवश्यकता न होती। परन्तु ये यथार्थ विश्व में नहीं पाये जाते इसलिए इस प्रकार के नियन्त्रण की नितान्त आवश्यकता है।

नियन्त्रण के उद्देश्य. उद्योगों के स्थान निर्धारण के नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं: (१) उद्योगों का समुचित विकीरण करना जिससे राष्ट्रीय संसाधनों का समुचित ढंग से प्रयोग किया जा सके। इसका अर्थ यह है कि सरकार के स्थान निर्धारण की नीति का ध्येय उद्योगों को ऐसे स्थान पर आकृष्ट करना होना चाहिए जहाँ पर सम्भाव्य लाभ तो उपलब्ध हैं परन्तु अब तक वे स्थान उपेक्षित रहें हैं तथा ऐसे स्थान पर कारखानों का खोलना रोकना चाहिए जहाँ पर पहले से ही बहुत से कारखाने हैं। (२) जिन क्षेत्रों में बहुत के कारखाने हैं वहाँ पर

अत्यधिक भीड-भाड़ तथा संकुलन को रोककर लोगो के आर्थिक क्षेम (economic welfare) में वृद्धि करना। सरकार का उद्देश्य न केवल प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि वरन् कुल आर्थिक क्षेत्र में वृद्धि करनी होनी चाहिए। यदि इससे राष्ट्रीय आय में कुछ नुकसान भी हो तब भी श्रमिको तथा उनके परिवारो एवं अन्य सभी लोगो के आर्थिक क्षेत्र को सुनिश्चित करना सरकार के स्थान निर्धारण की नीति का उद्देश्य होना चाहिए। (३) युद्धकाल में सरकार का उद्देश्य हवाई तथा अन्य प्रकार के आक्रमणों से उद्योगों की रक्षा करना होना चाहिए। यदि केवल आर्थिक दृष्टिकोण से किसी उद्योग का निर्धारण समुद्रतट अथवा सीमाप्रान्त पर करना लाभप्रद भी हो फिर भी कम से कम महत्वपूर्ण उद्योगो को वहाँ नहीं स्थापित होने देना चाहिए क्योकि युद्ध काल में उद्योग के अस्त-व्यस्त हो जाने का खतरा बना रहता है।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि उद्योग के स्थान का निर्धारण करते समय प्रमुख विचार उत्पादन लागत को न्यूनतम करना होता है फिर भी सरकार की स्थान निर्धारण की नीति को लोगो के आर्थिक कल्याण तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकता को भी दृष्टि मे रखना चाहिए।

नियन्त्रण की विधियाँ. स्थान निर्धारण की नीति को बनाने में सरकार को विद्यमान उद्योगों की स्थिति को ध्यान में रखना होता है। सरकार को नये सिरे से प्रारम्भ नहीं करना होता वरन् उद्योगो के स्थान निर्धारण में सुधार करने के प्रयास में उन विद्यमान दशाओं को ध्यान में रखना होता है। इसका परिणाम यह होता है कि सुधार धीमा और मन्द होता है तथा उद्योगो के स्थान निर्धारण में परिवर्तन उसी समय हो सकता है जब इसका अवसर आता है।

नियन्त्रण की विधियाँ होंगी (१) सरकारी अनुज्ञप्ति (licence) के बिना अधिक कारखानो के खोलने तथा विद्यमान कारखानो के प्रसार को रोकना, (२) अतीत में जिन स्थानों पर वैयक्तिक साहसोद्यमी नहीं जा सके हैं वहाँ पर उन्हें आकृष्ट करने के लिये उन्हे आर्थिक सहायता, परिवहन सुविधायें, भूमि की प्राप्ति आदि के रूप में उन्हे विशेष सुविधायें, तथा प्रेरणा प्रदान करना और (३) विद्यमान कारखानो को भीड़भाड़ वाले स्थानो से हटाकर उपयुक्त स्थानों पर स्थापित करना। प्रथम दो प्रकार की विधियाँ धीमी हैं तथा उद्योग के स्थान निर्धारण में सुधार करने में प्रभावक (effective) तभी हो सकती हैं जब नए कारखाने खोले जायें और तीसरी विधि बहुत मँहगी है तथा सदैव व्यवहारिक नहीं होती।

स्थान निर्धारण का नियन्त्रण सरकार की सामान्य औद्योगिक नीति का एक अग है। किसी उद्योग का उपयुक्त स्थान पर निर्धारण करने का निर्णय की समय सरकार को राष्ट्र की औद्योगिक तथा अन्य आवश्यकताओं पर सम्पूर्ण दृष्टि रखनी चाहिए। केवल विस्तृत योजना के आधार पर ही उद्योग के स्थान निर्धारण में सुधार किया जा सकता है। सरकार का अधिक भीड़-भाड़ वाले स्थान मे नवीन कारखानों को खोलने से रोकना, वर्तमान कारखानों को नवीन स्थान पर हटाने के लिए सिफारिश करना तथा नये स्थानो पर नये कारखानो को खोलना ही यथेष्ट नही होगा। अपनी नीति को प्रभावक बनाने के लिये सरकार को उद्योगो को आकृष्ट करने के लिए विद्यमान उद्योगो को नवीन स्थान पर हटाने के समय मे कुछ योग देना चाहिए तथा नवीन स्थानो को खोलने और उनमे सुविधाये एवं लाभ प्रदान करने मे सक्रिय भाग लेना चाहिए। यदि इन सब के बावजूद भी इन नवीन स्थानो पर उद्योग नही आकृष्ट होते तब सरकार को देश के आर्थिक संसाधनो का समुचित एव सर्वागीण (coordinate) विकास करने के लिए स्वय इन नये स्थानो पर उपयुक्त उद्योगो को खोलना चाहिए। केवल इस प्रकार की धनात्मक नीति से ही देश मे उद्योगो के स्थान निर्धारण मे सुधार हो सकता है।

...यत हो जाता है। केवल मजदूरी की न्यूनाधिक स्वतंत्र रूप से व्याख्या की ...ती है, लाभ अवशेष (residue) के रूप में छोड़ दिया जाता है। इस ... वितरण का 'क्लासिकल' सिद्धान्त अधिशेष का सिद्धान्त और मजदूरी का ...न्त रह जाता है।"

अधिशेष के सिद्धान्त में क्लासिकल अर्थशास्त्री वितरण के सीमान्त उत्पाद-... सिद्धान्त के काफी नजदीक आ गए थे। उन्होंने सीमान्त भूमि को अन्य भूमि ... अलग समझा था। यदि वे थोड़ा आगे और बढ़े होते और सीमान्त भूमि ... उत्पादकता पर उसे दिए जाने वाले शोधन के रूप में विचार करते तो वे ...न्त उत्पादकता सिद्धान्त का आविष्कार कर लिए होते। पर ऐसा न करके ...ने अधिशेष को सीमान्त भूमि के उत्पाद के ऊपर 'अतिरेक' समझा। भूमि ...त्पाद में इस अन्तरजन्य (differential) अतिरेक का पहला दावा माना ...या। अधिशेष का शोधन होने के बाद 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी पर ...चा। एक मजदूर की मजदूरी निकालने का प्रयास करने के स्थान पर उन्होंने ...मिक-वर्ग के भाग पर विचार किया। यदि वे प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी निका-...ने का प्रयास करते तो वे वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर पहुँच ...ाते। श्रमिक वर्ग का भाग मजदूरी-निधि (wage fund) है। मजदूरी निधि और मजदूरों की संख्या दी हुई होने पर उन्होंने मजदूरी की दर पहले को दूसरे से विभाजित करके निकाली :

$$\text{मजदूरी} = \frac{\text{मजदूरी निधि}}{\text{मजदूरों की संख्या}}$$

इसका अर्थ यह है कि यदि किसी वर्ष की कुल उत्पत्ति का मूल्य १०० अरब रुपया है और उत्पादकों ने ३० अरब रुपया अधिशेष के रूप में दिया है तो उन्हें शेष ७० अरब रुपयों में से मजदूरी निधि अलग करनी है। इस मजदूरी निधि से अगली मजदूरी दी जाएगी। यदि वे ५० अरब रुपये मजदूरी निधि के रूप में अलग रखते हैं और यदि मजदूरों की संख्या १ अरब है, तो प्रत्येक मजदूर को ५० रुपया मजदूरी मिलेगी। मजदूरी निधि उत्पादकों द्वारा न्यूनाधिक स्वेच्छा से निर्धारित की जाती है, पर यह ध्यान में रखा जाता है कि प्रत्येक मजदूर निर्वाह स्तर से कम मजदूरी न पाने पाए। यदि ५० रु० मजदूर ... जीवित रखने के लिए केवल पर्याप्त है तो १ अरब मजदूरों के लिए मजदूरी निधि ५० अरब रुपया होगी। पर यदि निर्वाह-मजदूरी ३० रु० है तो ३० अरब की मजदूरी-निधि पर्याप्त होगी। यदि मजदूरी-निधि ३० अरब रुपये से कम हुई और मजदूर निर्वाह-मजदूरी तक न पाएँ तो वे जीवित नहीं रहेंगे और उत्पादक

कारखाने चलाने के लिए अपेक्षित मजदूर नहीं पाएँगे। इस प्रकार मजदूरी-निधि की न्यूनतम सीमा नियत की जाती है। दूसरी ओर, यदि उत्पादक बृहत्तर मजदूरी निधि, मान लीजिए ४५ अरब रुपये, अलग रखते हैं तो मजदूरों की संख्या १ अरब होने पर मजदूरी ४५ रु० होगी। क्योंकि यह न्यूनतम निर्वाह-स्तर से अधिक है, इसलिए मजदूर अधिक बच्चे पैदा करेंगे क्योंकि अब वे बड़े परिवार का भरण पोषण कर सकते हैं और जनसंख्या में वृद्धि के कारण मजदूरों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी। इस संख्या के डेढ़ अरब होने पर मजदूरी फिर गिरकर ३० रुपया हो जाएगी। इस प्रकार न्यूनतम निर्वाह स्तर मजदूरी-निधि की अधिकतम सीमा नियत करता है। 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के मजदूरी निधि सिद्धान्त पर हम आगामी अध्याय में विचार करेंगे पर यहाँ यह निर्देश करा जा सकता है कि प्रथम अभ्यर्थना के रूप में अधिशेष दे दिए जाने के बाद और मजदूरी-निधि अलग रख देने के बाद जो बच जाता है वह पूँजीपति का भाग, अर्थात् ब्याज और लाभ, है। 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियो ने ब्याज और लाभ में भेद नहीं किया और इसलिए लाभ का पृथक् सिद्धान्त नहीं बनाया।

अतएव वितरण का 'क्लासिकल' सिद्धान्त तीन भागों—भूमिपति, मजदूरों और पूँजीपतियों—का निर्धारण करने के समान है। 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने वितरण का कार्यात्मक सिद्धान्त नहीं दिया। कार्यात्मक सिद्धान्त में हम पहले उत्पादन के साधन की प्रत्येक इकाई का देय शोधन निकालते हैं और इसके बाद यदि हम वर्ग के रूप में साधन द्वारा उपार्जित राष्ट्रीय लाभांश का भाग जानना चाहते हैं तो प्रत्येक के देय शोधन को जोड़ देते हैं। ऐसा न करके 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने योग निकाला और इसके बाद साधन की प्रत्येक इकाई का हिस्सा निकाला। इस प्रकार उन्होंने गलत सिरे से प्रारम्भ किया।

आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में हम इस तथ्य का अवधारण (appreciate) करते है कि उत्पादन की लागतें वितरण भुगतानों के समान हैं। इसका अर्थ यह है कि संस्थिति में एक वस्तु के उत्पादन की लागतें इस वस्तु-विशेष के उत्पादन में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों के भुगतान के बराबर होंगी। 'क्लासिकल' सिद्धान्त में मजदूरी, ब्याज और अधिशेष के पृथक्-पृथक् सिद्धान्त हैं। पर आधुनिक अर्थशास्त्र में एक ही मूल-भूत सिद्धान्त विभिन्न वितरण भुगतानों—मजदूरी, ब्याज अधिशेष और लाभ—की व्याख्या करता है।

उपभोक्ता के चुनाव के सिद्धान्त, विनिमय-सिद्धान्त और वितरण सिद्धान्त

बहुत कुछ समान है। जिस प्रकार बाजार में वस्तुओं के मूल्य माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित किए जाते हैं, उसी प्रकार उत्पादन के साधनो के मूल्य भी (जो मजदूरों के लिए मजदूरी, भूमि के लिए अधिशेष और पूँजी के ब्याज कहे जाते हैं) माँग और पूति द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। जिस प्रकार संस्थिति में माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य अन्ततः वस्तु उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं की अपनी-अपनी सीमान्त उपयोगिता के अनुपाती अवश्य होते हैं उसी प्रकार संस्थिति में माँग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित मजदूरी या ब्याज उत्पादक के लिए विभिन्न उत्पादन के साधनो की सीमान्त उत्पादकता के अनुपाती अवश्य होते हैं। जैसे एक उत्पादक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता का उसको दी जाने वाली मजदूरी के समीकरण करता है उसी प्रकार साधन पाई जाने वाली मजदूरी और सीमान्त त्याग का समीकरण करता है। वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण और उत्पादन के साधनों के मूल्य-निर्धारण में कोई आधारभूत भेद नहीं है। अर्घ का सिद्धान्त दोनो पर लागू होता है।

यह कहना सही नहीं है कि वस्तुओं के मूल्य निर्धारण और उत्पादन के साधनो के मूल्य-निर्धारण में आधारभूत भेद है क्योंकि पहली स्थिति में उत्पादन की द्राव्यिक लागत होती है पर साधनो के मूल्य निर्धारण में नहीं होती। अन्त्य-विश्लेषण में हमें द्राव्यिक लागत पर नहीं बल्कि वास्तविक लागत पर विचार करना चाहिए। और वस्तुओं एवं साधनो, दोनो, की स्थिति में वास्तविक लागतें होतीं है। 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने पीड़ा और त्याग को वास्तविक लागत समझा जबकि हम, जैसा अन्यत्र बताया जा चुका है, अवसर लागत (opportunity cost) को वास्तविक लागत समझते हैं। र स्थिति मे उत्पादन के साधन का मूल्य अवसर लागत के बराबर बहुत कुछ उसी प्रकार होगा जैसे वस्तु का मूल्य उसकी अवसर लागत के बराबर होता।

वस्तुओं और साधनों के मूल्य-निर्धारण में केवल यह अन्तर है कि उत्पादन के साधन की स्थिति में (क) जब उत्पादन का साधन श्रम होता है, हमें सामाजिक और मानवीय पक्षों पर विचार करना पड़ता है, और (ख) उत्पादन के साधनों की माँग व्युत्पन्न माँग होती है। इसलिए वितरण का पृथक् सिद्धान्त बनाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु यह अर्घ के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है और इन दो में कोई आधारभूत भेद नहीं है।

वितरण के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार संस्थिति में मजदूरी, ब्याज आदि प्रसंगबद्ध साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर अवश्य होते हैं। सब मूल्य, जिनमें ब्याज और मजदूरी सम्मिलित है, माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित किए

जाते हैं। परन्तु संस्थिति में मूल्य (मजदूरी अथवा ब्याज) प्रसंगबद्ध उत्पादन के साधनो की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है क्योंकि संस्थिति में वस्तु का मूल्य वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त लागत के बराबर होता है।

परिभाषा. अब प्रश्न उठता है कि सीमान्त उत्पादकता क्या है? प्रो० जे० आर० हिक्स के अनुसार "सीमान्त उत्पाद, जो संस्थिति की दशा में उत्पादन के साधन को अवश्य मिलने वाले वास्तविक प्रत्याय को नापता है, फर्म के उत्पाद में वह वृद्धि है जो इस फर्म को उपलब्ध साधन की पूर्ति में एक अल्प इकाई जोड़ने से तब होती है जब फर्म के संगठन का नई पूर्ति से समायोजन हो जाता है (जिससे इसका उपयोग सर्वाधिक मितव्ययिता से होता है), पर जब उद्योग का शेष संगठन, मूल्यो की सामान्य संहति समेत, अपरिवर्तित रहता है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि (क) केवल संस्थिति में मजदूरी या ब्याज (या उत्पादन के साधन को जो भुगतान किया जाता है उसे जिस किसी अन्य सम्बोध से पुकारें) साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है; (ख) साधन की सीमान्त उत्पादकता जानने के लिए(जहाँ उत्पादन के प्रविधिक गुणक परिवर्ती हैं) केवल एक साधन में, अन्य साधनो की मात्रा, उद्योग का संगठन और मूल्यो की सामान्य संहति को अपरिवर्तित रख कर, एक अल्प इकाई से वृद्धि की जानी चाहिए और फर्म का संगठन इस प्रकार बदला जाय कि साधन की इस अतिरिक्त प्रयुक्त इकाई को लाभ मिल जाय। यदि हम दर्जी की स्थापना का उदाहरण लें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम अतिरिक्त दर्जी को प्रयुक्त करते हैं, सिलाई की मशीनो, कपड़ा, तागा, बटन की राशि आदि अपरिवर्तित रहते हैं, पर कार्य का पुनर्वितरण इस प्रकार कर दिया जाता है कि अब प्रत्येक दर्जी अपनी सिली कमीजो में काज बनाने और बटन लगाने का काम इस अतिरिक्त प्रयुक्त दर्जी को दे देता है।

अतएव किसी एक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता जानने के लिए हमें अन्य सब उत्पादन के साधनो को स्थिर रखना पड़ता है और केवल एक साधन को एक अल्प इकाई से बढ़ाना पड़ता है, इसके बाद हम कुल उत्पाद में हुए अन्तर को देखते हे।

यदि हम एक के अतिरिक्त अन्य सब साधनो की मात्रा स्थिर नहीं रखते बल्कि सब साधनो की मात्रा में एक साथ वृद्धि कर देते हैं, तो हमें किसी एक साधन की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात नहीं होगी। इस स्थिति में हम सब उत्पादन के साधनों की संयुक्त सीमान्त उत्पादकता जानेंगे। अतएव अन्य सब साधनों की पूर्ति को स्थिर रखना अत्यावश्यक है। मान लीजिए किसी दर्जी की दुकान में २० सिलाई की मशीनें और २० दर्जी हैं और ये ३० दिन में २,६०० कमीजों

उत्पादन करते हैं। अब हम यदि मशीनों, कपड़े, तागे और बटनों की राशि आदि स्थिर रखते हैं पर दर्जियों की संख्या २० से बढ़ाकर २१ कर देते हैं और कुल उत्पाद बढ़कर ३,००० कमीजें हो जाता है, तो एक दर्जी की सीमान्त उत्पादकता १०० कमीजें हैं :

	कमीजों का कुल उत्पादन	दर्जी की सीमान्त उत्पादकता
२० सिलाई की मशीनों + २० दर्जियों का उत्पादन	२,६००	...
२० सिलाई की मशीनों + २१ दर्जियों का उत्पादन	३,०००	१००

परिकल्पनाएँ (Assumptions). इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इस उदाहरण में हमने मान लिया है कि सब २१ दर्जी बिल्कुल एक से हैं जिससे यदि हम दर्जियों की संख्या एक से बढ़ाते हैं तो हमें दर्जियों की सीमान्त उत्पादकता मिलती है। उपर्युक्त उदाहरण में, क्योंकि सब दर्जी एक समान हैं, प्रत्येक दर्जी उत्पाद की १०० इकाइयों का अंशदान कर रहा है और यह उसकी सीमान्त उत्पादकता है। पर मान लीजिए कि कुछ दर्जी अन्य से अधिक कुशल हैं। इस स्थिति में हमें विभिन्न दर्जियो पर विभिन्न रूप से विचार करना होगा और एक प्रकार के दर्जियों की सीमान्त उत्पादकता निकालने के लिए हम मशीनों और अन्य दर्जियों की संख्या स्थिर रख कर उस प्रकार के दर्जियों की संख्या में एक अल्प इकाई से वृद्धि करेंगे। अतएव यह परिकल्पना विभिन्न प्रकार के और विभिन्न कुशलता वाले मजदूरों के होने पर भी हमारे तर्क को किसी प्रकार से नहीं उलटती है। यह सब यह कहने के समान है कि किसी एक प्रकार के श्रम या मशीन की सीमान्त उत्पादकता जानने के लिए हमें अन्य सब साधनों की मात्रा स्थिर रखनी होती है और केवल एक प्रकार के साधन की मात्रा में एक इकाई से वृद्धि करनी होती है।

दूसरी परिकल्पना हमने यह की है कि विभिन्न उत्पादन के साधनों का परिवर्ती अनुपातों में संयोजन करना संभव है। पहले हमने २० मशीनों का २० दर्जियों के साथ संयोजन किया और फिर २० मशीनों का २१ दर्जियों के साथ। इस प्रकार हमने दर्जियों और मशीनों का अनुपात बदल दिया। पर मान लीजिए कि उत्पादन के प्राविधिक गुणक (अर्थात् वे अनुपात जिनमें साधनों का संयोजन किया जाता है) नियत हैं, जैसे टाइपिस्ट और टाइप राइटर या टैक्सी और टैक्सी ड्राइवर। इस स्थिति में हम अन्य साधन की मात्रा को स्थिर रखकर एक साधन की मात्रा में वृद्धि करने में समर्थ नहीं होंगे। यहाँ 'मात्रा-रीति (dosing method),

अर्थात एक साधन में एक छोटी इकाई से वृद्धि करने की युक्ति, लागू नहीं होगी। इसलिए हम उत्पादन के परिवर्ती प्राविधिक गुणकों को मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि अन्य साधनों को स्थिर रखकर जब एक उत्पादन के साधन की एक अधिक इकाई प्रयुक्त की जाती है तब कार्य में इस प्रकार पुनः संगठन करना संभव है जिससे इस अतिरिक्त इकाई को काम करने के लिए कुछ मिल सके। उपर्युक्त उदाहरण में यदि कार्य का पुनः संगठन न किया जा सके तो अतिरिक्त दर्जी बेकार रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम-विभाजन और किया जा सकना चाहिए जिससे जब २० दर्जी २० मशीनों का उपयोग कर रहे हों, तब २१ वें दर्जी को काटने, काज बनाने और बटन लगाने का काम, जिसे अब तक प्रत्येक दर्जी स्वयं कर रहा था, मिल जाय। इस प्रकार २१ वें दर्जी को प्रयुक्त करना और दर्जियों की सीमान्त उत्पादकता निकालना संभव हुआ है। यदि कार्य का पुनर्वितरण करना तथा २१ वें दर्जी को कोई काम देना संभव न होता तो मात्रा विधि से दर्जियों की सीमान्त उत्पादकता निकालना संभव न होता।

यदि मजदूरों का शोधन उत्पादित वस्तु के रूप में किया जाता तो सीमान्त उत्पादकता निकालने की यह रीति पर्याप्त होती। इस स्थिति में उपर्युक्त उदाहरण में प्रत्येक दर्जी को संस्थिति में उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर अर्थात् १०० कमीजें मिलतीं। पर आधुनिक आर्थिक संगठन में शोधन उत्पादित वस्तु के रूप में नहीं किया जाता बल्कि द्रव्य में किया जाता है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि वस्तुओं के रूप में सीमान्त उत्पादकता को जो 'सीमान्त भौतिक उत्पत्ति' (marginal physical product) कही जाती है, द्रव्य में बदल दिया जाय। द्रव्य में बदलने के लिए उत्पादित इकाइयों की संख्या को उस मूल्य से गुणा करते हैं जिस पर वह बाजार में बेची जा सकें। यदि प्रत्येक इकाई ३ रुपये में बेची जा सके तो द्रव्य में सीमान्त उत्पादकता, जिसे 'सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य' कहते हैं, (१०० × ३ रु०) = ३०० रुपये होगी। उपर्युक्त उदाहरण में पूर्ण स्पर्धा की संस्थिति में प्रत्येक दर्जी को ३०० रु० प्रति महीना मजदूरी मिलेगी। अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में सीमान्त उत्पादकता का तीसरे अर्थ में उपयोग किया जाता है। इस दशा में उत्पादित इकाइयों की संख्या को वस्तु के मूल्य से गुणा नहीं बल्कि सीमान्त आय से गुणा किया जाता है। इस गुणनफल को 'सीमान्त आय उत्पत्ति' (Marginal revenue product) कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में यदि वस्तु का मूल्य ३ रुपया और सीमान्त आय २·५० रुपया हो तो सीमान्त आय उत्पत्ति २५० रु० होगी और अपूर्ण प्रतियोगिता में संस्थिति में मजदूरों को २५० रुपया प्रति महीना मिलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सीमान्त उत्पादकता का मनसेक्षण तीन प्रकार से संभव है।

(क) सीमान्त भौतिक उत्पत्ति
(ख) सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य
(ग) सीमान्त आय उत्पत्ति

प्रत्येक मजदूर को संस्थिति में पूर्ण प्रतियोगिता होने पर सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य मिलेगा और अपूर्ण प्रतियोगिता होने पर सीमान्त आय उत्पत्ति मिलेगी। क्योंकि हम एक उद्योग की संस्थिति पर विचार कर रहे हैं, इसलिए न केवल एक स्थापन में बल्कि सब स्थापनों में मजदूरों को सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी मिलेगी और क्योंकि हमने मान लिया है कि एक प्रकार के सब मजदूर बिल्कुल समान हैं, इसलिए इस प्रकार के मजदूरों की मजदूरी सब स्थापनो में बराबर होगी। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त सुनिश्चित करता है कि (क) प्रत्येक स्थापन में मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है और (ख) एक ही प्रकार के मजदूरों की मजदूरी सब स्थापनों में बराबर होती है। यदि ऐसा न हो तो मजदूर कम मजदूरी वाली जगहों से अधिक मजदूरी वाली जगहों को चले जाएँगे और गतिशीलता की प्रक्रिया सब स्थानों में मजदूरी के बराबर न हो जाने तक चलेगी।

हमने सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त का निदर्शन श्रम के रूप में किया और अन्य साधनों को स्थिर रखकर श्रम में एक इकाई से वृद्धि की। पर इस सिद्धान्त का समानतः निदर्शन श्रम और अन्य साधनो को स्थिर रखकर पूँजी में एक इकाई से वृद्धि करके भी किया जा सकता है। सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त सब साधनों पर समानतया लागू होता है।

क्या यह संयुक्त उत्पाद है? यह कहा जाता है कि यदि उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हो तब भी एक साधन की सीमान्त उत्पादकता नहीं निकाली जा सकती क्योंकि जब हम एक साधन में एक इकाई से वृद्धि करते हैं तब उत्पाद की परिणामी वृद्धि सब साधनों का संयुक्त उत्पाद है। इसलिए यह केवल एक साधन की सीमान्त उत्पादकता नहीं कही जा सकती। यह प्रतर्क सही नहीं है। जब हम एक साधन में एक इकाई से वृद्धि करते हैं तो अन्य पदार्थ समान मान लिए जाते हैं। 'अन्य पदार्थों' में यन्त्र और अन्य साधन, कच्चा माल और उत्पादन समय सम्मिलित हैं। हमारे उदाहरण में जब हम दर्जियों की संख्या में एक इकाई से वृद्धि करते हैं और कार्य के वितरण में आवश्यक परिवर्तन करते हैं तब वस्तुतः यह होता है कि अधिक अच्छे श्रम-विभाजन के कारण, जो

अतिरिक्त दर्जी के कारण संभव होता है, कार्य कम समय में पूरा हो जाता है। वस्तुतः श्रम की सीमान्त उत्पादकता अपने को बचाए हुए समय के रूप में व्यक्त करती है। कमीजों की कुल राशि आवश्यक रूप से स्थिर रहती है क्योंकि मशीनें, कच्चे माल आदि स्थिर रहते हैं। वास्तव में जो होता है वह नीचे दिखाया गया है।

	कमीजों की कुल उत्पत्ति	उत्पादन में लिए गए ८ घंटे के दिनों की संख्या
२० मशीनों + २० दर्जियों का उत्पादन	२,९००	३०
२० मशीनों + २१ दर्जियों का उत्पादन	२,९००	२९

अर्थात् २१ वें दर्जी को काम पर लगाने से काम ३० दिन के बदले २९ दिन में पूरा हो गया। एक दर्जी की सीमान्त उत्पादकता बचाए हुए ८ घंटे समय के बराबर है। पर क्योंकि समय-समेत प्रत्येक पदार्थ को स्थिर मान लिया गया है, इसलिए हमें उन कमीजों की संख्या निकालनी है जिनका उत्पादन समय को ३० दिन रखकर किया गया होता। यदि ८ घंटे के दिन में २,९०० कमीजें २९ दिन में बनाई जाती हैं तो साधारण अंकगणना से ज्ञात हो जाता है कि आठ घंटे के ३० दिनों में ३००० कमीजें बनाई जाएँगी। इसलिए प्रदा के रूप में दर्जियों की सीमान्त उत्पादकता १०० कमीजें है। यह सीमान्त उत्पादकता की प्रतीकात्मक (Symbolical) अभिव्यक्ति है। वास्तव में केवल २९०० कमीजें तैयार हुईं, जैसा कि एक अधिक दर्जी लगाने से पहले था। अतएव मशीन द्वारा अधिक कार्य करने, अधिक कपड़े, तागे आदि के उपयोग का प्रश्न नहीं उठता। अन्य सब साधनों की मात्रा सर्वथा स्थिर रहती है और इसलिए इन १०० कमीजों के श्रम, मशीन और अन्य साधनों का संयुक्त उत्पाद होने का प्रश्न नहीं उठता। ये १०० कमीजें केवल श्रम (दर्जियों) की सीमान्त उत्पादकता है।

अपहरित सीमान्त उत्पादकता (Discounted marginal productivity). यहाँ पर हमें टॉसिग के अपहरित सीमान्त उत्पादकता के संबोध पर विचार कर लेना चाहिए। उसने कहा कि अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखने पर यदि अन्य अतिरिक्त मजदूर नियुक्त किया जाता है तो इस अतिरिक्त मजदूर को मजदूरी देने के लिए अधिक परिचल पूँजी (circulating capital) की आवश्यकता पड़ेगी। अतएव श्रम की सीमान्त उत्पादकता में से अतिरिक्त परिचल का ब्याज घटाना आवश्यक हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, जिस मजदूरी का मजदूर अधिकारी है उसे जानने के लिए उसकी सीमान्त उत्पादकता को 'अपहरित' करना पड़ता है। "उत्पादन के साधनों में एक जो श्रम के साथ लगभग किसी भी

वृत्ति में सहकार्य करता है, परिचल पूँजी है। जिस परिचल पूँजी का मजदूरों की वृत्ति के लिए आवश्यकता पड़ती है उसकी राशि दी गई मजदूरी गुणा मजदूरी देने के दिन से उत्पाद के बिकने के दिन तक बीतने वाले समय की लम्बाई के बराबर होती है। यदि अब हम यह मान लें कि समय की यह लम्बाई—अधिक प्रचलित भाषा में उत्पादन की अवधि—दी हुई और स्थिर है, पर श्रम और परिचल पूँजी के अतिरिक्त अन्य उत्पादन के साधनों के अनुपात स्वतंत्र रूप से चल (variable) हैं, तो, यद्यपि प्रयुक्त श्रम की मात्रा में अल्प वृद्धि करते समय यह माना जा सकता है कि अन्य उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर है, परिचल पूँजी स्थिर नहीं रखी जा सकती। हमें श्रम की वर्धित वृत्ति के समान परिचल पूँजी में अल्प वृद्धि करनी पड़ेगी। विक्रय मूल्य और उत्पादन की लागत को बराबर बनाए रखने के लिए सीमान्त उत्पत्ति में से इस अतिरिक्त परिचल पूँजी की लागत अवश्य घटानी चाहिए, अर्थात् (इस प्रकार प्राक्कलित) सीमान्त उत्पत्ति अवश्य 'अपहरित' होनी चाहिए।"

पर जैसा प्रो० हिक्स ने बताया है : "इस का कोई कारण नहीं है कि हम, सामान्यतः, उत्पादन की अवधि को परिवर्ती क्यों न मानें, और यदि एक बार हम ऐसा करते हैं तो हमें पुस्तक में वर्णित प्रकार का वास्तविक सीमान्त उत्पाद मिलता है। उसी परिचल पूँजी की एक ही राशि के साथ अधिक श्रम को प्रयुक्त करना सामान्यतः उत्पादन की अवधि के अल्पीकरण (Shortening) से अन्तर्ग्रस्त होगा; पर इन परिस्थितियों में अतिरिक्त श्रम द्वारा सर्जित अतिरिक्त उत्पाद वास्तविक (true) सीमान्त उत्पाद है जो संस्थिति में बिना 'अपहरण' के मजदूरी के बराबर अवश्य होगा।" इसका अर्थ यह हुआ कि श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पादकता निकालने के लिए 'अपहरण' की व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है।

मार्शल की 'निवल' उत्पादकता ('Net' Productivity). अब तक हमने माना था कि उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हैं और विभिन्न उत्पादन के साधनों का परिवर्ती अनुपातों में संयोजन करना संभव है। इस स्थिति में परिवर्ती साधन की सीमान्त उत्पादकता निकालने के लिए 'मात्रा' रीति (dosing method), अर्थात् अन्य साधनों को स्थिर रख कर एक साधन की मात्रा में एक इकाई (मात्रा) से वृद्धि करने की रीति, का उपयोग करना संभव था। मान लीजिए कि, टैक्सी और टैक्सी ड्राइवर की भाँति, उत्पादन के प्राविधिक गुणक नियत हैं। हम टैक्सीड्राइवर की सीमान्त उत्पादकता किस प्रकार निकालेंगे? साहसोद्यमी की सीमान्त उत्पादकता निकालने का प्रयास करते समय भी ऐसी ही समस्या उत्पन्न होती है। साहसोद्यमी को स्थिर रख कर श्रम या पूँजी की मात्रा

बढ़ाना संभव है और इस प्रकार 'मात्रा'-रीति के द्वारा श्रम या यन्त्र की सीमान्त उत्पादकता निकाला जाना संभव है। पर किसी एक स्थापन में यन्त्र, श्रम आदि की मात्रा को स्थिर रख कर साहसोद्यमियों की संख्या को बढ़ाना संभव नहीं है क्योंकि एक स्थापन में केवल एक साहसोद्यमी होता है।

इन स्थितियों में साधारण 'मात्रा' नीति से किसी एक उत्पादन के साधन की या साहसोद्यमी की सीमान्त उत्पादकता निकालना संभव नहीं है। यह कठिनाई मार्शल के 'निवक्त' उत्पादकता के संबोध से हल हो जाती है। इस संबंध में हमें दो तथ्यों को स्पष्टत: समझ लेना चाहिए :

(१) चाहे हम किसी साधन की सीमान्त उत्पादकता जानें या न जानें, संस्थिति में पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर अवश्य होगा। यदि ऐसा न होता तो उत्पादन का साधन स्थान परिवर्तन कर लेगा और संस्थिति नहीं हो पाएगी।

(२) अपरिवर्ती प्राविधिक गुणकों की स्थिति में, यद्यपि किसी एक साधन की सीमान्त उत्पादकता निकालना संभव नहीं है, संसाधनों के एक समूह की सीमान्त उत्पादकता निकालना सदैव संभव है क्योंकि यद्यपि उत्पादन के प्राविधिक गुणक नियत हैं पर वे सर्वत्र उसी स्तर पर नियत नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त उत्पादकता के आधार पर एक या दूसरे समूह को छाँटना संभव है।

सीमान्त निवक्त उत्पादकता की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह "एक अतिरिक्त मनुष्य को प्रयुक्त करने के कारण उत्पाद के अर्घ की सीमान्त निवक्त वृद्धि है। यह अन्य साधनों में समुचित वृद्धि के साथ एक अतिरिक्त मनुष्य को प्रयुक्त करके होने वाली सीमान्त सकल-उत्पादकता (Marginal gross productivity) ऋण अन्य साधनों की लागत में वृद्धि के बराबर है। इसका औसत शुद्ध (net) उत्पादकता के साथ साधारण सीमान्त सम्बन्ध है।[1]

१. "प्रत्येक व्यापारी यथार्थ में, अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार, प्रत्येक प्रयुक्त उत्पादन के साधन की और साथ ही साथ उनकी जो इनके बदले प्रतिस्थापित किए जा सकें, उनकी सापेक्ष्य निपुणता का विचार प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास कर रहा है। वह जितना अच्छी तरह कर सके, इसका प्राक्कलन करता है कि किसी एक साधक का अतिरिक्त उपयोग करने के कारण कितना शुद्ध उत्पाद (अर्थात् उसके कुल उत्पाद के अर्थ में शुद्ध वृद्धि) होगा। शुद्ध उत्पाद का अर्थ है कि कुल उत्पाद में से परिवर्तन के कारण अप्रत्यक्ष रूप से होने वाले अतिरिक्त व्यय को घटाकर और प्रासंगिक (incidental) बचतों को जोड़कर प्राप्त होने वाला उत्पाद। वह प्रत्येक साधक को उस सीमा तक प्रयुक्त करने का प्रयास करता है जहाँ साधक का शुद्ध उत्पाद उसको दिए जाने वाले मूल्य से अधिक नहीं होता।" मार्शल

यह बताता है कि 'निवक्त' उत्पादकता का संबोध अधिक सामान्य है और यह दोनों स्थितियों पर, जब उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हैं और जब वे अपरिवर्ती हैं, लागू किया जा सकता है। उत्पादन के प्राविधिक गुणकों के नियत होने पर इसके महत्वपूर्ण हो जाने का कारण यह है कि इस स्थिति में केवल इस रीति के द्वारा सीमान्त उत्पादकता जानी जा सकती है।

इस स्थिति में हमें तीन बातें सोचनी चाहिएँ : (क) "साहसोद्यमी संसाधनों के समूहों में से, जो प्राविधिक रूप से दी हुई रीति में संगठित है, चुनाव करते हैं"; (ख) "ऐसा समूह तभी लिया जाएगा यदि इसकी सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य इसकी लागत से अधिक है; पर यदि एक दूसरा समूह उपलब्ध है जो समरूप (equivalent) उत्पाद को कम लागत पर प्रस्तुत करता है, तो पहला समूह इस स्थिति में भी नहीं लिया जाएगा; " और (ग) "समूह के कुल अर्घ को निर्धारित करने के लिए सीमान्त उत्पादकता पर्याप्त है, पर समूह के केवल एक संघटक को दिए जाने वाले मूल्य को जानने के लिए अन्य संघटकों के मूल्य को घटाना पड़ेगा।"

मान लीजिए उत्पादक संसाधनों के एक समूह को चुनता है जिसमें एक साहसोद्यमी के साथ साधन क की १०० इकाइयाँ, साधन ख की ५० इकाइयाँ, और साधन ग की ३० इकाइयाँ हैं, और जो १०,००० रु० अर्घ का उत्पादन करता है। मान लीजिए संस्थिति में, क का बाजार में मूल्य ५० रु० प्रति इकाई, ख का २० रु० प्रति इकाई और ग का २५ रु० प्रति इकाई है। साहसोद्यमी साधन क को ५,००० रु०, साधन ख को १,००० रु० और साधन ग को ७५० रु० देगा। १०,००० रु० के कुल अर्घ में से अवशेषी राशि, अर्थात् ३,२५० रु०, साहसोद्यमी की निवक्त उत्पादकता या सीमान्त उत्पादकता है।

समालोचना. सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की विविध आलोचनाएं की गई हैं। पर इनमें से अधिकांश आलोचनाएँ ऊपरी हैं और सिद्धान्त की मान्यता को नष्ट नहीं करतीं :

(१) यह कहा जाता है कि मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर केवल सिद्धान्त में होती है : वास्तविक व्यवहार में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने के लिए यह आवश्यक है कि श्रम पूर्ण रूप से गतिशील हो, श्रम संघों का अभाव हो, और उत्पादकों का

के अनुसार किसी उत्पादन के साधन (श्रम) का शुद्ध उत्पाद जिस उत्पत्ति के उत्पादन में उसने सहायता की है उसके अर्घ में से उसके उत्पादन के अन्य सब व्यय घटाने के बाद' जो बचता है वह है।

संयोजन न हो, पर वास्तविक व्यवहार में गतिशीलता का अभाव है और मजदूर श्रम संघों में संयोजन करते हैं एवं उत्पादक एकाधिकारी शक्ति का लाभ उठाते हैं। फलस्वरूप वास्तविक व्यवहार मे मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता से अधिक या कम होती है, उसके बराबर नहीं हो पाती। पर यह आलोचना केवल सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर ही नहीं बल्कि सब आर्थिक सिद्धान्त पर लागू होती है। संपूर्ण स्थैतिक सिद्धान्त, अपने स्वरूप के कारण, केवल दी हुई दशाओं में और संस्थिति मे लागू होता है। यही सीमान्त उत्पादकता के बारे मे जिसके अनुसार संस्थिति में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी, सच है। वास्तविक दुनिया मे मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता के बराबर होना आवश्यक नहीं है, पर मजदूरी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की प्रवृत्ति सदैव रहती है।

(२) इस सिद्धान्त की दूसरी समालोचना यह है कि एक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता, अर्थात् अतिरिक्त मजदूर को प्रयुक्त करने के कारण होने वाली अतिरिक्त उत्पत्ति, वास्तव में उसकी उत्पत्ति नहीं है बल्कि श्रम, यन्त्र और अन्य उत्पादन के साधनों की संयुक्त उत्पत्ति है। यह प्रतर्क सही नहीं है। उपर्युक्त उदाहरण में जब एक अतिरिक्त मजदूर (दर्जी) काम पर लगाया गया था, तब अन्य बातों के समान रहने पर, उत्पत्ति में १०० इकाइयों (कमीजों) से वृद्धि हुई थी। यदि यह अतिरिक्त मजदूर (दर्जी) प्रयुक्त न किया जाता तो अतिरिक्त उत्पत्ति का होना संभव न होता। यह अतिरिक्त मजदूर को प्रयुक्त करने का परिणाम है और इसे श्रम की सीमान्त उत्पादकता कहना पूर्णतः शुद्ध है। जब प्रत्येक कमीज ३ रु० में बिकती है, सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य, अर्थात् द्रव्य में दर्जी की सीमान्त उत्पादकता, ३०० रु० है और संस्थिति में प्रत्येक दर्जी को अपने काम के लिए ३०० रु० प्रति महीना मजदूरी मिलेगी। यह तर्क किया जा सकता है कि १०० कमीजें वास्तव में दर्जी का काम नहीं है, बल्कि दर्जी और सिलाई की मशीन का है। अतएव दर्जी का शोधन करने से पहले मशीनों की देय शोधन घटा दिया जाना चाहिए। यद्यपि, इन १०० कमीजों को बनाने में कुछ कपड़े और तागे का उपयोग हुआ है और दर्जी की मजदूरी देने से पहले ३०० रु० मे से इन चीजों पर व्यय की गई राशि घटा देनी चाहिए। पर वस्तुस्थिति को इस प्रकार देखना गलत है। २१वाँ दर्जी कुछ कपड़ा और सूई-तागा लेकर इन १०० कमीजों को बनाने नहीं बैठा। वास्तव में जो हुआ वह यह है कि अतिरिक्त दर्जी को प्रयुक्त करने पर काम का पुनर्वितरण किया गया और उसे काज और बटन लगाने आदि का काम मिला। इसे पहले प्रत्येक दर्जी स्वयं करता

था। इसके परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त दर्जी ने पृथक रूप से १०० कमीजों का उत्पादन नही किया बल्कि स्थापन द्वारा उत्पादित कमीजों के उत्पादन में उसने थोड़ा अंशदान किया। जब २१वाँ दर्जी नहीं था तब २६०० कमीजों का उत्पादन हो रहा था और इसको काम पर लगाने के बाद (प्रतीकात्मक रूप से) ३,००० कमीजों का उत्पादन हो रहा था। इस प्रकार यह बताता है कि २१वें दर्जी द्वारा प्रत्येक कमीज पर किए गए दाम का समस्त योग १०० कमीजें बनाने के बराबर है। यह उदाहरण स्पष्टतः प्रदर्शन करता है कि इन १०० कमीजों के श्रम और यन्त्र का संयुक्त उत्पादन होने का कोई प्रश्न नहीं उठता और ये केवल इस दर्जी द्वारा किए गए कार्य को व्यक्त करते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि इन १०० कमीजों को बनाने के लिए अतिरिक्त कपड़ा, तागा आदि कहाँ से आया। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि, जैसा हम बता चुके हैं, वस्तुतः उत्पादित कमीजों की संख्या वही है जिसे २० दर्जी २० मशीनों से ३० दिन में उत्पादित कर रहे थे, अर्थात् २६००। अतिरिक्त दर्जी को काम पर लगाने के परिणाम स्वरूप अधिक श्रम विभाजन और अधिक विशेषीकरण होता है, इसलिए काम जल्दी हो जाता है और अब २६०० कमीजों का उत्पादन ३० दिन के बदले २६ दिन में हो जाता है। अतएव कपड़े तागे आदि की मात्रा बढ़ाना आवश्यक नहीं है। पर क्योंकि हमें समय समेत प्रत्येक वस्तु स्थिर रखनी होती है, इसलिए हमें इस प्रकार तर्क करना पड़ता है कि क्योंकि २६ दिन में (प्रत्येक ८ घंटे का) २६०० कमीजें बनती हैं, इसलिए यदि उत्पादन-अवधि ३० दिन ही रहे तो प्रतीकात्मक रूप से ३,००० कमीजों का उत्पादन होगा। इस प्रकार ३०० रु० में से, जो दर्जी की सीमान्त उत्पादकता है, कपड़े, तागे आदि का मूल्य घटना आवश्यक नहीं है। निस्संदेह जब किसी वस्तु के उत्पादन के कई साधन सहकार्य करते हैं, प्रत्येक साधन अपने हिस्से का कार्य करता है; पर अधिकांश स्थितियों में किसी साधन द्वारा किए गए काम को जानना संभव है और इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता निकाली जा सकती है।

(३) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की इस आधार पर समालोचना की गई है कि यह केवल तभी लागू होता है, जब उत्पादन के साधनों के संयोजन के अनुपात—उत्पादन के प्राविधिक गुणक—परिवर्ती होते हैं। जैसा हम बता चुके हैं, उत्पादक के तांत्रिक गुणकों के नियत होने पर 'मात्रा' रीति निस्संदेह लागू नहीं होती, पर यह किसी भी रूप से वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को अमान्य नहीं करती। इस स्थिति में मार्शल के 'शुद्ध' उत्पादकता सिद्धान्त की

सहायता से किसी उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता निकाली जा सकती है।

(४) यह प्रतर्क किया गया है कि यदि प्रत्येक साधन का भुगतान सीमान्त उत्पादकता के अनुसार किया जाय तो इस प्रकार किए गए भुगतान या तो कुल उत्पत्ति से अधिक होंगे या कम। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकता का योग कुल उत्पत्ति का सर्वदा निश्शेषण (exhaust) नहीं करेगा और साहसोद्यमी को अतिरेक मिलेगा या, इसके विपरीत, उसे कुछ अपने पास से देना पड़ेगा यह सही नहीं है। गणितानुसार यह सिद्ध किया जा चुका है कि संस्थिति में अर्ध्वबाहु वक्र के निम्नतम बिन्दु पर—अर्थात् जब स्थिर प्रत्याय प्राप्त होती है—कुल उत्पत्ति आवश्यक रूप से निश्शेषित हो जायेगी तथा किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक कुछ नहीं मिलेगा और न ही किसी को उससे कम। इस निर्णायक गणितीय प्रमाण के अतिरिक्त भी इसका समझना सुगम है कि संस्थिति में प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पत्ति से अधिक या कम नहीं मिलेगा, अन्यथा संस्थिति नहीं होगी।

यदि किसी स्थापना में उत्पादन के साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम मिले तो उसकी कुछ इकाइयाँ मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाने तक उस स्थापना को छोड़कर चली जाएँगी; और यदि किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मिले तो उस साधन की अधिक इकाइयाँ, मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाने तक, उस स्थापना की ओर आकर्षित होंगी। "अत्यन्त साधारण अगणितीय विश्लेषण बताता है कि प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पाद के बराबर अवश्य मिलना चाहिए। प्रत्येक अवक्रीत (hired) साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए, क्योंकि अन्यथा उसकी माँग संकोचन या विस्तारण करेगी; और प्रत्येक अनवक्रीत (unhired) साधन को (जो 'साहसोद्यमी के रूप में कार्य करता है') उसकी सीमान्त उत्पत्ति अवश्य मिलनी चाहिए, क्योंकि यदि उसे कम मिला, तो साधन के स्वामी उसका अवक्रमण (hire out) करने को अधिमान (prefer) देंगे; और यदि उसे अधिक मिला, तो कुछ अवक्रीत वर्ग के साधन अनवक्रीत वर्ग को स्थानान्तरित हो जायेंगे।"

(५) कुछ लोगों ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि इस-सिद्धान्त का उपयोग पूँजीवादी व्यवस्था को उचित ठहराने में किया गया है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत था कि सीमान्त उत्पादकता के अनुसार किया गया भुगतान उचित और न्याय्य है। इससे यह प्रतीत होने लगता है,

कि यदि पूँजीवादी व्यवस्था में प्रत्येक साधन को सीमान्त उत्पादकता के अनुसार मिलता है तो यह व्यवस्था उचित और न्याय्य है। पर यह सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का अपराध नहीं है, बल्कि उन लोगों का है जो इसका उपयोग पूँजीवादी व्यवस्था को उचित ठहराने के लिए करते हैं। औचित्य और न्याय संपत्ति के वितरण के विषय हैं, पर सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त सम्पत्ति वितरण का एक दिया हुआ प्रतिरूप (pattern) मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार दी हुई दशाओं में प्रत्येक साधन को किया गया भुगतान उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। यह जानने के लिये कि व्यवस्था न्याय्य और उचित है या नहीं, हमें सम्पत्ति के वितरण के वास्तविक आधार की जाँच करनी होगी। पर सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त इसे दिया हुआ मान लेता है और इसकी जाँच नहीं करता।

(६) वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की एक असुख्य समालोचना यह है कि यह केवल माँग-पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। इस संभ्रम के उत्पन्न होने का कारण यह है कि, अन्य-बातों के समान रहने पर, जब हम साधन विशेष की अधिकाधिक इकाइयाँ लेते हैं तो उसकी सीमान्त उत्पादकता गिरती जाती है। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता का वक्र बहुत कुछ साधारण माँग वक्र की भाँति आचरण करता है। पर सीमान्त उत्पादकता के माँग और पूर्ति, दोनों, पक्ष हैं।

	श्रम की माँग (संख्या में)	सीमान्त उत्पत्ति मूल्य (रुपयों में)	मजदूरी दर (रुपयों में)	श्रम की पूर्ति (संख्या में)
पहली दशा :	१०००	३०	३०	१०००
दूसरी दशा :	१२००	४०	३०	८००
तीसरी दशा:	७००	२५	३०	१३००

मान लीजिए, जैसा कि पहली दशा में दिखलाया गया है, हम संस्थिति की स्थिति से प्रारम्भ करते हैं। जब सीमान्त उत्पादकता तथा मजदूरी दर ३० रुपये है तब श्रम की माँग और पूर्ति दोनों १००० है। यदि मालिक को केवल श्रम की सीमान्त उत्पादकता ही ज्ञात होती तब वह इस बात का निर्णय न कर पाता कि उसे कितने श्रमिकों को लगाना चाहिए। सीमान्त उत्पादकता की तुलना मजदूरी दर से करने पर ही वह श्रमिकों के माँग की जाने वाली संख्या का पता लगा सकता है। दूसरी दशा में, चूँकि सीमान्त उत्पादकता ४० तथा मजदूरी दर ३० रुपये है इसलिए वह श्रमिकों की अधिक माँग करता है क्योंकि उसके लिए अन्य उत्पादन के साधनों के स्थान पर श्रमिकों का प्रतिस्थापन करना लाभप्रद

है। इसके विपरीत, जैसा कि तीसरी दशा में दिखलाया गया है, यदि श्रम की सीमान्त उत्पादकता घट कर २५ हो जाती है तब वह कुछ श्रमिकों को हटा देता है तथा उसकी श्रमिकों की माँग घट कर ७०० हो जाती है। यह इस बात को दिखलाता है कि सीमान्त उत्पादकता प्रक्रिया का माँग पक्ष नहीं है वरन् सीमान्त उत्पादकता तथा प्रवर्त्तमान मजदूरी-दर की तुलना के उपरान्त ही श्रम की माँग ज्ञात की जा सकती है। यह सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का माँग पक्ष है।

इसी प्रकार यदि केवल मजदूरी दर ज्ञात हो तब श्रम की पूर्ति नहीं जानी जा सकती। दूसरी दशा में, मजदूरी दर को सीमान्त उत्पादकता से कम होने के कारण श्रम की पूर्ति घट कर ८०० हो गई थी तथा श्रमिक अन्य वैकल्पिक कार्य में चले गए। तीसरी दशा में, १३०० श्रमिक कार्य करने को प्रस्तुत हो गये क्योंकि इस कार्य में श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता मजदूरी दर से अधिक है। सीमान्त उत्पादकता तथा मजदूरी दर की तुलना के आधार पर ही श्रम की पूर्ति भी ज्ञात की जा सकती है। इस प्रकार यह सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का पूर्ति पक्ष है।

साधन बाजार में संस्थिति की प्रक्रिया में सीमान्त उत्पादकता न तो पूर्ति पक्ष को और न माँग पक्ष को दिखलाती है। अतएव हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि समुचित व्याख्या करने पर वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त उत्पादन के साधनों (मजदूरी, ब्याज आदि) के संस्थिति मूल्यों का निर्धारण करने की एक सुपर्याप्त और शुद्ध रीति है। सब मूल्यों की भाँति मजदूरी, ब्याज आदि माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित किए जाते हैं, पर संस्थिति में मजदूरी या ब्याज सम्बद्ध उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता के बराबर अवश्य होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो माँग या पूर्ति या दोनों मजदूरी और ब्याज के सम्बद्ध उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता एक बराबर हो जाने तक बदलेंगे।

अध्याय २४

मजदूरी
(Wages)

जिस प्रकार ब्याज पूँजी के और अधिशेष भूमि के उपयोग का भुगतान है, उसी प्रकार मजदूरी मानसिक या शारीरिक श्रम का भुगतान है। मजदूरी उत्पादन के साधन श्रम का मूल्य है और अन्य मूल्यों की भाँति ही निर्धारित होती है। अन्य मूल्य प्रायः द्रव्य में दिए जाते हैं पर मजदूरी द्रव्य में या वस्तु के रूप में या दोनों प्रकार से दी जा सकती है। इसीलिए हमें द्राव्यिक मजदूरी और वास्तविक मजदूरी में भेद करना पड़ता है। प्रायः मजदूरी काम में लगने वाले समय की अवधि के आधार पर दी जाती है और इसे 'समय' मजदूरी (time wages) कहा जाता है। पर कुछ स्थितियों में, जैसे दर्जियों को, मजदूरी खण्ड कार्य (piece-work) के आधार पर दी जा सकती है और इसे 'यथाकर्म मजदूरी' (piece-wage) कहते हैं। यदि समय-मजदूरी या यथाकर्म मजदूरी केवल द्रव्य में दी जाती तो वास्तविक मजदूरी वस्तुओं और सेवाओं की वह राशि है जिसे श्रमिक अर्जित द्रव्य-राशि (अर्थात् उसकी द्राव्यिक मजदूरी) से खरीद सकता है। पर कभी-कभी मजदूरों को अंशतः द्रव्य में और अंशतः वस्तु के रूप में मजदूरी दी जाती है। उदाहरण स्वरूप, एक कृषि-मजदूर को २ रु० प्रति दिन मिलें और साथ ही साथ वह कृषक-नियोक्ता (farmer-employer) के साथ खाना खाए और शाम को घर जाते समय उसने जिस वस्तु के उत्पादन में सहायता दी हो (गन्ना या गेहूँ) थोड़ा उसे भी ले जाए। इस मजदूर की वास्तविक मजदूरी की गणना करने में हमें न केवल उन वस्तुओं और सेवाओं को जिन्हें वह २ रुपये से खरीद सकता है, बल्कि उसने नियोक्ता के साथ जो खाना खाया है और गन्ने या गेहूँ की जो राशि वह घर ले गया है उन्हें भी सम्मिलित करना होगा। यदि किसी फर्म के प्रबन्धक या आंकिक को मुफ्त मकान, बच्चों को निःशुल्क शिक्षा, निःशुल्क चिकित्सा, कार, चपरासी और अन्य सुविधाएँ मिलती हैं, तो उसकी वास्तविक मजदूरी निकालने के लिए इन सब को उसकी द्राव्यिक मजदूरी से खरीदी जा सकने वाली वस्तुओं और सेवाओं में जोड़ना पड़ेगा। यदि हम कुल उपलब्धियों को वास्तविक रूप में नहीं बल्कि द्राव्यिक रूप में निकालना चाहें, तो हमें प्रबन्धक या आंकिक की द्राव्यिक मजदूरी में उसे प्राप्त होने वाली सब सुविधाओं और सुकर-

ताओं आदि का मूल्य जोड़ना पड़ेगा। इस कथन में कि संस्थिति में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है, मजदूरी का अर्थ द्रव्य में या पदार्थों के रूप में मिलने वाली कुल मजदूरी से है।

मजदूरी पर सोचते समय हम प्रायः एक नियोक्ता के बारे में सोचते हैं जो मजदूर का अवक्रय (hire) करता है और उसे पहले किये गये संविदा (contract) के आधार पर मजदूरी देता है। पर नियोक्ता के स्वयं को अपने कार्य के लिए मजदूरी देने से कोई सारवान (material) अन्तर नहीं होता। किया जाने वाला कार्य करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। लघु अनु-माप-उत्पादन में हो सकता है कि उत्पादक सम्यक् लेखा न रखे और यह सोच सकता है कि कच्चे माल, सेवाओं आदि के लिये भुगतान करने के बाद उसके पास जो बचता है वह उसका लाभ है। पर वास्तव में वह उसका लाभ नहीं है। उसका लाभ निकालने के लिए हमें इसमें से स्वयं उसके द्वारा नियोजित पूँजी पर ब्याज और उसकी एवं उसके परिवार के अन्य सदस्यों की सेवाओं की मजदूरी घटा लेनी पड़ेगी।

संयुक्त पूँजी कम्पनी (joint stock company) के लेखे में अवक्रीत (hired) मजदूरों की मजदूरी की भाँति स्वयं नियोक्ता की मजदूरी भी दिखाई जाती है। नियोक्ता को सहजतः अन्य शोधन, जिनमें लाभ सम्मिलित है, भी मिलते है, पर यह सर्वथा भिन्न विषय है। यहाँ बल इस बात पर देना है कि कार्य के लिए शोधन चाहे नियोक्ता मजदूर को करे या स्वयं को वह मजदूरी के वर्ग में आता है। दूसरी बात यह है कि शोधन चाहे शारीरिक श्रम के लिए किया जाय या मानसिक श्रम के लिये वह मजदूरी ही कहलाता है क्योंकि, यद्यपि मानसिक कार्य शारीरिक कार्य से भिन्न है पर दोनों हैं तो लाभ ही। अंततः यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे विषय में इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कुछ मजदूरी का भुगतान साप्ताहिक या मासिक रूप से किया जाय और कुछ का बोनस के रूप में वर्ष के अन्त में। यदि मजदूर को बोनस दिया जाता है और हम उसकी मासिक मजदूरी निकालना चाहें तो हम उसे १२ महीने में दी गई कुल मजदूरी में उसे दिया गया बोनस जोड़ देंगे और इसे १२ से विभाजित कर देंगे। मजदूरी किसी भी रूप या समय में दी जाय, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मजदूरी के सिद्धान्त का उद्देश्य यह समझाना है कि मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है। अन्य सब मूल्यों की भाँति मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। संस्थिति में माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित मजदूरी भी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर बहुत कुछ उसी प्रकार होगी जैसे माँग

श्रौर पूर्ति द्वारा निर्धारित किसी वस्तु का मूल्य संस्थिति में उपभोक्ता के लिए वस्तु की सीमान्त उपयोगिना के भी बराबर होता है। यदि ऐसा न होता तो संस्थिति प्राप्त नहीं होगी। यदि किसी विशेष प्रकार के श्रम की कोई प्रवर्तमान मजदूरी हो श्रौर माँग के समान रहते हुए पूर्ति बढ़ जाती है तो मजदूरी गिर जायगी श्रौर इसके विपरीत यदि पूर्ति के समान रहते हुये माँग बढ़ जाती है तो मजदूरी बढ़ जाएगी। पर वास्तविक अध्ययन-वस्तु माँग श्रौर पूर्ति में निहित शक्तियाँ हैं। मजदूरी के विभिन्न सिद्धान्तों का उद्देश्य इन शक्तियों का विस्तार पूर्वक वर्णन करना श्रौर उनका कार्यकरण बताना है। मजदूरी के पुराने सिद्धान्त—मजदूरी निधि सिद्धान्त, जीवन निर्वाह सिद्धान्त श्रौर अवशिष्ट अध्यर्थक सिद्धान्त (residual claimant theory) अब त्यागे जा चुके हैं। आस्ट्रीय अर्थशास्त्रियों का अभ्यारोप का सिद्धान्त (theory of imputation) श्रौर अपरिष्कृत सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त भी, जो आधुनिक सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के पूर्ववर्ती हैं, अब अपूर्ण श्रौर दोष युक्त माने जाते हैं। माँग श्रौर पूर्ति के पीछे काम करने वाली शक्तियों की सच्ची व्याख्या आधुनिक सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त करता है।

मजदूरी निधि सिद्धान्त (wage fund theory)

'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी कुल वार्षिक उत्पत्ति में से उत्पादक सबसे पहले भूमिपति को अधिशेष [illegible] हैं। भूमिपति सीमान्त भूमि से श्रेष्ठ भूमि की उत्पत्ति का पहला अभ्यर्थी है। अधिशेष दे देने के बाद उत्पादक एक मजदूरी निधि अलग रख देते हैं। जिसका अगली अवधि में कार्यवाहक पूँजी के रूप में उपयोग किया जाता है श्रौर [illegible]समें से मजदूरों को मजदूरी दी जाएगी। वार्षिक उत्पत्ति का शेष भाग पूँजीपति [illegible] ब्याज श्रौर लाभ के रूप में मिलता है। तत्पश्चात् श्रम की मजदूरी निम्नलिखित सूत्र के आधार पर निर्धारित की जाती है :—

$$\text{मजदूरी की दर} = \frac{\text{मजदूरी-निधि}}{\text{मजदूरों की संख्या}}$$

मान लीजिए किसी अवधि-विशेष में कुल उत्पत्ति का मूल्य १०,००० करोड़ रुपया है श्रौर उसका विभाजन निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है।

अधिशेष	३,००० करोड़ रु०
मजदूरी निधि	५,००० करोड़ रु०
ब्याज श्रौर व्यय	२,००० करोड़ रु०
कुल	१०,००० करोड़ रु०

पूँजीपति उत्पादक ५,००० करोड़ रुपया मजदूरी-निधि के रूप में अलग रखता है। इसमें से अगले काम में मजदूरी दी जाएगी। यदि काम पर लगे हुए मजदूरों की संख्या १०० करोड़ है तो प्रत्येक मजदूर को ५० रु० मजदूरी मिलेगी। क्योंकि

$$\frac{\text{मजदूरी निधि}}{\text{मजदूरों की संख्या}} = \frac{\text{५,००० करोड़ रु०}}{\text{१०० करोड़}} = \text{५० रु०}$$

यदि इस काम में लगाए गए मजदूरों की संख्या बढ़कर १२५ करोड़ हो जाती है, तो प्रत्येक को ४० रु० मजदूरी मिलेगी और यदि मजदूरों की संख्या घट कर ५० करोड़ हो जाती है तो प्रत्येक को १०० रु० मजदूरी मिलेगी। इस प्रकार मजदूरी की दर मजदूरी-निधि और मजदूरों की संख्या पर आश्रित होगी। यदि मजदूरी निधि के समान रहते हुए काम में लगने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ जाती है तो मजदूरी कम हो जाएगी और मजदूरों की संख्या घटने पर घट जाएगी। इस सिद्धान्त में कई दोष हैं और यह बताने में असमर्थ है कि मजदूरी कैसे निर्धारित होती है और उसमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित हैं।

(१) मजदूरी निधि को निर्धारित करने का कोई सिद्धान्त नहीं है। यह पूँजीपति उत्पादक की मनमानी इच्छा पर आश्रित रहती है। फलस्वरूप इसमें अत्यधिक स्वेच्छता है और यह तर्क संगत नहीं बन पाती। पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि यदि यह मान लिया जाय कि मजदूरी निर्वाह-स्तर के बराबर होती है तो मजदूरी निधि पूँजीपति उत्पादक द्वारा माँगे हुए मजदूरों की संख्या और निर्वाह-स्तर के गुणनफल के बराबर होगी। पर इस बात को मानने का कोई कारण नहीं है कि मजदूरी निर्वाह-स्तर के बराबर ही होगी। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर उत्पादक मजदूरी निधि नियत कर सकें।

(२) यह सच है कि अन्य उत्पादन के साधनों के भुगतान की भाँति मजदूरी भी कार्यवाहक पूँजी से दी जाती है। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मजदूरी पिछले काम में रखी गई मजदूरी निधि में से ही दी जाय। कार्य वाहक पूँजी बैंक से उधार लेकर या चालू उत्पत्ति के विक्रयागम से भी मिल सकती है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि श्रम की मजदूरी 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों की मजदूरी निधि पर आश्रित रहेगी।

(३) मजदूरी निधि सिद्धान्त इस बात पर विचार नहीं करता कि मजदूरी मजदूरी की कुशलता पर आश्रित रहती है। पर मजदूरी और श्रम की कुशलता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। अधिक कुशल मजदूर होने पर अधिक और कम

कुशल होने पर कम मजदूरी मिलती है। फिर, मजदूरी की विभिन्नताएँ मजदूरों की कुशलता के अन्तरों के कारण होती हैं। मजदूरी निधि सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी कार्यवाहक जनसंख्या और मजदूरी निधि पर आश्रित रहती है। मजदूरों की कुशलता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि मजदूरों की कुशलता में वृद्धि हो जाय तो उत्पत्ति का मूल्य १०,००० करोड़ रुपये से बढ़कर १२,००० करोड़ रुपये हो जाएगा, पर ऐसा होने पर यह आवश्यक नहीं है कि मजदूरी निधि भी बढ़ जायगी। ऐसा लगता है कि श्रम की कुशलता में वृद्धि होने के कारण कुल उत्पत्ति में जो वृद्धि हुई है उसे पूँजीपति-उत्पादक खुद ले लेगा। पर यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से बिसंगत हैं।

निर्वाह-स्तर सिद्धान्त (subsistence theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी की वृत्ति हमेशा निर्वाह-स्तर पर रहने की होती है। यह स्पष्ट नहीं है कि निर्वाह स्तर का वास्तविक अर्थ क्या है। इसका अर्थ वह द्राव्यिक मजदूरी हो सकती है जिससे मजदूर जीवित रहने भर के लिए पर्याप्त खाद्यान्न खरीद सके या, विस्तृत अर्थों में, वह मजदूरी हो सकती है जिससे वह अपने परिवार को जीवित रख सके। यदि मजदूर सत्तू पर जिन्दा रह सके और उसकी कीमत १२ पैसे हो तो चार व्यक्तियों का परिवार होने पर मजदूरी ४८ पैसे होगी। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि मजदूरी निर्वाह स्तर से अधिक हो तो मजदूर अधिक बड़े परिवार को पालने में समर्थ होगा और उसके अधिक बच्चे हो जाएँगे। इसके फलस्वरूप दीर्घकाल में कार्यवाहक जनसंख्या इतनी बढ़ जाएगी कि मजदूरी फिर निर्वाह स्तर पर आ जायगी। यदि मजदूरी निर्वाह स्तर से कम है तो कुछ मजदूर अवश्य ही मर जाएँगे और इस प्रकार मजदूरों की संख्या में कमी होने के कारण मजदूरी निर्वाह स्तर के बराबर हो जायगी। मजदूरी को निर्वाह स्तर पर लाने की इस प्रक्रिया की अवश्यंभाविता के कारण इसे मजदूरी का 'लौह' नियम भी कहा जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि मजदूरी लोहे के ढाँचे में जकड़ी हुई है और इधर-उधर नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त में भी विविधि दोष हैं :

(१) इस बात को मानने के लिए कोई कारण नहीं है कि मजदूरी बढ़ने पर मजदूर, क्योंकि वह बड़े परिवार को पाल सकता है अधिक बच्चे पैदा करेगा। अधिक मजदूरी मिलने पर उसका रहन-सहन के स्तर को बढ़ाना अधिक स्वाभाविक होगा। मजदूरी बढ़ने पर उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति बच्चे पैदा करने के बदले उन आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की होगी जिन्हें वह पहले संतुष्ट नहीं कर

पाता था। अधिक बच्चे होना दूरवर्ती चीज है, पर आवश्यकताओं को संतुष्ट करना अविलम्बनीय है। और उपभोक्ता के चुनाव का सिद्धान्त बताता है कि अधिकतम संतुष्ट प्राप्त करने के लिए वह आवश्यकताओं को संतुष्ट करेगा। मजदूरों का रहन-सहन का स्तर उतना परिदृढ़ (rigid) नहीं होता जितना यह सिद्धान्त मानता है। वास्तव में पाश्चात्य देशों और भारत में भी मजदूरी बढ़ने की पहली प्रतिक्रिया रहन-सहन का स्तर बढ़ाना होती है, न कि परिवार बढ़ाना।

(२) यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो समान परिवार वाले मजदूरों की मजदूरी न्यूनाधिक बराबर होनी चाहिए। पर व्यवहार में हम पाते हैं कि अधिक कुशल मजदूरों की मजदूरी अधिक और कम कुशल मजदूरों की मजदूरी कम होती है। मजदूरियाँ श्रम की कुशलता से संबन्धित होती हैं, निर्वाह स्तर से नहीं।

(३) मजदूरी में परिवर्तन अल्पकालीन घटना है, पर जनसंख्या, विशेषतः कार्यवाहक जनसंख्या में दीर्घकालीन घटना है। यदि मजदूरी बढ़ती है तो श्रमिक वर्ग की जनसंख्या पर उसका प्रभाव पड़ने के लिए पर्याप्त समय तक उसे बढ़ी हुई रहना चाहिए। पर यदि मजदूरी कभी अधिक और कभी कम हो तो मजदूर कभी भी यह नहीं जान पाएगा कि जब उसका परिवार अधिक बड़ा होगा तब उसे अधिक मजदूरी मिलेगी या नहीं। अतएव इसका जनसंख्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि हम मान भी लें कि मजदूरी के बढ़ते ही मजदूर का परिवार बढ़ जाएगा, तब भी थोड़ी बहुत पूर्व दृष्टि वाला अशिक्षित एवं अकुशल मजदूर भी परिवार नहीं बढ़ाएगा।

अवशिष्ट अध्यर्थक सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)

यह कहा गया है कि मजदूरों को अन्य उत्पादन के साधनों का भुगतान करने के बाद शेष भाग मिलता है। एफ. ए. वॉकर ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल इकानॉमी' में इस को क्रमबद्ध रूप से कहा है। पर अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी इसका प्रतिपादन और समर्थन किया है। वॉकर के अनुसार :

"...श्रमिक वर्ग को सब उत्पादित वस्तु मिलती है, पर इसमें तीन कारणों से कटौती करनी पड़ती है...पहला, अधिशेष (rent) घटा दिया जाता है। निम्नतम प्रकार की भूमि पर कोई अधिशेष नहीं मिलता। अधिक उत्पादक भूमि पर अधिकतम अधिशेष, सीमान्त भूमि पर खेती करने की लागत का भुगतान कर देने के बाद, अतिरिक्त उपज के बराबर होता है। यह अधिशेष कृषि उत्पत्ति के मूल्य को प्रभावित नहीं करता और खेतिहर मजदूर के पारिश्रमिक में से नहीं दिया जाता। ...मजदूरी के प्रश्न पर विचार करने से पहले ही अधिशेष आ जाना

चाहिये। मजदूर किसी आर्थिक साधन द्वारा इसे या इसके किसी भाग को प्राप्त नहीं कर सकता। यह भूमिपति को अवश्य मिलना चाहिए......"

"दूसरे, उद्योग की उत्पत्ति में से पूँजी के उपयोग का पारिश्रमिक (remuneration) अवश्य घटा लिया जाना चाहिए। यह पारिश्रमिक इतना अवश्य होना चाहिए कि जिन लोगों ने धन का उत्पादन किया है वे वैयक्तिक आवश्यकताओं या रुचियों को तत्काल सन्तुष्ट न करके उसे बचाने को प्रेरित हों।"

"उद्योग की उत्पत्ति में से तीसरी और अन्तिम कटौती लाभ है जो साहसोद्यमी, नियोक्ता, व्यवसायी, उद्योगनायक, जो आधुनिक उत्पादन-तंत्र को चलाता है, का पारिश्रमिक है......"

"उद्योग की उत्पत्ति में से इन तीन हिस्सों को घटा देने के बाद बचा हुआ सारा धन, जो प्रत्येक दिन या प्रत्येक वर्ष सृजा जाता है, श्रमिक वर्ग की सम्पत्ति है......"

आजकल कोई व्यक्ति मजदूरी के शेषाधिकारी सिद्धान्त पर गम्भीरता से विश्वास नहीं करता। पर यह उन प्रारम्भिक सिद्धान्तों में है जिन्होंने श्रम की कुशलता और मजदूरी के संबंध पर जोर दिया। अन्य बातों के समान रहते हुए, यदि मजदूर अधिक कुशल हो जाते हैं और कुल उत्पत्ति बढ़ जाती है तो मजदूरों को मिलाने वाला अवशेष बढ़ जाएगा। इसका आशय यह है कि कुशलता में वृद्धि होने पर मजदूरी बढ़ जाएगी। पर यह सिद्धान्त उत्पादन के साधनों के मूल्य-निर्धारण की व्याख्या करने में सहायक सिद्ध नहीं होता क्योंकि (१) वास्तविक व्यवहार में लाभ ज्ञात होने से पहले ही मजदूरी दे दी जाती है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि मजदूरी एक अवशेष है। यदि किसी को अवशेष कहा जा सके तो लाभ को अवशेष कहना अधिक उचित होगा; (२) मजदूरी को अवशेष कहने के लिए हमारे पास एक निश्चित सिद्धान्त होना चाहिए जिसके आधार पर अधिशेप, ब्याज और लाभ का भुगतान किया जा सके। 'क्लासिकल' सिद्धान्त में अधिशेष के लिए तो एक स्वतंत्र सिद्धान्त है पर ब्याज और लाभ के लिए ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्याज और लाभ के स्वतंत्र सिद्धान्त के अभाव में मजदूरी, जो एक अवशेष है, नहीं जानी जा सकती।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

मजदूरी के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है और संस्थिति में मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। अन्य साधनों के भुगतान और प्रत्येक वस्तु के

मूल्य की भाँति मजदूरी भी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती है। यदि किसी समय विशेष में माँग के स्थिर रहते हुए पूर्ति बढ़ जाती है तो मजदूरी की दर गिर जाएगी। यदि पूर्ति के स्थिर रहते हुए माँग बढ़ जाती है तो मजदूरी की दर बढ़ जाएगी। यदि माँग और पूर्ति, दोनों, बदल रही हों तो मजदूरी की दर भी बदलती रहेगी और दर का गिरना या बढ़ना माँग और पूर्ति के सापेक्ष्य परिवर्तनों पर आश्रित रहेगा। माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित मजदूरी की दर, संस्थिति में, श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी। जब तक प्रवर्तमान मजदूरी-दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता से कम या अधिक रहेगी, तब तक श्रम की माँग और पूर्ति बदलती रहेगी। यदि किसी समय मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता से अधिक होती है, तो इस अन्तर का लाभ उठाने के लिए अधिक मजदूर अपनी सेवाओं को प्रस्तुत करेंगे और इस उपयोग-विशेष के लिए श्रम की पूर्ति बढ़ जाएगी, पर उसकी माँग घट जाएगी क्योंकि नियोक्ता सीमान्त उत्पादकता से अधिक देना नहीं चाहेंगे। दूसरी ओर, यदि किसी समय मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादकता से कम है तो श्रम पूर्ति गिर जाएगी और उसकी माँग बढ़ जाएगी। पर एक बार मजदूरी की दर और सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाने पर माँग और पूर्ति में परिवर्तन होना बन्द हो जाएगा क्योंकि माँग और पूर्ति में परिवर्तन करना न तो मजदूरों के और न ही नियोक्ताओं के हित में होगा। इस संबंध में निम्नलिखित मुख्य बातों को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है :

(क) इस कथन में कि मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है तथा मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होती है, कुछ भी असंगत नहीं है। कथन का पहला भाग सच है क्योंकि प्रत्येक क्षण में मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित की जाती है। कथन का दूसरा भाग भी सच है क्योंकि संस्थिति में मजदूरी सीमान्त उत्पादकता द्वारा इस अर्थ में निर्धारित की जाती है कि यदि ऐसा न हो तो संस्थिति नहीं होगी। जैसा हम पहले बता चुके हैं, यदि मजदूरी की दर सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होगी तो संस्थिति नहीं होगी और संस्थिति लाने के लिए माँग और पूर्ति में आवश्यक परिवर्तन हो जाएँगे।

(ख) वास्तविक व्यवहार में हो सकता है कि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से विचलित हो जाय पर जब तक यह दशा रहेगी, संस्थिति नहीं हो पाएगी। पर वास्तविक व्यवहार में सदैव संस्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति रहती है, अर्थात् मजदूरी की प्रवृत्ति सदा श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने की होती है।

(ग) सरलता के लिए हमने यह मान लिया है कि बाजार में सब मजदूर एक से हैं। केवल इस सरलीकृत स्थिति में हम बाजार की मजदूरी दर की बात कर सकते हैं। वास्तविक व्यवहार में विभिन्न प्रकार के मजदूर हो सकते हैं जिनकी कुशलता एवं अन्य दशाओं में विभिन्नता हो। इस स्थिति में जितने प्रकार के मजदूर होंगे उतनी मजदूरी-दरें होंगी और संस्थिति में प्रत्येक प्रकार के मजदूर की मजदूरी-दर उस प्रकार के मजदूर की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी। यदि प्रत्येक मजदूर अन्य से भिन्न भी हो तो मजदूरी के सिद्धान्त में केवल इसके कोई अन्तर नहीं पड़ेगा कि एक मजदूरी-दर पर विचार करने के स्थान में हम जितने मजदूर होंगे उतनी मजदूरी-दरों पर विचार करेंगे।

संस्थिति का वर्णन करते समय हमें न केवल श्रम-बाजार बल्कि वस्तु-बाजार पर भी विचार करना चाहिए। बाजार में प्रवर्तमान दशाओं के कारण मजदूरी निर्धारण में अन्तर हो जाता है। पूर्ण स्पर्धा में एक प्रकार से और अपूर्ण स्पर्धा तथा एकाधिकार में दूसरे प्रकार से मजदूरी निर्धारित की जाती है। हम तीन विभिन्न स्थितियों का अध्ययन कर सकते हैं: (१) जब श्रम बाजार में (जहाँ नियोक्ता मजदूरों का अवक्रयण करता है) पूर्ण प्रतियोगिता और वस्तु बाजार में (जहाँ मजदूरों द्वारा उत्पादित वस्तु बेची जाती है) भी पूर्ण प्रतियोगिता होती है; (२) जब श्रम-बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होती है, अर्थात् जब श्रम-बाजार पूर्ण होता है और वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता होती है, या इसका विपरीत होता है; (३) जब नियोक्ता दोनों बाजारों में एकाधिकारी होता है, अर्थात् जब वह वस्तु बाजार में एक विक्रेता (monopolist) और श्रम बाजार में एक क्रेता होता है। इस स्थिति में दोनों बाजार अपूर्ण हैं। इस स्थिति का विस्तृत वर्णन उच्च अध्ययन का विषय है और इस पुस्तक में इसका अध्ययन नहीं किया जाएगा।

पूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी. हम मान लेते हैं कि (१) वस्तु और श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है; (२) उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हैं, अर्थात् उत्पादक विभिन्न उत्पादन के प्राविधिक साधनों का जिस अनुपात में चाहे संयोजन कर सकता है। दूसरे शब्दों में, यन्त्रों और अन्य साधनों को स्थिर रखकर और केवल श्रम को इकाई से बढ़ा कर इच्छित उत्पादन करना संभव है; और (३) उत्पादक श्रम को एक इकाई से बढ़ाता है। क्योंकि हम श्रम पर एक उत्पादन के साधन के रूप में विचार कर रहे हैं, इसलिए हम यह मान लेते हैं कि सब मजदूर बिल्कुल एक से हैं। पर यदि हम केवल एक प्रकार के श्रम पर विचार करते हैं तो हम यन्त्रों और अन्य प्रकार के श्रम को स्थिर रखकर दिए हुए प्रकार के श्रम में एक इकाई वृद्धि करेंगे। मान लीजिए:

२५ यन्त्र + १०० मजदूर १०० इकाइयों का उत्पादन करते हैं
२५ यन्त्र + १०१ मजदूर १०६ इकाइयों का उत्पादन करते हैं

इस स्थिति में श्रम की सीमान्त उत्पादकता वस्तु की छः इकाइयाँ हैं और यदि वस्तु की प्रत्येक इकाई ३ रु० में बिकती है तो 'सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य' १८ रु० होगा। संस्थिति में प्रत्येक मजदूर को, जो एक दूसरे के सदृश है, १८ रु० मजदूरी मिलेगी। जैसा हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं, ये १८ रु० केवल श्रम की सीमान्त उत्पादकता है और इसमें से कच्चा माल, यन्त्र या अतिरिक्त पूँजी के ब्याज के लिए किसी भी प्रकार की कटौती नहीं करनी पड़ती। संस्थिति में प्रत्येक मजदूर को उसकी 'सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य' १८ रु०, पूरा मिलेगा। यदि उसे इतना नहीं मिलता तो वह दूसरे काम पर चला जाएगा। श्रम की गतिशीलता मजदूरी और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाती है।

इस तंत्र (mechanism) के कार्यकरण को समझने से पहले यह आवश्यक है कि हम स्पष्ट रूप से श्रम की गतिशीलता के अर्थ जानें। गतिशीलता के आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि मजदूर एक नगर से दूसरे नगर को आते-जाते हैं। गतिशीलता का अर्थ यह भी हो सकता है कि मजदूर एक ही नगर में एक कारखाने से दूसरे कारखाने चले जायँ या एक ही कारखाने में एक काम के बदले दूसरा काम करने लगें। गतिशीलता का वास्तविक अभिप्राय एक उपयोग से दूसरे उपयोग में जाना है। गतिशीलता के संबंध में दूसरी बात यह है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्पूर्ण श्रम-शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाएगी। बल्कि इसका अर्थ यह है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता और मजदूरी में समानता लाने के लिए एक गतिशील अंश (mobile fringe) अवश्य रहना चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि यदि कोई उत्पादक १०० मजदूरों को काम पर लगाता है और उन्हें सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य से कम मजदूरी देता है तो यह आवश्यक नहीं है कि सब के सब मजदूर काम छोड़कर चले जायँ। यदि पाँच-सात मजदूर भी (जिन्हें गतिशील कहा जाता है) काम छोड़कर चले जाते हैं तो श्रम की पूर्ति कम हो जाएगी और मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के स्तर पर आ जाएगी। दूसरी ओर, यदि मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो नियोक्ता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सब मजदूरों को निकाल दे। सीमान्त के कुछ मजदूरों को निकालने से ही सीमान्त उत्पादकता और मूल्य बराबर हो जाएँगे। गतिशील अंश की परिकल्पना अधिक यथार्थिक है। हो सकता है कि सम्पूर्ण श्रम-शक्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना संभव न हो पर यदि मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति से कम हो तो सीमान्त के मजदूरों के लिए इस प्रकार

चला जाना अवश्य ही संभव होगा। अन्ततः, हो सकता है कि आधुनिक औद्योगिक संगठन में सीमान्त उत्पादकता और मजदूरी को बराबर करने के लिए इस गतिशील अंश की भी आवश्यकता न पड़े क्योंकि श्रम संघ अपने सदस्यों को काम पर न जाने का आदेश मात्र देकर यही परिणाम प्राप्त कर सकते हैं। हो सकता है कि इसकी भी आवश्यकता न पड़े और हड़ताल का भय दिला कर ही इच्छित फल प्राप्त हो जाय।
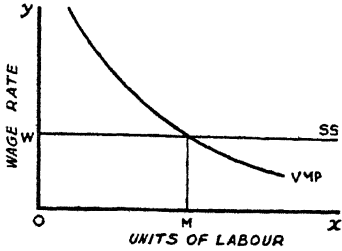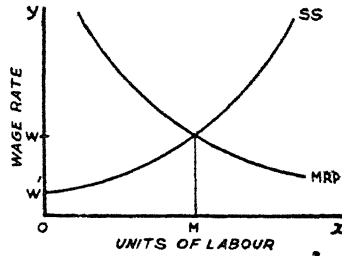
चित्र ५६ चित्र ५७

चित्र ५६ और ५७ में इस सिद्धान्त के कार्यकरण को दिखाया गया है। इन चित्रों में मूल्य और मजदूरियाँ y-axis पर और मजदूरों की संख्या x-axis पर दिखाई गई है। VMP वक्र श्रम का माँग वक्र है और उसकी सीमान्त का मूल्य दिखाता है। क्योंकि हमने मान लिया है कि वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है, श्रम उत्पादित वस्तुएँ एक ही मूल्य पर बिकती हैं और ह्रासमान प्रतिफल की दशाएँ हैं, इसलिए यह वक्र बाएँ से दाहिनी ओर नीचे को गिरता है। चित्र ५६ में केवल एक उत्पादक की स्थिति और चित्र ५७ में पूरे उद्योग की स्थिति दिखाई गई है। एक उत्पादक के लिए श्रम का पूर्ति वक्र अनुभूमिक सरल रेखा SS होगा। इसका अर्थ यह है कि कोई एक उत्पादक अपने कार्य से मजदूरी दर प्रभावित नहीं कर सकता। जहाँ तक उसका संबंध है उसके लिए मजदूरी दर दी हुई है। इस दी हुई दर पर वह अधिक या कम मजदूर काम पर लगा सकता है पर उसकी मजदूरों के लिए अपनी माँग बाजार की कुल माँग की तुलना में बहुत कम है और इसलिए वह मजदूरी-दर को प्रभावित नहीं कर सकता। संस्थिति में यह उत्पादक मजदूरी की प्रवर्तमान दर OW पर OM मजदूरों को नियुक्त करेगा और यह सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी। पर सम्पूर्ण उद्योग के लिए श्रम का पूर्ति वक्र SS चित्र ५७ की भाँति, बाएं से दाहिनी ओर ऊपर को उठेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिक मजदूरी मिलने पर ही अधिक मजदूर अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करेंगे। इस स्थिति में क्योंकि हम सब उत्पादकों की माँग पर

इकट्ठे ही विचार कर रहे हैं इसलिए मजदूरी बदल सकती है। यदि पूर्ति के समान रहते हुए श्रम की माँग बढ़ जाती है तो मजदूरी दर बढ़ जाएगी और यदि माँग के समान रहते हुए पूर्ति बढ़ जाती है, तो मजदूरी दर गिर जायगी। उद्योग की संस्थिति उस दशा मे होगी जब सब फर्मों में OM मजदूर काम पर लगाए जाएँगे और प्रत्येक को OW के बराबर मजदूरी मिलेगी।

माँग और पूर्ति के परिवर्तन श्रम की गतिशीलता द्वारा होते हैं और गमनागमन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक संस्थिति में पूरे उद्योग में केवल एक मजदूरी और मजदूरी-दर सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर नहीं हो जाती। यदि कुछ नियोक्ता पाते हैं कि मजदूरी-दर श्रम की सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो वे इन दोनो के बराबर होने तक कुछ मजदूर निकालते रहते हैं। यदि मजदूरी दर सीमान्त उत्पत्ति से कम है तो कुछ मजदूर काम छोड़ कर दूसरी जगह चले जायेंगे और मजदूरी दर सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो जाएगी। इस दो-तरफा समायोजन द्वारा, अर्थात् मजदूरों का एक उपयोग से दूसरे उपयोग को जाना और नियोक्ता का मजदूरो को निकालना, उद्योग संस्थिति प्राप्त कर लेगा। इस स्थिति में :

(१) मजदूरी दर सर्वत्र श्रम की सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होगा; और

(२) श्रम की सीमान्त उत्पादकता सर्वत्र समान होगी।

प्रो० एफ० एच० नाइट के शब्दो में : "उत्पादन-वितरण पद्धति प्रस्तावों और प्रतिप्रस्तावो से बनाई जाती है। ये प्रस्ताव और प्रति-प्रस्ताव दो प्रकार के पूर्वावधारणों (anticipations) के आधार पर किये जाते हैं। मजदूर उतना माँगता है जितना वह समझता है कि साहसोद्यमी देंगे, और वह किसी भी स्थिति में उस राशि से कम स्वीकार नही करेगा जो उसे कोई दूसरा साहसोद्यमी देता है या जिसका अर्जन वह स्वयं साहसोद्यमी होकर कर सकता है। इसी प्रकार एक साहसोद्यमी उतना ही देगा जितना उसे मजदूर की सेवा प्राप्त करने के लिये अवश्य देना चाहिये, और वह किसी भी स्थिति में यह सोचकर कि वह स्वयं मजदूर बन सकता है, उसके लिये मजदूर का जो वास्तविक मूल्य है उससे अधिक नही देगा ......क्योकि एक अबाध बाजार में किसी वस्तु का केवल एक मूल्य हो सकता है, इसलिये प्रतियोगी बोली बोलने के फलस्वरूप एक सामान्य मजदूरी दर अवश्य होनी चाहिये ......नियुक्ति के किसी मोल-भाव में भविष्य के बारे में किसी एक पक्ष का मत मजदूरी की दर निर्धारित नहीं करता। यह मत केवल अधिकतम और न्यूनतम सीमाएँ निश्चित करते हैं जिनके बाहर समझौता नहीं हो सकता। मूल्य-समायोजन-तंत्र यहाँ भी किसी अन्य बाजार की तरह है।

बाजार में सदा एक स्थापित एकसम दर होती है जो निरन्तर उस स्थान पर रखी जाती है जहाँ माँग और पूर्ति बराबर होते हैं। यदि किसी क्षण में स्थापित दर को स्वीकार करने वाले नियोक्ताओं की अपेक्षा अधिक ऊँची बोली बोलने वाले लोग उच्चतर दर पर काम देने के लिए तत्पर हैं तो मजदूरी दर तदनुसार बढ़ जायेगी और यदि इसका उलटा है तो, समरूपतः, मजदूरी दर घट जायेगी······ नियोक्ता को यह निश्चय करने में कि प्रचलित मजदूरी देनी चाहिए या नहीं, और मजदूर को यह निश्चय करने में कि इसे स्वीकार करना चाहिये या नहीं, इस बात का प्राक्कलन अवश्य कर लेना चाहिये कि श्रम की प्राविधिक या भौतिक रूप से मापित उत्पत्ति (जो उसका विशिष्ट अंशदान है) और इस उत्पत्ति को बाजार में रखने पर इसका आशंसित मूल्य क्या होगा।"

एकाधिकार में मजदूरी- हम यह देख चुके हैं कि जब वस्तु और श्रम बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता होती है तब मजदूरी-दर सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है। अब मान लीजिये कि वस्तु बाजार में अपूर्ण स्पर्धा होती है, पर श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता ही रहती है। इस स्थिति में जब वस्तु बाजार अपूर्ण है पर श्रम बाजार पूर्ण है, यदि हम मान लें कि सब मजदूर एक से हैं तो प्रत्येक मजदूर को एक ही मजदूरी मिलेगी, क्योंकि श्रम का पूर्ति वक्र अनुभूमिक सरल रेखा है। पर अब मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर न होकर सीमान्त आय उत्पत्ति (अर्थात् उत्पादित वस्तुओं की संख्या गुणा सीमान्त आय) के बराबर होगी। इसका कारण यह है कि वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में संस्थिति सीमान्त लागत और मूल्य के बराबर होने पर नहीं होगी बल्कि उस स्थान पर होगी जहाँ सीमान्त लागत और सीमान्त आय आपस में बराबर होती है।

जब बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होती है तब माँग वक्र अनुभूमिक सरल रेखा होती है और औसत आय एवं सीमान्त आय वक्र एक ही होते हैं। पर अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में प्रत्येक उत्पादक का औसत आय वक्र बाएँ से दाहिनी ओर नीचे को गिरता हुआ होता है और सीमान्त आय मूल्य से कम होती है (देखिए चित्र ५८)। उत्पादक वस्तु की अन्तिम, M, इकाई बेचकर MK प्राप्त करता है, MT नहीं। यहाँ MK सीमान्त आय और MT वस्तु के मूल्य के बराबर है जब वह OM इकाई बेचता है। अतएव इस अन्तिम इकाई का उत्पादन करने में प्रयुक्त साधनों को वह सीमान्त आय के बराबर दे सकता है। इस स्थिति में, जैसा चित्र ५९ में दिखाया गया है, OM मजदूरों को काम पर लगाया जाएगा और प्रत्येक मजदूर को OW के बराबर मजदूरी मिलेगी जो श्रम की सीमान्त

आय उत्पत्ति है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम बाजार के पूर्ण होते हुए भी मजदूरों को वस्तु बाजार की अपूर्णता के कारण कम मजदूरी मिलती है। यह बताता है कि मजदूरों का एकाधिकार में स्वभाविक अविश्वास क्यों होता है।
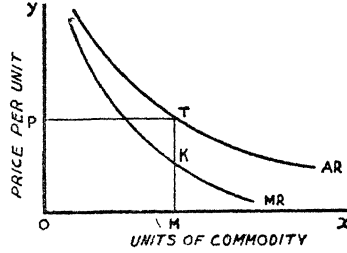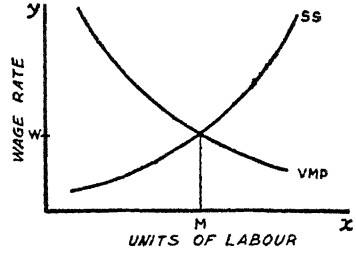
चित्र ५८ चित्र ५९

वस्तु बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकार होने पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता घट कर सीमान्त आय उत्पत्ति रह जाती है। यदि श्रम बाजार भी अपूर्ण हो जाता है और वस्तु का एकाधिकारी विक्रेता श्रम का एकाधिकारी क्रेता भी हो जाता है तो वह प्रत्येक मजदूर को 'सीमान्त आय उत्पत्ति' के बराबर भी नहीं देगा। कुछ मजदूरों को 'सीमान्त आय उत्पत्ति' से कम मिलेगा। यह कम मिलना उनकी मोल भाव करने की सापेक्ष्य शक्ति पर आश्रित रहेगा। जब तक श्रम बाजार में पूर्ण स्पर्धा थी प्रत्येक मजदूर को (जो एक से थे) एक ही मजदूरी मिल रही थी। यह मजदूरी सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर नहीं बल्कि सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर थी। पर जब श्रम बाजार में अपूर्ण स्पर्धा होती है तब प्रत्येक मजदूर से अलग-अलग व्यवहार किया जाता है और कुछ को उच्चतर मजदूरी जिसकी उच्चतम सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर है, और कुछ को निम्नतर मजदूरी जिसका निम्नतम निर्वाह-मजदूरी से कम नहीं हो सकता, मिलती है। मजदूरी के निर्वाह-स्तर से कम न होने का कारण यह है कि यदि ऐसा कुछ समय के लिए भी होता है तो मजदूर जीवित नहीं रह पायेंगे और नियोक्ता को उनकी सेवा नहीं मिलेगी। इसलिए, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रम और वस्तु बाजार में अपूर्ण स्पर्धा होने पर एक ही प्रकार के मजदूरों की मजदूरी में निर्वाह स्तर और सीमान्त आय उत्पत्ति के बीच परिवर्तन होगा। मजदूरी किस के निकट है यह मजदूरों की मोल भाव करने की शक्ति पर आश्रित रहेगा।

व्यवहारिक प्रयोग. मजदूरी का सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त कुछ दी हुई दशाओं में लागू होता है और यदि ये दशाएँ प्रवर्तमान हैं तो मजदूरी-दर आव-

श्यक रूप से सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर होगी। पर वास्तविक संसार में इन दशाओं का होना आवश्यक नहीं है और जितनी कम मात्रा में ये दशाएँ मिलती हैं उतनी ही मजदूरी की दर सीमान्त आय उत्पत्ति से विचलित होगी। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त गलत है। यह केवल इतना बताता है कि वास्तविकता में जो हम चाहते हैं या जिसकी आशंसा करते हैं वह सदैव नहीं होता। केवल संस्थिति में ही मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर और एक प्रकार से प्रत्येक मजदूरी के लिए समान होगी। यह वास्तविकता में आर्थिक संहति संस्थिति पर नहीं होती।

विश्लेषण की सुकरता के लिए हमने यह मान लिया था कि सब मजदूर पूर्णतः एक से हैं और इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सब मजदूरों के लिए केवल एक मजदूरी-दर प्रवर्तमान होगी। पर यदि विभिन्न प्रकार के श्रमिक हों जिनमें कुछ अधिक और कुछ कम दक्ष हों तो विभिन्न मजदूरी-दरें होंगी (प्रत्येक प्रकार के मजदूरों के लिए एक दर होगी)। पर संस्थिति में ये सब मजदूरी-दरें संबंधित श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित की जाएँगी। चरम स्थिति में, यदि प्रत्येक मजदूर विभिन्न हो तो जितने मजदूर होंगे उतनी मजदूरी-दरें होंगी। पर प्रत्येक स्थिति में, संस्थिति में, मजदूरी संबंधित मजदूरों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार श्रम और वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होने पर, संस्थिति में, एक ही प्रकार के प्रत्येक मजदूर की मजदूरी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी और प्रत्येक की मजदूरी एक ही होगी। पर वास्तविक व्यवहार में पूर्ण प्रतियोगिता की दशाएँ नहीं मिलती हैं; इसलिए हमें यह आशंसा नहीं करनी चाहिए कि वास्तव में एक प्रकार के मजदूरों की मजदूरी एक ही होगी। यदि एक प्रकार के मजदूरों में कुछ अधिक असहाय हैं क्योंकि वे दूसरी जगह नहीं जा सकते, या कोई दूसरी बाधा हो या नियोक्ता स्वार्थी है, तो हो सकता है कि उनकी मजदूरी उन्हीं के प्रकार के अन्य मजदूरों की मजदूरी से कम हो। वास्तविक व्यवहार में सब प्रकार के नियोक्ता होते हैं। अच्छे नियोक्ता अधिक मजदूरी देते हैं और बुरे नियोक्ता कम मजदूरी देते है।

एक अन्य ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि वास्तविक व्यवहार में हो सकता है कि एक ही प्रकार के मजदूर की सीमान्त उत्पादकता विभिन्न धन्धों में एक सी न रहे। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का यह निष्कर्ष कि मजदूर की मजदूरी सर्वत्र एक ही रहेगी इन परिकल्पनाओं पर आधारितहै कि सब नियोक्ता एक से हैं और एक ही प्रकार की दी हुई दशाओं के अन्तर्गत काम करते हैं। पर

वास्तविक व्यवहार में हो सकता है कि कुछ नियोक्ताओं के यन्त्र अन्य से अच्छे हों और कुछ का संगठन अन्य प्रतियोगियों के संगठन से उत्तम हो। चूँकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता न केवल मजदूर की दक्षता और स्वास्थ्य पर बल्कि यन्त्रों और कच्चे माल पर तथा औद्योगिक संगठन और प्रविधि की कुशलता पर भी आश्रित रहती है, इसलिए वास्तविक व्यवहार में एक ही मजदूर की विभिन्न धन्धों में सीमान्त उत्पादकता भिन्न-भिन्न होगी। सिद्धान्त में मजदूर को जिस स्थान में उसकी सीमान्त उत्पादकता कम है वहाँ से अधिक सीमान्त उत्पादकता वाले स्थान को चला जाना चाहिए, पर वास्तविक व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता क्योंकि या तो मजदूर उच्च सीमान्त उत्पादकता मिलने वाले वैकल्पिक स्थानों के बारे में नहीं जानता या वह आलसी और उदासीन होता है, या उसके पास गमनागमन के लिए आवश्यक साधन नहीं होते। बाजार में अपूर्णं लाने वाली इन अड़चनों के फलस्वरूप एक ही श्रमिक की विभिन्न जगहों में विभिन्न मजदूरी हो जाती है।

उच्च मजदूरी की मितव्ययिता. यद्यपि यह कहना बिलकुल ठीक है कि अन्य मूल्यों की भाँति मजदूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित की जाती है और संस्थिति में श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है, पर श्रम की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वह उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न होता है। "यह सोचना उचित प्रतीत होता है कि यह उत्पादन का साधन अन्य साधनों से दो मुख्य बातों में भिन्न है। प्रथमतः, साहसोद्यमियों से मजदूरी की माँग करने के लिए मजदूर प्रायः गुट्ट बनाते हुए पाए जाते हैं। दूसरे, कुछ सीमा तक वे यह चुनाव करने में स्वतन्त्र हैं कि वे किसी दिन काम करेंगे या नहीं, और यदि वे करते हैं तो कितनी देर तक। भूमि और पूँजी के लिए इस प्रकार चुनाव करने का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्जीव होने के कारण मशीनें और खेत गुट नहीं बना सकते और न ही वे थकने या बोर होने के कारण काम करने से इन्कार कर सकते हैं। मजदूर ऐसा कर सकते हैं और करते हैं।"

मजदूरों में सामूहिक मोल-भाव द्वारा मजदूरी बढ़वाने की क्षमता होती है। अर्थात् श्रम संघ मजदूरों की ओर से नियोक्ताओं के साथ मोल-भाव करते हैं और उन्हें उच्चतर मजदूरी देने के लिए बाध्य कर सकते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या मजदूरी इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता से अधिक की जा सकती है? क्या किसी विशेष प्रकार के मजदूर की मजदूरी स्थायी रूप से बढ़ाई जा सकती है? इन प्रश्नों का उत्तर देने में हम सर्वप्रथम पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पर विचार करेंगे। पूर्ण प्रतियोगिता में, संस्थिति में, एक ही प्रकार के मजदूरों की मजदूरी सर्वत्र एक सी होगी। तथापि यह संभव है कि "छोटी फर्म का कठोर-हृदय व्यव-

सायी अपने असंगठित मजदूरों की मजदूरी सामान्य स्तर से कम रखने में समर्थ हो। इस स्थिति में सामूहिक मोल-भाव (collective bargaining) द्वारा प्राप्त नई मजदूरी के कारण कुछ कम मजदूरी पाने वाले मजदूरों की दशा सुधर जाएगी……। वास्तव में यह समस्या स्पर्धा की अपूर्णता के कारण होती है, पर यह आभासी (apparent) प्रतियोगिता में भी मिल सकती है। सामूहिक मोल-भाव का प्रभाव यह पड़ेगा कि ऐसी आकस्मिक अपूर्णताओं का निराकरण हो जाएगा।" इस स्थिति में सामूहिक मोल-भाव के कारण सीमान्त उत्पादकता से कम मजदूरी पाने वाले मजदूरों की दशा सुधर जाएगी। पर सामूहिक मोल-भाव का उद्देश्य प्रायः मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता से अधिक करना होता है। यदि ऐसा किया जाता है और अन्य बातें समान रहती हैं तो मजदूरों में कुछ बेरोजगारी अवश्य होगी। इस सिद्धान्त का कार्यकरण निम्नलिखित उदाहरण से समझा जा सकता है :

	सीमान्त उत्पादकता (रुपये में)	मजदूरी-दर (रुपये में)
मशीन + १०० मजदूर	३०	३०
+ १०१ मजदूर	२८	
+ १०२ मजदूर	२५	
+ १०३ मजदूर	२२	२२

उपर्युक्त उदाहरण में जब दिए हुए यन्त्र और उत्पादन के साधनों के साथ १०३ मजदूरों को काम दिया जाता है, तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता २२ रु० है। इस अवस्था में मज़दूरी २२ रु० प्रति महीना हो तो सब ठीक होगा। पर यदि श्रम संघ सामूहिक मोल-भाव द्वारा मजदूरी को ३० रु० प्रति मास करने के लिए बाध्य कर देते हैं तो परिणाम बेरोजगार होगा। नियोक्ता के लिए १०० से अधिक मजदूरों को काम पर लगाना लाभदायक नहीं होगा क्योंकि इससे अधिक मजदूर नियुक्त करने पर सीमान्त उत्पादकता तो कम हो जाएगी, पर मजदूरी वही ३० रु० रहेगी। अतएव वह तीन मजदूरों को निकाल देगा जिससे उच्चतर मजदूरी (३० रु०) श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाएगी। यदि सब नियोक्ता ऐसा करें तो बेरोजगारी हो जाएगी। पर यदि मजदूरी के बढ़ने के साथ-साथ श्रम की सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य बढ़ जाय (अर्थात् जब १०३ मजदूर काम पर लगे थे और मजदूरी बढ़ा कर ३० रु० कर दी गई थी। तब श्रम की सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य भी ३० रु० हो जाय), तो बेरोजगारी नहीं होगी सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य तब बढ़ सकता है जब या तो (१) श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु का मूल्य बढ़

जाय, या (२) मजदूरों की कुशलता बढ़ जाय और १०३ मजदूर पहले से अधिक इकाइयों का उत्पादन करने लगें। मजदूरी-दर की यह वृद्धि स्थायी होगी या नहीं यह मजदूरी बढ़ जाने के बाद श्रम की कुशलता पर आश्रित होगा। यदि मजदूरी या वस्तुओं के मूल्य के बढ़ने के साथ मजदूरों की कुशलता में वृद्धि हो जाने, मशीनों और औद्योगिक संगठन के सुधर जाने आदि के कारण श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है तो परिवर्तन स्थायी होगा। पर यदि सीमान्त उत्पादकता नहीं बढ़ती तो हो सकता है कि वृद्धि अस्थायी रहे क्योंकि बेरोजगारी बढ़ती जाने के कारण श्रम की पूर्ति बढ़ जाएगी और फलस्वरूप मजदूरी दर फिर कम हो जाएगी।

श्रम संघों द्वारा मजदूरी बढ़ाने के लिए किए जाने वाले प्रयासों के बारे में महत्वपूर्ण बात यह देखना है कि इसका श्रम की सीमान्त उत्पादकता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यदि मजदूर अतिरिक्त द्रव्य का उपयोग अच्छे भोजन, अधिक अच्छे प्रशिक्षण और दक्षता प्राप्त करने में करते हैं और यदि वे अधिक परिश्रम करते हैं तो सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाएगी और उच्चतर मजदूरियाँ उचित होंगी। यदि मजदूरी न बढ़ाई गई होती तो मजदूरों के स्वास्थ्य और उनकी कुशलता में वृद्धि न हो पायी और मजदूरी स्थायी रूप से कम रहती। मजदूरियाँ कम रहती हैं क्योंकि श्रम कम कुशल है और श्रम के कम कुशल होने का कारण मजदूरी कम होना है। इस 'दुष्ट चक्र' को कहीं न कहीं तोड़ना पड़ता है और इसकी एक रीति है मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता से अधिक करना जो या तो सामूहिक मोल-भाव से या विधान (legislation) द्वारा किया जा सकता है। कुछ काल तक उत्पादकों को हानि उठानी पड़ेगी पर यदि श्रम की सीमान्त उत्पादकता अन्ततः बढ़ जाती है तो यह हानि बर्दाश्त करने योग्य है और मजदूरों की सामान्य दशा सुधर जाएगी। पर यह तभी सच है जब मजदूर अतिरिक्त मजदूरी का उपयोग रहन-सहन का स्तर बढ़ाने में और काम को अधिक कुशलता से करते हैं। नियोक्ता उच्चतर मजदूरी देता है और श्रम की कुशलता में वृद्धि हो जाने के कारण काम अधिक होता है। इसलिए दीर्घकाल में उसकी उत्पत्ति की प्रति इकाई लागत बढ़ती नहीं बल्कि कम हो जाती है। यह 'उच्च मजदूरी की मितव्ययिता' है पर यदि मजदूर वर्धित आय को उड़ा देते हैं या जान-बूझ कर धीरे काम करने की नीति अपनाते हैं तो उद्देश्य प्राप्त नहीं होगा।

अध्याय २५.

अधिशेष
(Rent)

भूमि के प्रयोग के लिए किया जाने वाला भुगतान अधिशेष है। प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा में अधिशेष शब्द का प्रयोग, मकान, मोटर कार तथा बाइसिकिल इत्यादि के किराये के रूप में किया जाता है। यद्यपि इनमें अधिशेष का कुछ अंश सम्मिलित हो सकता है परन्तु कुल भुगतान को हम अधिशेष नहीं कह सकते, जिस आशय में हम इसका प्रयोग अभी करेंगे। उस आशय में इसके सम्बन्ध में दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि तथा कथित जो लगान रैयत द्वारा जमींदार को दिया जाता है उसमें अधिशेष के अतिरिक्त ब्याज, मजदूरी, तथा अन्य वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं। इसलिए इस प्रकार के भुगतान को हम 'कुल लगान' कह सकते हैं। 'कुल लगान' में से (क) भूमि तथा मकान में विनियोजित पूँजी पर ब्याज तथा (ख) लगान एकत्रित करने तथा हिसाब रखने के लिए श्रम को दी गई मजदूरी को घटा देने से जो शेष बचेगा उसे हम अधिशेष ('economic' rent) कहते हैं।

रिकार्डो का सिद्धान्त

रिकार्डो के अनुसार अधिशेष जमीन की उर्वरता की मौलिक और अनश्वर शक्ति का भुगतान है। चूँकि उर्वरता की मौलिक और अनश्वर शक्ति ईश्वर-दत्त उपहार है तथा मानव जाति द्वारा इसकी पूर्ति घटाई या बढ़ाई नहीं जा सकती, इसलिए अधिशेष प्रकृति के निःशुल्क उपहार का भुगतान है। रिकार्डो द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के बाद जमीन को कृषियोग्य बनाने के लिए किए गए पूँजी-विनियोग के बारे में कठिनाई उठी। यदि जमीन के एक टुकड़े पर पूँजी का विनियोग किया जाता है, तो यह बताना असंभव हो जाता है कि उपज का कितना भाग ईश्वर-दत्त उर्वरता की मौलिक और अनश्वर शक्तियो के कारण पैदा होता है और कितना भाग मनुष्य द्वारा किए गए पूँजी विनियोग के कारण। मान लीजिए एक जंगल है। इसे कृषि योग्य बनाने के लिए मनुष्य को पेड़ काटने पड़ेंगे, और जमीन में उगी घास, झाड़ियाँ आदि साफ करनी होगी। अब मान लीजिए कि जमीन से होने वाली मासिक उपज ५० रु० है। यह बताना संभव नहीं है कि ५० रु० का कितना भाग उर्वरता की मौलिक शक्तियों के कारण

है और कितना पेड़ आदि काटने और साफ करने में लगी हुई पूँजी के कारण। बाद में यदि इस जमीन पर कुछ मकान बनाए जाते हैं और खेती करने के लिए हल-बैल का प्रयोग किया जाता है, तो हो सकता है कि यह बताना संभव हो कि इन कार्यों के लिए प्रत्येक साधन के लिए अलग अलग कितना दिया गया, पर जमीन को कृषि योग्य बनाने के लिए किए गए पूँजी के प्रारम्भिक विनियोग को अलग करना संभव नहीं है। इस कठिनाई को सुलझाने के लिए 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने मध्यमार्ग अपनाया। वे इस बात पर सहमत हो गए कि जमीन पर एक बार और हमेशा के लिए किया गया पूँजी विनियोग को, जिसके संधारण की आवश्यकता नहीं पड़ती, ईश्वर दत्त मौलिक उर्वरता का अविच्छिन्न अंग समझना चाहिए। पर यदि पूँजी विनियोग का अवमूल्यन (depreciation) होता हो और उसके संधारण की आवश्यकता पड़ती हो—जैसे इमारतें, नलकूप, पशु, हल आदि—तो उसके लिए किया गया भुगतान ब्याज सदृश है और 'आर्थिक' अधिशेष ('economic' rent) को निकालने के लिए इसे कुल अधिशेष (gross rent) में से घटा लेना पड़ेगा। पर जहाँ तक प्रारम्भिक विनियोग का प्रश्न है, वह जमीन का अविच्छिन्न अंग है और उसका भुगतान अधिशेष है। इस प्रकार कठिनाई का समाधान किया गया। दूसरी समस्या उस जमीन के बारे में उठती है जिस पर नहरें, इमारतें या हवाई अड्डे बनाए जाते हैं। इनको बनाने में उर्वरता की 'मौलिक और अनश्वर शक्तियों' का उपयोग नहीं किया जाता, पर अधिशेष इसके लिए भी देना पड़ता है। यही बात खानों और खदानों पर भी लागू होती है। परिणामतः अधिशेष के संबोध को विस्तृत कर दिया गया और यह माना जाने लगा कि अधिशेष न केवल जमीन की मौलिक उर्वरता के बल्कि उसकी 'स्थिति' या स्थान के भी कारण होता है। मकानों, नहरों और हवाई अड्डों के लिए अधिशेष दिए जाने का कारण यह है कि वे किसी विशेष स्थान में जमीन की स्थिति का उपयोग करते हैं।

इसलिए जिस भूमि के लिए अधिशेष दिया जाता है उसमें न केवल मिट्टी की उर्वरता की मौलिक शक्तियाँ बल्कि हवा, पानी, धूप आदि भी सम्मिलित हैं। संक्षेप में, प्रकृति के वे सभी निःशुल्क उपहार भूमि हैं जो उत्पादन में सहायता प्रदान करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि उर्वरता की मौलिक-शक्तियों या भूमि की स्थिति के कारण उत्पन्न होने वाला अधिशेष किस प्रकार निर्धारित किया जाएगा। रिकार्डो के उदाहरण के अनुसार जमीन पर नए बसने वाले लोग सबसे पहले सर्वोत्तम भूमि पर आधिपत्य करते हैं और फिर उससे हीन भूमि पर। ऐसा तब तक करते रहते हैं,

जब तक वे ऐसी भूमि पर नहीं पहुँच जाते जिसमें मौलिक उर्वरता नहीं होती इसलिए अधिशेष नहीं मिलता। दूसरे शब्दों में, विस्तृत खेती की सीमा वह भूमि है जिसकी उपज उस पर किए गए विनियोग के बराबर होती है और जो अतिरेक का उत्पादन नहीं करती। समालोचकों ने रिकार्डो के इस उदाहरण को, जिसके अनुसार पहले सबसे अच्छी और बाद में हीन भूमि का उपयोग किया जाता है, अत्यधिक महत्व दिया है। पर यदि हम इस उदाहरण पर गौर करें तो हम देखेंगे कि इसका उद्देश्य केवल निर्देशन करना है। रिकार्डो की वास्तविक देन "सीमान्त भूमि" का संबोध है। सीमान्त भूमि वह भूमि है जिसमें उर्वरता की मौलिक शक्तियाँ नहीं होतीं और इसलिए जिसकी उपज उस पर किए गए विनियोग के ठीक बराबर होती है। इस सीमान्त भूमि की सहायता से ही हम यह जान सकते हैं कि अधिक अच्छी भूमि की उर्वरता कितनी है।

चित्र ६० में A, B, C, D और E भूमि के पाँच बराबर टुकड़े हैं और प्रत्येक पर १०० रु० के बराबर विनियोग किया जाता है। भूमि A की उपज ३५० रु०, B की ३०० रु०, C की २०० रु०, D की १५० रु० और E की १०० रु० है। भूमि E इस अर्थ में सीमान्त भूमि है कि इसमें उर्वरता की मौलिक शक्तियाँ नहीं हैं और इसकी उपज इस पर किए विनियोग, अर्थात् १०० रु०, के बराबर है। भूमि के अन्य अच्छे टुकड़ों से अधिशेष प्राप्त होता है जो चित्र में रेखित क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है। भूमि A का अधिशेष २५० रु०, B का २०० रु०, C का १०० रु० और D का ५० रु० है। अधिशेष एक अन्तरजन्य अतिरेक (differential surplus) है, अर्थात् वह अच्छी भूमि और सीमान्त भूमि की उपजों का अन्तर है। यदि हम सीमान्त भूमि न जाने होते, तो श्रेष्ठ भूमि का अन्तरजन्य अतिरेक जानना संभव न होता। यह उल्लेखनीय है कि सीमान्त भूमि सबसे कम कुशल भूमि नहीं है क्योंकि इससे भी कम कुशल भूमि होती है। पर इनमें खेती नहीं की जाती क्योंकि इनकी उपज इन पर किए गए विनियोग से भी कम होती। अधिशेष के निर्धारण में सीमान्त भूमि का विशेष महत्व है। यदि सीमान्त भूमि न हो या हम उसे न पा सकें, तो अन्तरजन्य अतिरेक की और इसलिए अधिक उपजाऊ भूमि के अधिशेष की गणना करना संभव नहीं है।
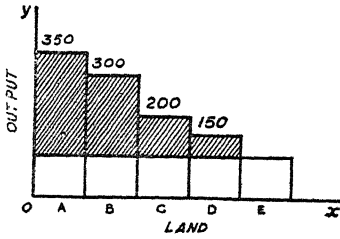
चित्र ६०

समालोचना. रिकार्डो के अधिशेष सिद्धान्त की कई समालोचनाएँ की गई हैं, पर अधिकांश समालोचनाएँ ऊपरी हैं और सिद्धान्त को अमान्य नहीं करतीं। कुछ सत ही आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(क) भूमि में उर्वरता की मौलिक शक्तियाँ उस पर किए गए पूँजी-विनियोग से अलग विद्यमान नहीं होतीं इसलिए, उससे अभिन्न हैं। जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, इस कठिनाई का समाधान यह स्पष्ट करके कर दिया गया है कि एक बार और सदा के लिए किया गया पूँजी-विनियोग मौलिक उर्वरता का भाग हो जाता है और उसे ईश्वर-दत्त उपहार समझना चाहिए। जिस पूँजी-विनियोग के संधारण करने की आवश्यकता पड़ती है, केवल उसी को उर्वरता की मौलिक शक्तियों से अलग करना चाहिए। मान लीजिए कि भूमि का एक टुकड़ा है जिसकी उर्वरता निरन्तर खेती करने से समाप्त हो गई है और इसे कृषि-योग्य बनाने के लिए उर्वरक और खाद डालनी पड़ती है। उर्वरक और खाद पर किए गए पूँजी विनियोग का भुगतान ब्याज होगा। सिद्धान्तः, मौलिक उर्वरता और उर्वरक एवं खाद के प्रयोग के कारण हुई उपजों में भेद करना सर्वथा संभव है।

(ख) कुछ समालोचकों के अनुसार रिकार्डो की ऐतिहासिक नेत्र दशा (historical perspective) गलत है। उनके अनुसार नए लोग आवश्यक रूप से सबसे पहले सर्वाधिक उपजाऊ भूमि पर आधिपत्य नहीं करते। वे उस भूमि पर खेती करते हैं जो उनके लिए सबसे सुकर हो—चाहे वह कम उपजाऊ हो या अधिक। जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, वास्तविक बात (issue) यह नहीं है कि नए लोग कहाँ बसते हैं। यह उदाहरण मात्र है जिसका उपयोग रिकार्डो ने सिद्धान्त का निदर्शन करने के लिए किया था। उसके सिद्धान्त के लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि लोग सबसे उपजाऊ भूमि पर बसते हैं या सबसे खराब पर। वास्तविक बात तो सीमान्त भूमि का संबोध है, जिसका आविष्कार रिकार्डो ने इस उदाहरण की सहायता से किया था। चाहे लोग पहले सर्वोत्तम भूमि पर खेती करें या सर्व-निकृष्ट भूमि पर, सीमान्त भूमि सदैव रहेगी और इससे अधिक उपजाऊ भूमि अन्तरजन्य अतिरेक (differential surplus) का, जिसे अधिशेष कहते हैं, उत्पादन करेगी।

(ग) एक अन्य समालोचना यह है कि मनुष्य केवल मिट्टी की उर्वरता की मौलिक और अनश्वर शक्तियों का ही नहीं बल्कि उसकी स्थिति का और उसमें की खानों और खदानों का भी उपयोग करता है। परन्तु रिकार्डो ने केवल पहले पर बल दिया है, इसलिए उसका सिद्धान्त अपूर्ण है। परन्तु यह समालोचना

भी मान्य नहीं हो सकती क्योंकि 'क्लासिकल' अर्थशास्त्री यह जानते थे कि इनके बदले भी अधिशेष मिल सकता है।

इनके अतिरिक्त रिकार्डो के सिद्धान्त की कई गंभीर समालोचनाएँ हैं जो उसकी उपयोगिता को बहुत कुछ कम कर देती हैं:—

(१) इस प्रकार की एक आलोचना यह है कि भूमि, श्रम, पूँजी आदि में कोइ मूलभूत भेद नहीं है और यदि अधिशेष एक 'अन्तरजन्य अतिरेक' है तो मजदूरी, ब्याज और लाभ को भी अन्तरजन्य अतिरेक क्यों न कहा जाय। दूसरे शब्दों में, समालोचना यह है कि रिकार्डो ने भूमि को अन्य उत्पादन के साधनों से आधारभूत रूप में भिन्न माना था और जब अन्य को अन्तरजन्य अतिरेक नहीं मिलता, भूमि को मिलता है। वितरण का आधुनिक सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। जैसा हम देख चुके हैं, रिकार्डो ने सीमान्त भूमि के संबोध का आविष्कार कर लिया था। यदि वह एक पग भी आगे बढ़ता और इस सीमान्त भूमि की उत्पादकता पर विचार करता, तो उसने सीमान्त उत्पादकता के आधुनिक सिद्धान्त को खोज लिया होता। पर ऐसा न करके उसने अधिशेष को अन्तरजन्य अतिरेक समझा। फिर भी हमें उसे सीमान्त भूमि के संबोध पर पहुँचने का श्रेय देना ही चाहिए। सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त मिट्टी और उर्वरता के अर्थ में भूमि पर उतना ही लागू होता है, जितना श्रम, पूँजी आदि पर।

(२) रिकार्डो के सिद्धान्त की दूसरी गंभीर समालोचना यह है कि वह सीमान्त भूमि में मौलिक उर्वरता नहीं मानता। वास्तव में, भूमि का प्रत्येक टुकड़ा सहजतः उपजाऊ होता है अर्थात् उसमें ईश्वर-दत्त उर्वरता की अनश्वर और मौलिक शक्तियाँ होती हैं। उर्वरता से पूर्णतः वंचित भूमि के बारे में सोचना संभव नहीं है। यदि बराबर विनियोग करने पर भूमि के एक टुकड़े की उपज दूसरे से कम है, तो इससे केवल यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक टुकड़ा दूसरे से अधिक उपजाऊ है। परन्तु इसके ये अर्थ नहीं हैं कि, उपर्युक्त उदाहरण में, भूमि के टुकड़े E में, जिसकी उपज उस पर किए गए विनियोग के बराबर है, मौलिक उर्वरता नहीं है। यदि अनाज का मूल्य बढ़ जाए, तो इस टुकड़े की उपज १०० रु० से अधिक हो जाएगी और अन्य टुकड़ों की भाँति इससे भी अतिरेक मिलेगा। रिकार्डो के अनुसार इसका तात्पर्य यह होगा कि अनाज का मूल्य बढ़ जाने पर भूमि E सीमान्त भूमि नहीं रहेगी पर दूसरी भूमि F, जो पहले अधः सीमान्त भूमि (infra-marginal land) थी अर्थात् सीमान्त भूमि से कम उपजाऊ थी, अब सीमान्त भूमि हो जाएगी। इससे

यह सिद्ध होता है कि सीमान्त भूमि वह नहीं है जिसमें मौलिक उर्वरता नहीं होती बल्कि वह प्रवर्तमान बाजार-मूल्य द्वारा निर्धारित की जाती है। इससे रिकार्डो का सिद्धान्त अमान्य हो जाता है क्योंकि अधिक उपजाऊ भूमि का अन्तरजन्य अतिरेक जानने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पास उर्वरता-हीन भूमि का टुकड़ा हो, अन्यथा इन दोनों के अन्तर की गणना करना संभव नहीं होगा। सबसे कम फलप्रद भूमि पर विचार करने से भी काम नहीं चलेगा क्योंकि वह भी कुछ न कुछ उर्वर तो होगी ही। अन्तरजन्य अतिरेक ज्ञात करने के लिए किसी भी प्रकार की मौलिक उर्वरता न रखने वाली सीमान्त भूमि अवश्य होनी चाहिए। सीमान्त भूमि के, जो सबसे कम फलप्रद भूमि से बिल्कुल भिन्न है, अभाव में रिकार्डो के सिद्धान्त का आधारभूत अन्तरजन्य अतिरेक मालूम नहीं हो पाएगा। जहाँ तक अन्तरजन्य अतिरेक का प्रश्न है, उसके मिलने का कारण यह है कि अधिक अच्छे संगठन और किसानों द्वारा उपलब्ध साधनों के अधिक अच्छे उपयोग के कारण कुछ भूमि की उपज अन्य से अधिक होती है, और विभिन्न भूमि की उपजों का यह अन्तर विभिन्न किसानों की संगठन करने की योग्यताओं के अन्तर को बताता है। पर यदि हम यह मान भी लें कि सब भूमि के टुकड़ों पर एक से संगठन और एक से संसाधनों का उपयोग किया जाता है और उपजों की भिन्नता भूमि की उर्वरता की भिन्नता को बताती है, तो इससे हम केवल यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कुछ भूमि अधिक उपजाऊ है और कुछ कम। पर इससे हम अन्तरजन्य अतिरेक नहीं निकाल सकते। इससे रिकार्डो के अधिशेष सिद्धान्त का खंडन हो जाता है।

यदि हम विस्तीर्ण खेती (extensive cultivation) के स्थान पर गहन खेती (intensive cultivation) पर विचार करें, तब भी इस कठिनाई का समाधान नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि हम भूमि के दिए हुए टुकड़े पर श्रम और पूँजी की बराबर इकाइयों का विनियोग करते जाते हैं, तो प्रारम्भिक इकाइयों से प्राप्त होने वाली आय उन पर किए गए विनियोग से अधिक होगी। परन्तु जैसे-जैसे हम श्रम और पूँजी की अधिकाधिक इकाइयों का विनियोग करते चले जाते हैं, तो सीमान्त 'मात्रा' (dose) से प्राप्त होने वाली उपज उस पर किए विनियोग के ठीक बराबर होगी। ऐसी स्थिति में, सीमान्त मात्रा के अतिरिक्त अन्य इकाइयों को प्राप्त होने वाला अतिरेक अधिशेष है। ऐसा कहने से पहले हमें मान लेना पड़ता है कि सीमान्त इकाई विनियोग तब किया गया जब भूमि में कोई मौलिक उर्वरता नहीं रही थी। परन्तु इसे मानने का कोई कारण नहीं है। विस्तीर्ण खेती की भाँति गहन खेती में भी अन्तरजन्य

अतिरेक को, जिसे अधिशेष कहा जाता है, जानने के लिए ऐसी भूमि का टुकड़ा होना चाहिए जिसमें कोई मौलिक उर्वरता नहीं होती या हमें उस अवस्था पर पहुँच जाना चाहिए जहाँ मौलिक उर्वरता शेष नहीं रहती। चूँकि यह संभव नहीं है, इसलिए गहन खेती की स्थिति में भी रिकार्डो का सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है।

आधुनिक सिद्धान्त

यदि हम इस बात की परीक्षा करें कि 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों को अधिशेष के एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों पड़ी, तो हम समस्या को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। उनके अनुसार भूमि श्रम और पूँजी से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि (१) भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है और इसलिए उसकी पूर्ति मनुष्य की इच्छा के अनुसार घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती, पर पूँजी और श्रम मनुष्य निर्मित हैं और मनुष्य उनकी पूर्ति घटा-बढ़ा सकता है। दूसरे शब्दों में, इसे यों कहा जा सकता है कि जबकि पूँजी और श्रम के लिए त्याग करना पड़ता है, भूमि के लिए, जो ईश्वर का निःशुल्क उपहार है, कोई त्याग नहीं करना पड़ता, और (२) पूँजी और श्रम गतिशील हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं, पर भूमि स्थिर और गतिशील नहीं है। भूमि का गतिशील न होना उसे श्रम और पूँजी से भिन्न वर्ग में रख देता है। इन दो मुख्य भेदों के कारण 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने भूमि को एक अलग वर्ग में रखा और इसका भुगतान निर्धारित करने का अलग सिद्धान्त बनाया।

पर यदि हम विषय पर सावधानी से विचार करें तो हम पाते हैं कि उत्पादन के साधन के रूप में भूमि, श्रम और पूँजी में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ भिन्नताएँ है—जैसे, श्रम एक जीवित साधन है और भूमि एवं पूँजी निर्जीव साधन हैं तथा जिस रूप में ये साधन मिलते हैं उसमें भी अन्तर है। समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से ये भिन्नताएँ उपयोगी हैं, पर जहाँ तक अर्थशास्त्र के शुद्ध सिद्धान्त का संबंध है, भूमि, श्रम और पूँजी, उत्पादन के साधन के रूप में एक से हैं, और उनमें कोई मूलभूत भिन्नता नहीं है।

सबसे पहले हम 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के इस मत पर विचार करेंगे कि भूमि ईश्वर दत्त उपहार है और उसकी पूर्ति स्थिर है, पर श्रम और पूँजी ऐसे नहीं हैं। यदि हम अन्त्य दीर्घकालीन दृष्टिकोण से विचार करते हैं, तो हम पाते हैं कि पूँजी और श्रम की पूर्ति ईश्वर के नियन्त्रण में उतनी ही है जितनी भूमि की पूर्ति। अन्त्य विश्लेषण में मजदूरों की संख्या या पूँजी की पूर्ति या श्रम की पूर्ति

बिना ईश्वर की इच्छा के एक अल्प इकाई से भी नहीं बढ़ाई जा सकती क्योंकि उसका सब पदार्थों पर अन्तिम नियंत्रण है। इसलिए अन्त्य दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भूमि और श्रम एवं पूँजी में कोई संभव भिन्नता नहीं हो सकती। यदि हम अल्पकालीन दृष्टिकोण से देखें तो किसी उपयोग-विशेष के लिए प्रत्येक साधन (भूमि, पूँजी और श्रम) की पूर्ति मनुष्य की इच्छा के अनुसार बढ़ाई जा सकती है। जब हम श्रम की पूर्ति बढ़ाने के बारे में सोचते हैं तो हम पूर्ति को किसी विशेष उपयोग से—जैसे फैक्टरी या खेत मे—संबंधित करके देखते हैं। समरूपत:, किसी विशेष उपयोग के लिए, जैसे गेहूँ की खेती करने के लिए, भूमि मनुष्य की इच्छा के अनुसार बढ़ाई जा सकती है। हमें उसे दूसरे उपयोगों से हटाकर इस उपयोग में रख देना पड़ेगा। इसी प्रकार, यदि मकान बनाने के लिए भूमि की आवश्यकता हो, तो कृषि-भूमि पर मकान बनाए जा सकते हैं, और इस उपयोग विशेष के लिए भूमि की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। अल्पकाल में, समुद्र और रेगिस्तानो से भी कृषि योग्य भूमि प्राप्त की गई है। कई मंजिल के मकान बनाकर निर्माण स्थान की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ तक भूमि, श्रम और पूँजी की पूर्ति का प्रश्न है, इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। हमे भूमि की पूर्ति पर दीर्घकालीन दृष्टिकोण से (जब उसकी पूर्ति स्थिर है) और श्रम एवं पूँजी की पूर्ति पर अल्पकालीन दृष्टिकोण से (जब वह घटाई बढ़ाई जा सकती है) विचार नहीं करना चाहिए। सब साधनों की पूर्ति की दशाओं की तुलना करने के लिए हमें एक ही काल—चाहे वह अल्प हो या दीर्घ—लेना चाहिये। यदि हम एक साधन के लिए अल्पकाल और दूसरे के लिए दीर्घकाल लेते हैं, तो भेद प्रकट होगा ही।

अब हम गतिशीलता पर विचार करेंगे। गतिशीलता का अर्थ हाथ पैर हिलाना, जो केवल मजदूर कर सकते हैं, नहीं है और न ही आवश्यक रूप से यह है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को जाएँ। इसका अर्थ एक उपयोग से दूसरे उपयोग को जाना है, अर्थात् साधन के कई उपयोग होने चाहिए। गतिशीलता का महत्व होने का कारण यह है कि यदि उत्पादन के साधन को एक उपयोग में देय भुगतान (due payment) नहीं किया जाता, अर्थात् यदि उसे उसकी सीमान्त उपयोगिता के अनुसार नहीं मिलता, तो वह दूसरे उपयोग में चला जाएगा और ऐसा करके सीमान्त उत्पादकता के बराबर प्रतिफल पाने लगेगा। यह बात भूमि के बारे में भी सच है। यदि गेहूँ की खेती करने पर भूमि की सीमान्त उत्पादकता के बराबर प्रतिफल नहीं मिलता है, तो भूमि का उपयोग गन्ने या किसी अन्य खेती के लिए किया जाएगा। इस प्रकार भूमि उतनी ही गतिशील है जितना श्रम और पूँजी।

'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि अन्य साधनों से इस बात में भी भिन्न है कि भूमि का कोई त्याग नहीं होता, जबकि श्रम और पूँजी के लिए त्याग करना पड़ता है। आधुनिक अर्थशास्त्र में पीड़ा और त्याग वाला सम्पूर्ण उपगमन (approach) छोड़ दिया गया है और आजकल हम घटनाओं पर व्यक्ति-निरपेक्ष रूप से विचार करते हैं। इसको छोड़ने का एक कारण यह है कि हम यह नहीं कह सकते हैं कि सब कार्य पीड़ा और त्याग से अन्तर्ग्रस्त हैं। कुछ कार्य, जैसे अध्यापन, गायन, चित्रण आदि, काफी सुखदायक हो सकते हैं, पर इनके लिए भी भुगतान किया जाता है। इनको करने में पीड़ा नहीं होती, इसलिए त्याग का प्रश्न नहीं उठता। तथापि, पूँजी और श्रम का त्याग तभी अर्थपूर्ण हो सकता है जब उनके भुगतान इस त्याग के अनुपात में हों, पर सदा ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, कुलियों, खनिकों और मेहतरों को उनके काम के त्याग की तुलना में बहुत कम मिलता है, जबकि सिनेमा अभिनेत्रियों, व्यवसाय के उच्च कर्मचारियों और जनाधिकारियों को कम त्याग करना पड़ता है, पर कहीं अधिक भुगतान किया जाता है। इसलिए त्याग (पीड़ा के अर्थ में) के आधार पर विभिन्न साधनों में भेद करना सही नहीं है। आजकल त्याग का पूर्णतः वस्तु-निष्ठ अर्थ लिया जाता है। कुली के द्वारा किया गया त्याग काम करने की पीड़ा नहीं है बल्कि विकल्प का त्याग है। यदि वह कुली का काम न करता तो वह कोई दूसरा काम करता। कुली के द्वारा किया गया त्याग इस दूसरे काम को छोड़ना है तथा मजदूरी इसके द्वारा ही निर्धारित होती है। एक अभिनेता संभवतः एक महान् गायक या नर्तक बनने का त्याग कर रहा है और उसका भुगतान इसके द्वारा निर्धारित होगा। यदि किसी खेत में गेहूँ बोया जाता है तो उसका त्याग गन्ना न बोया जाना है। इस प्रकार वास्तविक लागत के आधुनिक सिद्धान्त—जिसे अवसर लागत का सिद्धान्त कहा जाता है—के अनुसार जहाँ तक त्याग का संबंध है भूमि, श्रम और पूँजी में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जहाँ तक शुद्ध आर्थिक सिद्धान्त का संबंध है, सब उत्पादन के साधन सब दृष्टिकोणों से सर्वथा एक से हैं और उनमें कोई अन्तर नहीं है।

आधुनिक सिद्धान्त का आधार. आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार सब उत्पादन के साधन एक से हैं और उनमें कोई आधारभूत भेद नहीं है; पर जहाँ तक उनकी गतिशीलता का संबंध है, उनके गुणों में अन्तर हो सकता है। किसी उत्पादन के साधन का भुगतान उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने के लिए यह आवश्यक है कि वह पूर्णतः गतिशील होना चाहिए। यदि उसे सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं मिलता है तो वह एक वैकल्पिक उपयोग में

चला जाएगा। इस प्रकार वह सीमान्त उत्पादकता के बराबर प्रतिफल प्राप्त कर लेगा। पर यदि कोई साधन पूर्णतः गतिशील नहीं है तो हो सकता है कि उसे उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम भुगतान किया जाय। यदि हम इस विश्लेषण का तर्क सम्मत निष्कर्ष निकालें तो हम पाते हैं कि समय के किसी क्षण में उत्पादन के कुछ साधन इस अर्थ में पूर्णतः गतिशील होते हैं कि तत्समय (for the time being) उनका केवल एक उपयोग हो सकता है; जबकि हो सकता है कि कुछ साधन इस अर्थ में पूर्णतः गतिशील हों कि उनको शीघ्रतापूर्वक एक उपयोग से हटाकर दूसरे में लगाया जा सकता है। इसी तथ्य के आधार पर आस्ट्रीय अर्थशास्त्री वॉन वीजर ने उत्पादन के साधनों को दो वर्गों में बाँटा : (१) पूर्णतः विशिष्ट और (२) पूर्णतः अविशिष्ट। पूर्णतः विशिष्ट साधन वे हैं जिनका एक समय में केवल एक उपयोग किया जा सकता है; जबकि पूर्णतः अविशिष्ट साधन वे हैं जिनके एक साथ ही कई उपयोग किए जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यदि पूर्णतः अविशिष्ट साधनों का उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर भुगतान न किया जाय तो वे दूसरे उपयोग में चले जाएँगे। यह गमनागमन (movement) भुगतान और सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाने तक चलता रहेगा। परन्तु पूर्णतः विशिष्ट साधन असहाय होंगे और सीमान्त उत्पादकता से कहीं कम मिलने पर भी उन्हें रुकना पड़ेगा क्योंकि उनका दूसरा उपयोग नहीं हो सकता। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विशिष्टता और अविशिष्टता के गुण किसी भी साधन में तत्समय हो सकते हैं। यह कहना सही नहीं होगा कि कुछ साधन विशिष्ट होते हैं और कुछ अविशिष्ट। विशिष्टता और अविशिष्टता केवल गुण हैं।

'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के विचार में यह गलती है कि उन्होंने यह सोचा कि केवल भूमि ही विशिष्ट साधन और भूमि सदैव विशिष्ट होती है। हम जानते हैं कि कोई उत्पादन का साधन—चाहे वह भूमि हो, या श्रम हो, या पूँजी—तत्समय विशिष्ट हो सकता है। मान लीजिए कि आपका एक ६० वर्ष का बूढ़ा नौकर है जो पहले आपके दादा का, फिर आप के पिताजी का काम करता था और आजकल आप का काम करता है। वह आप का काम करता रहता है और ऐसा लगता है कि मानो वह आपके मकान का अभिन्यास (lay out) निसर्ग (instinct) से जानता है। पर वह दूसरा काम सीखने में समर्थ नहीं है और न ही वह किसी अन्य व्यक्ति की सेवा कर सकता है। उसने विशिष्टता का गुण प्राप्त कर लिया है और तत्समय उत्पादन का विशिष्ट साधन हो गया है। समरूपतः, एक अति-दक्ष रसायनज्ञ या इंजीनियर, जो कोई

दूसरा काम नहीं करता, कुछ सीमा तक विशिष्ट है। पर एक अदक्ष मजदूर, जो कई काम कर सकता है (जैसे ठेला खींचना, कुलीगीरी, फैक्टरी में मजदूरी आदि), तत्समय अविशिष्ट साधन है। समरूपतः, तरल निधि के रूप में पूँजी एक अविशिष्ट साधन है और उसका कोई भी उपयोग किया जा सकता है; पर इमारत या यन्त्र में रूपान्तरण हो जाने पर वह विशिष्ट हो जाती है। यही बात भूमि के बारे में भी सच है। यदि भूमि के एक टुकड़े में गेहूँ बो दिया गया है तो वह विशिष्ट हो जाता है और, तत्समय, उसका कोई अन्य उपयोग नहीं किया जा सकता; या यदि भूमि के किसी टुकड़े पर मकान बनाया गया है तो, तत्समय, वह इस उपयोग-विशेष में विशिष्ट है। पर यदि किसी टुकड़े में खेती नहीं की गई है तो वह अविशिष्ट है क्योंकि उसके कई उपयोग हो सकते हैं। उसमें गेहूँ या गन्ना बोया जा सकता है या इमारत खड़ी की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक उत्पादन का साधन विशिष्ट या अविशिष्ट हो सकता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का यह कहना सही नहीं है कि केवल भूमि ही विशिष्ट साधन है और भूमि सदैव विशिष्ट होती है।

विशिष्टता के संबंध में तीन बातें उल्लेखनीय हैं :—(१) जैसा पहले ही कहा जा चुका है, विशिष्टता एक गुण है जो, तत्समय, किसी भी साधन से संलग्न किया जा सकता है; (२) जो वस्तु आज विशिष्ट है वह भविष्य में अविशिष्ट हो सकती है। पूर्वोक्त उदाहरण का बूढ़ा आज विशिष्ट है; पर मृत्यु के बाद जब उसका पुनर्जन्म होता है, तो वह एक बार फिर अविशिष्ट हो जाता है। यदि कोई अदक्ष मजदूर काफी समय तक एक ही काम करने पर उसमें दक्ष हो जाता है तो वह धीरे-धीरे विशिष्ट हो जाता है। भूमि का एक टुकड़ा जिसमें गेहूँ की फसल खड़ी है, विशिष्ट है; पर फसल कट जाने के बाद वह एक बार फिर अविशिष्ट हो जाता है और उसके कई वैकल्पिक उपयोग किए जा सकते हैं; और (३) वास्तविक संसार में शायद ही कोई साधन पूर्णतः विशिष्ट या पूर्णतः अविशिष्ट होता है। प्रायः उत्पादन के साधन अंशतः विशिष्ट और अंशतः अविशिष्ट होते हैं। यदि एक इंजीनियर अपने काम में दक्ष है और अन्य काम उसी कुशलता से नहीं कर सकता, तो भी वह कोई-न-कोई दूसरा काम तो कर ही सकता है। इसलिए वह उसी सीमा तक विशिष्ट है जहाँ तक वह दूसरा काम नहीं कर सकता। यदि किसी कमरे का उपयोग कक्षा के लिए हो रहा है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसको भंडार नहीं बनाया जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि इस दूसरे उपयोग के लिए वह उतना उपयुक्त नहीं होगा, पर दूसरा उपयोग किया अवश्य जा सकता है। और जहाँ तक उसका दूसरा उपयोग किया

जा सकता है, वह अविशिष्ट है। इससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि एक ही समय में कोई साधन अंशतः विशिष्ट और अंशतः अविशिष्ट हो सकता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह किस प्रकार जाना जा सकता है कि कोई साधन किस मात्रा तक विशिष्ट और किस मात्रा तक अविशिष्ट है। जिस युक्ति से यह जाना जा सकता है वह आधुनिक अर्थशास्त्र का सर्वाधिक प्रतिभाशाली आविष्कार है।

अधिशेष का नवीन सिद्धान्त. चूंकि उत्पादन के साधन के रूप में भूमि, श्रम और पूँजी बिल्कुल एक से हैं, इसलिए उनका भुगतान एक ही मूलभूत सिद्धान्त (सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त) से निर्धारित होता है। भूमि के उपयोग के लिए दिया जाने वाला प्रतिफल, संस्थिति में, उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा।

पर सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान किए जाने और उसकी माँग करने के लिए यह आवश्यक है कि साधन पूर्णतः अविशिष्ट हो। वास्तविक व्यवहार में प्रत्येक साधन अंशतः विशिष्ट और अंशतः अविशिष्ट होता है। किसी उत्पादन के साधन का परितोषण उसी मात्रा तक सीमान्त उत्पादकता के अनुसार होता है जितना वह अविशिष्ट है, अर्थात् जितना वह दूसरे उपयोग में जाने की क्षमता रखता है। सीमान्त उत्पादकता से अधिक जो कुछ भी भुगतान किया जाता है, वह अतिरेक है और अधिशेष कहा जाता है।

अधिशेष का अर्जन पूर्णतः विशिष्ट साधनों द्वारा किया जाता है। यह कहना अधिक सही होगा कि अधिशेष विशिष्टता के गुण का भुगतान है। आधुनिक सिद्धान्त में अधिशेष भूमि का भुगतान नहीं है। भूमि को तो, अन्य साधनों की भाँति, उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार परितोषण मिलता है। भूमि का परितोषण पूँजी के परितोषण की भाँति है तथा उसे ब्याज कहा जा सकता है। अधिशेष का अर्जन किसी भी विशिष्ट साधन द्वारा किया जाता है, चाहे वह भूमि हो या श्रम या पूँजी; और अधिशेष का अर्जन उस मात्रा तक किया जाता है जहाँ तक साधन विशिष्ट हो। दूसरे शब्दों में, अधिशेष विशिष्टता का भुगतान है।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, इस प्रश्न का उत्तर देना समीचीन है कि जब कि 'क्लासिकल' अर्थशास्त्री भूमि के भुगतान को अधिशेष कहते थे, आधुनिक अर्थशास्त्री विशिष्ट साधन को मिलने वाले अतिरेक को अधिशेष क्यों कहते हैं। यदि वे इस अतिरेक के लिये किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करते और अधिशेष शब्द का प्रयोग केवल भूमि के भुगतान के लिए करते, तो क्या संभ्रम की सम्भावना कम नहीं हो जाती? यदि हम विषय की गहन रूप से परीक्षा करें तो

हम पायेंगे कि विशिष्टता के भुगतान के लिए अधिशेष शब्द का प्रयोग करना उचित है। जब 'क्लासिकल' अर्थशास्त्री भूमि शब्द का प्रयोग करते थे तो वे अगतिशीलता के गुण को प्रकट करना चाहते थे। इसी गुण को हम विशिष्टता कह रहे हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की गलती यह सोचना थी कि केवल भूमि ही विशिष्ट है और वही सदैव विशिष्ट रहती है। यदि वे किसी प्रकार यह समझ पाते कि भूमि के अतिरिक्त अन्य साधन भी विशिष्ट हो सकते हैं और भूमि सदैव विशिष्ट नहीं रहती है, तो वे सही सिद्धान्त का प्रतिपादन कर लिए होते। उनके सिद्धान्त में भी अधिशेष अगतिशीलता या विशिष्टता का, जिसे उन्होंने भूमि कहा है, भुगतान है। आधुनिक अर्थशास्त्र में अधिशेष शब्द का प्रयोग विशिष्टता के भुगतान के अर्थ में भी किया जाता है और विशिष्टता को 'भूमि-पक्ष' (land aspect) भी कहा जाता है। इसलिए, अधिशेष का अर्जन उत्पादन के साधन का भूमि-पक्ष करता है। अधिशेष शब्द का प्रयोग करते रहने का औचित्य यही है। 'भूमि-पक्ष' का प्रयोग करके हम 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों को श्रद्धा अर्पित करते हैं जो यदि भूमि को ही विशिष्ट मानने की गलती न करते तो सही सिद्धान्त खोज निकाले होते। चूंकि प्रत्येक साधन अंशतः विशिष्ट और अंशतः अविशिष्ट होता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक साधन का 'भूमि-पक्ष' होता है। इस प्रकार अधिशेष प्रत्येक आय का एक भाग हो जाता है।

अवसर लागत का संबोध. रिकार्डो के सिद्धान्त में भूमि का अधिशेष सीमान्त भूमि की उपज से संबंधित करके निकाला जाता था। प्रत्येक भूमि के टुकड़े पर बराबर विनियोग करने पर, सीमान्त भूमि की उपज और उससे अधिक उपजाऊ भूमि की उपज का अन्तर अधिशेष था। इस प्रकार सीमान्त भूमि से अधिक अच्छी भूमि की उपज और उत्पादन की द्राव्यिक लागत का अन्तर अधिशेष कहलाता था जो एक अतिरेक था। सीमान्त भूमि से इस प्रकार का कोई अतिरेक नहीं मिलता था।

आजकल अधिशेष की, जो विशिष्टता या भूमि-पक्ष का भुगतान है, गणना अवसर लागत की सहायता से की जाती है। इसका अर्थ यह है कि किसी साधन की विशिष्टता की मात्रा जानने के लिए यह ज्ञात करना होगा कि यह उत्पादन का साधन वैकल्पिक उपयोग में कितना अर्जन कर सकता है। कोई भी उत्पादन का साधन वैकल्पिक उपयोग में जो अर्जन कर सकता है उसे उसकी 'अवसर लागत' या 'स्थानान्तर अर्जन' कहते हैं। इसे 'परित्यक्त विकल्प' से प्राप्त होने वाली आय भी कहा जा सकता है। इन सब पदों का अर्थ एक ही

है। किसी उत्पादन के साधन की आय में अधिशेष की मात्र उसकी अवसर लागत की सहायता से जानी जा सकती है। आधुनिक अर्थशास्त्र में अधिशेष अवसर लागत के ऊपर अतिरेक है।

इंजीनियर का वर्तमान अर्जन	अवसर लागत	अधिशेष (अर्थात् अवसर लागत पर अतिरेक)
रु० १,५००	रु० १,५००	०
	०	रु० १,५००
	३००	१,२००
	५००	१,०००
	८००	७००
	१,३००	२००

मान लीजिए एक इंजीनियर की वर्तमान आय १,५०० रु० है और यदि वह किसी वैकल्पिक काम को करता है, तब भी उसे १,५०० रु० मिलता है। इस स्थिति में अवसर लागत से ऊपर अतिरेक नहीं मिलता क्योंकि दोनों कामों में उसे १,५०० रु० मिलते हैं। इंजीनियर की आय में अधिशेष नहीं है। वह पूर्णतः अविशिष्ट है और उसका भुगतान उसकी सीमान्त उत्पादकता के ठीक बराबर है। यह एक चरम स्थिति है। दूसरी चरम स्थिति तब होगी जब इस इंजीनियर को वैकल्पिक काम ही न मिले। इस स्थिति में उसकी अवसर लागत शून्य होगी। उसकी पूरी वर्तमान आय अवसर लागत के ऊपर अतिरेक होगी और इसलिए उसकी आय अधिशेष होगी। पर यदि इंजीनियर को कई वैकल्पिक काम मिल सकें और यदि उसे एक में ३०० रु० प्रति मास मिले, दूसरे में ५०० रु० प्रति मास, तीसरे में ८०० रु० प्रति मास और चौथे में १,३०० रु० प्रति मास मिले तो अवसर लागत निकालने के लिए हमें अगले सर्वोत्तम विकल्प पर विचार करना चाहिए, क्योंकि वर्तमान काम छोड़ने पर इंजीनियर इसी विकल्प को चुनेगा। इस स्थिति में अगले सर्वोत्तम विकल्प में उसे १,३०० रु० मिलते हैं और यही उसकी अवसर-लागत है। इसलिए उसकी आय में २०० रु० के बराबर अधिशेष हुआ। पर यदि यह उसका विकल्प न हो तो अगले सर्वोत्तम विकल्प में उसे ८०० रु० प्रति मास मिलेगा और उसकी आय में ७०० रु० अधिशेष होगा। अवसर लागत के ऊपर अतिरेक योग्यता का अधिशेष भी कहा जाता है क्योंकि इंजीनियर किसी विशेष योग्यता के कारण अपने वर्तमान काम में अन्य कामों से अधिक पा रहा है।

अब हमें केवल एक स्थिति पर और विचार करना है। प्रश्न उठता है कि यदि इंजीनियर को वर्तमान काम में १,५०० रु० मिलें और वह किसी दूसरे

काम में २,००० रु० का अर्जन कर सके, तो क्या होगा? उसकी वर्तमान आय में अधिशेष की मात्रा कितनी होगी? यह कहना गलत होगा कि अधिशेष ऋणात्मक होता है और इस स्थिति में वह –५०० रु० के बराबर होगा। अधिशेषएक अतिरेक है, इसलिए ऋणात्मक हो ही नहीं सकता। इस स्थिति में, जब इंजीनियर को दूसरे काम में २,००० रु० मिलते हैं, वह पहले को छोड़कर इसमें आ जाएगा। अर्थ-शास्त्र में की जाने वाली विवेकशीलता की सामान्य परिकल्पना का अर्थ यही है। यदि वह दूसरे काम में नहीं जाता तो वह विवेकशील नहीं है। जब वह दूसरे काम पर चला जाता है, उसकी आय २,००० रु० हो जाती है जिसमें अधिशेष की मात्रा ५०० रु० है, क्योंकि अब उसे अगले सर्वोत्तम विकल्प में १,५०० रु० मिलते हैं। इन गणनाओं को करते समय साधन की आय में हमें न केवल द्राव्यिक भुगतानों को बल्कि किसी विशेष काम के सब लाभों का द्रव्यार्थ (money value) भी सम्मिलित करना चाहिए। यदि इस इंजीनियर को १,५०० रु० वेतन मिलने के साथ-साथ २०० रु० मूल्य की चिकित्सा की सुविधाएँ तथा ३०० रु० मूल्य की अन्य सुख-सुविधाएं मिलती हैं, तो उसकी वर्तमान आय २००० रु० के बराबर है। इस स्थिति में, यदि दूसरे काम में २,००० रु० का वेतन मात्र मिलता है तो वह वहाँ जाना पसन्द नहीं करेगा। वर्तमान आय का अर्थ उसे मिलने वाले सब द्राव्यिक भुगतानों और सुख-सुविधाओं के द्रव्यार्थ का कुल योग है। इसीलिए हमने इंजीनियर का वेतन न लिखकर जान-बूझकर उसका 'अर्जन' लिखा है।

अगला प्रश्न यह है कि अवसर लागत या स्थानान्तर अर्जन के ऊपर अति-रेक को अधिशेष क्यों कहा जाता है? जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, अधिशेष विशिष्टता का भुगतान है। अवसर लागत की सहायता से हम प्रत्येक साधन में विशिष्टता की मात्रा का पता लगा सकते हैं। जिस मात्रा तक किसी साधन की वैकल्पिक उपयोग में आवश्यकता पड़ती है, वह विशिष्ट नहीं है। यदि कोई इंजीनियर अपने वर्तमान काम में १,५०० रु० पाता है और दूसरे काम में ७०० रु० पा सकता है, तो वह अपने इस काम में केवल ८०० रु० की मात्रा तक विशिष्ट है। इसीलिए उसे इस काम में ८०० रु० की अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, जो उसे किसी दूसरे काम में नहीं मिलती। एक बार यदि अवसर लागत का पता चल जाय तो हम अवसर लागत को उसकी वर्तमान आय में से घटाकर यह जान सकते हैं कि वह किस मात्रा तक विशिष्ट है। इसीलिए अवसर लागत के ऊपर अतिरेक अधिशेष कहा जाता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने अधिशेष को अतिरेक माना था और आधुनिक अर्थशास्त्री भी उसे अतिरेक समझते हैं। इस प्रकार

इन दो विचारों में कुछ समरूपतः है। यद्यपि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने केवल भूमि को सदैव विशिष्ट साधन समझने की गलती की थी, वे भी अगतिशीलता—जिसे हम विशिष्टता कहते हैं—और अधिशेष में संबंध स्थापित करना चाहते थे। हम भी यही करते हैं, पर कुछ अन्तर आ जाता है। हमारे अनुसार न केवल भूमि बल्कि अन्य साधन भी विशिष्ट हो सकते हैं और अधिशेष का अर्जन कर सकते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि भूमि का सदैव विशिष्ट रहना आवश्यक नहीं है और हो सकता है कि उसका प्रतिफल ब्याज सा हो। फिर भी अधिशेष के संबोध में संतता (continuity) है। यदि हम उदार होकर देखें तो अधिशेष के आधुनिक और क्लासिकल सिद्धान्त में कुछ समान बातें हैं, पर कुछ अन्तर भी हैं। दोनों विचारों के अनुसार अधिशेष एक अतिरेक है, पर अन्तर यह है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार वह द्राव्यिक लागत के ऊपर अतिरेक है, पर आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार वह अवसर लागत के ऊपर अतिरेक है। जिस मात्रा तक अवसर लागत द्राव्यिक लागत से अलग होगी, उतना ही इन दोनों में अन्तर होगा, जिसे हमें स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी साधन की अवसर लागत सदा एक ही नहीं रहती है। परिवर्तनशील दशाओं के साथ अवसर लागत बदलती है और परिणामतः, प्रत्येक आय का अधिशेष का भाग समय-समय पर बदलता है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में खानों और खदानों का अधिशेष उनकी अवसर लागत से सम्बंधित करके निकाला जाता है। एक खान की अवसर लागत प्रायः शून्य होगी क्योंकि उसका खान के रूप में उपयोग करने के अतिरिक्त कोई अन्य उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए खानों और खदानों का भुगतान अधिशेष सा है और उनकी विशिष्टता के कारण दिया जाता है।

आभास-अधिशेष. मार्शल ने, जो रिकार्डो के सिद्धान्त को मानते थे, आभास अधिशेष (quasi-rent) के सम्बोध की विवेचना की है। मान लीजिए एक इमारत या मशीन है और इसकी माँग आस-पास के क्षेत्र के विकास या जनसंख्या की वृद्धि या किसी अन्य हेतु (reason) के कारण बढ़ जाती है, और (अल्पकाल में) इसकी पूर्ति वही रहती है। फलस्वरूप इसका मूल्य बढ़ जाएगा। यदि पहले इसे १०० रु० अधिशेष मिल रहा था तो हो सकता है कि अब १२० रु० मिलने लगे। २० रु० की इस अतिरिक्त राशि को, जिसका अर्जन वह अब करने लगा है, मार्शल ने आभास-अधिशेष कहा। २० रु० की यह अतिरिक्त राशि इस अर्थ में अधिशेष है कि यह अंशतः ईश्वर के उपहार, उर्वरता या स्थान के कारण है, पर अंशतः यह मानवीय प्रयत्नों के कारण है और इसलिए सर्वथा

अधिशेष नहीं है। इसलिए इसे आभास-अधिशेष कहा जाता है। यह एक अस्थायी आय है और पूर्ति के बढ़ने पर मूल्य-वृद्धि लुप्त हो जाएगी। अतः आभास-अधिशेष एक अस्थायी आय है जो पूर्ति की अस्थायी कमी के कारण उत्पन्न होता है और जैसे ही पूर्ति का बढ़ी हुई माँग के साथ समायोजन हो जाता है, यह लुप्त हो जाता है।

आभास-अधिशेष के सम्बोध पर दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार करना संभव है। उत्पादन की लागतें दो प्रकार की होती हैं : अनुपूरक लागतें और प्राथमिक लागतें। अनुपूरक या उपरि लागतें वे हैं जो उत्पत्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ नहीं बढ़ती हैं, और प्राथमिक लागतें वे हैं जो उत्पत्ति के बढ़ने के साथ बढ़ती हैं। पहली के उदाहरण हैं : यन्त्र, इमारत आदि की लागतें; और दूसरी के उदाहरण हैं कच्चे माल, श्रम आदि की लागतें। अल्पकाल में, उत्पादक यदि प्राथमिक लागतें वसूल कर लेता है तो वह उत्पादन करेगा क्योंकि चाहे वह उत्पादन करे या न करे, अनुपूरक लागतें तो वसूल की नहीं जा सकतीं। पर दीर्घकाल में दोनों प्रकार की लागतों को पूरा करना आवश्यक है, अन्यथा उत्पादक को हानि उठानी पड़ेगी और वह किसी दूसरी वस्तु का उत्पादन करने लगेगा। अल्पकाल में यह सम्भव हो सकता है कि उसे प्राथमिक लागतों से कुछ अधिक मिले और समय के बीतने पर हो सकता है कि उसे प्राथमिक लागतों से बहुत अधिक मिले और दोनों प्रकार की लागतों को वसूल करने के बाद भी कुछ अतिरेक बच जाय। यह अतिरेक आभास-अधिशेष है। चूँकि उत्पादक को दीर्घकाल में अतिरेक मिल रहा है, इसलिए इस वस्तु की पूर्ति बढ़ जाएगी और मूल्य गिर जाएगा। फलस्वरूप वह केवल कुल औसत लागत (जिसमें प्रति इकाई अनुपूरक और प्राथमिक लागतें सम्मिलित हैं) को ही वसूल कर पाएगा। यह आभास-अधिशेष की प्रकृति का अतिरेक लुप्त हो जाएगा।

आधुनिक अर्थशास्त्र में आभास-अधिशेष का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। मान लीजिए एक मजदूर २५ रु० का अर्जन कर रहा है और वैकल्पिक उपयोग में उसे २० रु० मिल सकते हैं। हम कह सकते हैं कि उसकी मजदूरी २० रु० और अधिशेष ५ रु० है। अब मान लीजिए कि इस मजदूर के वर्तमान काम में आय बढ़ कर ३५ रु० हो जाती है। इससे पहले कि हम यह जान सकें कि इस १० रु० की अतिरिक्त आय में कितना मजदूरी है और कितना अधिशेष, हमें यह जान लेना पड़ेगा कि इस मजदूर को अब किसी वैकल्पिक उपयोग में कितना मिलेगा। पर उसकी अवसर लागत या स्थानांतर अर्जन जानने तक यह अतिरिक्त आय आभास अधिशेष कही जाएगी क्योंकि हो सकता है कि यह अंशतः

अधिशेष और अंशतः मजदूरी हो। दूसरे शब्दों में, आभास-अधिशेष एक प्रकार का निलम्बित लेखा (suspense account) है, और यह तभी तक रहता है जब तक यह मालूम नहीं हो जाता कि इस अतिरिक्त आय में कितनी मजदूरी है और कितना अधिशेष।

अधिशेष और मूल्य. क्लासिकल अर्थशास्त्रियों में इस विषय के संबंध में काफी मतभेद था कि अधिशेष मूल्य निर्धारित करता है या मूल्य अधिशेष निर्धारित करता है। रिकार्डो के अनुसार बाजार में मूल्य सीमान्त उत्पादक के उत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित किया जाता है; और चूँकि सीमान्त उत्पादक अधिशेष नहीं देता, इसलिए मूल्य अधिशेष द्वारा निर्धारित नहीं होता। अर्थात् अधिशेष उत्पादन की लागत का, जो मूल्य निर्धारित करती है, भाग नहीं होता। उसके अनुसार अधिक उपजाऊ भूमि का अधिशेष मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। यदि सीमान्त भूमि की उपज ५ इकाई हो और अधिक उपजाऊ भूमि की ३० इकाई, और यदि मूल्य १० रु० प्रति इकाई हो, तो सीमान्त भूमि को ५० रु० और अधिक उपजाऊ भूमि को ३०० रु० मिलेंगे। अधिशेष जो एक अन्तरजन्य अतिरेक है, २५० रु० होगा। अब यदि मूल्य बढ़कर १५ रु० प्रति इकाई हो जाय, तो सीमान्त भूमि का अर्जन ७५ रु० और दूसरी भूमि का अर्जन ४५० रु० हो जाएगा और अधिशेष बढ़कर ३७५ रु० होगा। इस प्रकार अधिक उपजाऊ भूमि का अधिशेष प्रवर्तमान मूल्य पर आश्रित रहता है। जितना ऊंचा मूल्य होगा उतना अधिक अधिशेष मिलेगा; और जितना कम मूल्य होगा उतना अल्प अधिशेष होगा। अर्थात् अधिशेष मूल्य निर्धारण नहीं करता बल्कि मूल्य द्वारा अधिशेष निर्धारित होता है।

यहाँ एक समस्या उठती है, जिसका कारण अंग्रेजी शब्द rent का लगान के अर्थ में उपयोग किया जाना है। हम पाते हैं कि प्रत्येक किसान, भले ही वह सीमान्त भूमि पर खेती करता हो, जमींदार को लगान देता है। पर यहाँ यह सानब्य है कि लगान (rent) और अधिशेष (economic rent) एक ही वस्तु नहीं हैं। सीमान्त किसान द्वारा दिया जाने वाला लगान ब्याज की प्रकृति है। परिभाषानुसार सीमान्त भूमि पर अधिशेष मिल ही नहीं सकता, क्योंकि अधिशेष उर्वरता की मौलिक और अनश्वर शक्तियों का भुगतान है और ये सीमान्त भूमि में नहीं होती। अतएव यह किसान उत्पादन की लागत में अधिशेष को नहीं बल्कि लगान को सम्मिलित कर रहा है। इस लगान को इसे प्राप्त करने वाले जमींदार के दृष्टिकोण से अधिशेष कहा जा सकता है, पर

उत्पादन की लागत के दृष्टिकोण से यह अधिशेष नहीं है क्योंकि यह भूमि की उर्वरता का भुगतान नहीं है।

आधुनिक अर्थशास्त्र में अधिशेष विशिष्टता का भुगतान है। विशिष्टता एक अल्पकालीन घटना है। यदि हम दीर्घकाल के दृष्टिकोण से विषय का अध्ययन करें तो प्रत्येक साधन को पूर्णतः अविशिष्ट अवश्य हो जाना चाहिए। इसलिए दीर्घकाल में प्रत्येक साधन को अवसर-लागत के अनुसार मिलेगा और उत्पादन लागत में अधिशेष का अंश नहीं होगा। केवल दीर्घकालीन संस्थिति में ही मूल्य उत्पादन की लागत द्वारा निर्धारित होता है और दीर्घकाल में उत्पादन की लागत में अधिशेष सम्मिलित नहीं होता। इसलिए अधिशेष मूल्य निर्धारण नहीं करता।

अल्पकाल में यह संभव हो सकता है कि मूल्य उत्पादन की लागत से अधिक हो क्योंकि माँग अस्थायी रूप से पूर्ति से अधिक हो सकती है। इस स्थिति में अधिशेष मिलेगा पर उसकी मात्रा मूल्य द्वारा निर्धारित होगी। अधिशेष आय द्वारा निर्धारित किया जाने वाला मूल्य है, मूल्य निर्धारिक भुगतान नहीं। अल्पकाल में विशिष्टता रहती है और हो सकता है कि प्रत्येक आय में अधिशेष का अंश हो, पर अधिशेष अंश मूल्य द्वारा निर्धारित होता है।

अध्याय २६

ब्याज
(Interest)

ब्याज पूँजी का भुगतान है। अन्य मूल्यों की भाँति ब्याज पूँजी के उपयोग के लिए दिया जाने वाला मूल्य है और प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से अभिव्यक्त किया जाता है। ब्याज को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाना एक रूढ़ि है और कोई कारण नहीं है कि वह इसी प्रकार अभिव्यक्त किया जाय। इस सम्बन्ध में दो बातें ज्ञातव्य हैं—(१) चाहे हम पूँजी की इकाई १०० रु० की राशि मानें या कोई अन्य राशि, जब भी हम ब्याज के बारे में सोचते हैं हमें एक राशि पर विचार करना ही पड़ता है, और (२) पूँजी एक निश्चित अवधि के लिए उधार दी और ली जाती है और यह अवधि २४ घंटे, ३ महीने, ६ महीने, १ वर्ष या इससे अधिक या कम कुछ भी हो सकती है। इसलिए ब्याज के बारे में सोचने में 'समय' अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन उधारों (loans) की ब्याज की दरें अलग होती हैं, पर इन विभिन्न ब्याज की दरों में निश्चित सम्बन्ध होता है। एक अन्य जानने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि वास्तव में जो ब्याज दिया जाता है वह 'शुद्ध' ब्याज नहीं होता, अर्थात् वह पूँजी के उपयोग का भुगतान मात्र नहीं होता, बल्कि 'कुल' ब्याज (gross interest) होता है। मान लीजिए एक व्यक्ति ६% प्रतिवर्ष ब्याज देता है और दूसरा ७½% प्रतिवर्ष। हो सकता है कि इन दोनों स्थितियों में शुद्ध ब्याज बराबर हो और इनका अन्तर अन्य कारणों से हो सकता है जो कुल ब्याज बनाते हैं। इसलिए 'शुद्ध' ब्याज, जो पूँजी के उपयोग का भुगतान है, जानने के लिए हमें 'कुल' ब्याज बनाने वाले अन्य तत्त्वों का ध्यान रखना पड़ेगा और उनका भुगतान घटा देना पड़ेगा।

'कुल' और 'शुद्ध' ब्याज. वास्तव में, उधार लेने वाला जो ब्याज देता है वह कुल ब्याज होता है। कुल ब्याज में निम्नलिखित सम्मिलित होते हैं।

(१) 'शुद्ध' ब्याज. यह केवल पूँजी के उपयोग के लिए किया जाने वाला भुगतान है। प्रत्येक उधारदाता एक ही राशि के लिए विभिन्न 'शुद्ध' ब्याज ले सकता है और शुद्ध ब्याज की राशि द्रव्य की राशि और जिस अवधि के लिए उधार लिया और दिया जा रहा है उसके अनुसार भी बदल सकती है। परन्तु

यह कहना बहुत गलत नहीं होगा कि यदि हम यह मान लें कि द्रव्य बराबर समय के लिए उधार लिया और दिया जाता है, तो विभिन्न बाजारों में शुद्ध ब्याज में बहुत बड़ी विभिन्नता नहीं होती।

(२) **जोखिम का भुगतान.** यदि उधार लेने वाला बेईमान या दिवालिया है तो हो सकता है कि उधारदाता को केवल ब्याज ही नहीं मिले बल्कि वह पूँजी से भी हाथ धो बैठे। इसलिए उधारदाता शुद्ध ब्याज के साथ एक प्रकार की बीमा-प्रव्याजि (Insurance premium) भी लेता है। यदि उधार लेने वाला किसी चीज को गिरवी रखता है, तो जोखिम के लिए नाममात्र प्रव्याजि ली जाती है। वाणिज्य बैंक ऐसा ही करते हैं। परन्तु यदि उधार अप्रतिभूत (unsecured) है या उधार लेने वाले की सामान्य स्थिति अविश्वसनीय है तो जोखिम के लिए काफी ऊँची प्रव्याजि ली जाती है। जब गाँव का साहूकार ७५% ब्याज लेता है, तो हो सकता है कि इसमें ४०-५०% तक अन्तर्ग्रस्त जोखिम के कारण लिया जाय, क्योंकि वह अविश्वसनीय और लौटाने में असमर्थ व्यक्तियों को भी उधार देता है। ब्याज की ऊँची दर लेकर वह अपनी अभिरक्षा करता है। यदि पाँच-दस उधार लेने वाले रुपया न भी लौटाएँ तो उसकी पूँजी के डूबने का भय नहीं रहेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि गाँव वालों की शोधन-क्षमता (pay-worthiness) सुधर जाय तो साहूकारों द्वारा लिए जाने वाले ब्याज की दरें निश्चित रूप से गिर जाएँगी।

(३) **प्रबन्ध और लेखा रखने की लागत.** उधार-दाता को लेखा रखना (Account keeping), और उधार लेने वालों को सूचना देते रहना तथा उधार वसूलना पड़ता है। इसमें द्रव्य का खर्चा होता है और उधारदाता इस व्यय को कुल ब्याज में सम्मिलित कर लेता है। यह लागत भी गाँव के साहूकारों के लिए वाणिज्य बैंकों से अधिक होती है।

जब हम वितरण के सिद्धान्त में ब्याज की दर पर विचार करते हैं तो हमारा तात्पर्य 'शुद्ध' ब्याज होता है। उधार लेने वाला पूँजी को द्रव्य या 'उधार में दिए जाने योग्य' निधि (loanable fund) के रूप में लेता है, पर, यदि उधार लेने वाला एक उत्पादक है और इस निधि का उपयोग उत्पादन के लिये करना चाहता है तो वह बाद में इसे पूंजी-पदार्थों में—जैसे यन्त्र, उपकरण और सज्जा—रूपान्तरित कर लेगा। यद्यपि ब्याज की दर की गणना द्रव्य की राशि के अनुसार की जाती है, परन्तु इसका वास्तविक महत्व उन पूँजी पदार्थों में है जिन्हें उधार लेने वाला इस निधि से खरीद सकता है और जिनका वह और अधिक धन का उत्पादन करने में उपयोग कर सकता है। यदि व्यक्ति घर का

खर्चा चलाने के लिए इस द्रव्य का उपयोग करता है तो यह उधार उपभोग करने के अभिप्राय से लिया जाता है।

ब्याज क्यों लिया जाता है ?

ब्याज के संबंध में हमें दो महत्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर देना पड़ता है। (क) ब्याज क्यों लिया जाता है ? और (ख) ब्याज की दर वस्तुतः कैसे निर्धारित की जाती है ? यद्यपि इनकी विवेचना एक साथ की जाती है, इन दो प्रश्नो पर अलग-अलग विचार करना अधिक अच्छा है। सर्वप्रथम हम पहले प्रश्न पर विचार करेंगे। जहाँ तक उधार लेने वाले का प्रश्न है, इसका उत्तर सरल है। यदि व्यक्ति एक उत्पादक है और पूँजी का उपयोग और अधिक धन उत्पादन करने में करता है, तो पूँजी के कारण उसे अतिरिक्त आय मिलती है और वह इसका एक भाग पूँजी की सेवाओं के लिए देता है। इस प्रकार ब्याज के उत्पन्न होने का कारण पूँजी की उत्पादकता है। यदि उधार लेने वाला इस द्रव्य का उपयोग प्रत्यक्ष उपभोग के लिए करता है तो उसे इस द्रव्य से सन्तोष मिलता है। इसलिए वह कुछ पारितोषण देता है। पर ब्याज क्यों लिया जाता है इस पर मतभेद है और हम इससे सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

समय अधिमान (Time Preference) तथा अन्य सिद्धान्त

'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के अनुसार उधार दाता के ब्याज लेने का कारण यह है कि द्रव्य उधार देने के लिये द्रव्य बचाना आवश्यक है। द्रव्य बचाने की क्रिया में उसे त्याग करना पड़ता है और वह इस त्याग की हानि पूर्ति (compensation) के रूप में ब्याज लेता है। सीनियर ने यह सुझाव रखा था कि द्रव्य बचाने की क्रिया में व्यक्ति को परिवर्जन (abstinence) करना पड़ता है, जो एक त्याग है, और इस त्याग को करने की प्रेरणा देने के लिए उधार लेने वाले को ब्याज देना पड़ता है। इसे ब्याज का 'परिवर्जन सिद्धान्त' कहते हैं। बाद में कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह कहा कि धनी व्यक्तियों की आय बहुत होती है और संभवतः वे अपनी पूरी आय को खर्च नहीं कर सकते। इन लोगों को द्रव्य बचाने और उधार देने में कोई परिवर्जन नहीं करना पड़ता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल ने 'परिवर्जन' के स्थान पर 'प्रतीक्षा' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने कहा कि उधार दाता को द्रव्य उधार देते समय 'प्रतीक्षा' के रूप में त्याग करना पड़ता है। यदि वह किसी दूसरे व्यक्ति को उधार न देता तो वह इस द्रव्य का उपभोग स्वयं करता; परन्तु चूँकि उसने यह द्रव्य

उधार में दे दिया है, इसलिए उसे द्रव्य के लौटाये जाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। ब्याज इसी प्रतीक्षा के त्याग के बदले दिया जाता है। सीनियर और मार्शल के विचारों में कुछ विभन्नता है पर आधारभूत रूप में वे एक ही हैं।

आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बॉम बावर्क ने ब्याज का बढ़ौती सिद्धान्त (Agio theory) दिया। उनके अनुसार लोग भविष्य की तुलना में वर्तमान को अधिमान देते हैं। लोग भविष्य की आवश्यकताओं का कम अनुमान (underestimate) करते हैं क्योंकि (क) उनमें कल्पना का अभाव होता है और वे भविष्य की आवश्यकताओं की तीव्रता का समुचित रूप से मनसेक्षण नहीं कर पाते; (ख) वे दुर्बल होते हैं तथा वर्तमान आवश्यकताओं को तृप्त करने के लोभ का प्रतिरोध नहीं कर पाते और इसलिए भविष्य की आवश्यकताओं में कटौती करते हैं; और (ग) मानव जीवन अनिश्चित है और हो सकता है कि कोई भविष्य में आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए जीवित न रहे। इसलिए लोग भविष्य की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने की अपेक्षा वर्तमान की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने को अधिमान देते हैं। इसके साथ बॉम-बावर्क ने पूँजी की उत्पादकता पर भी विचार किया। पूँजी के प्रयोग से उत्पादन की पूँजी तन्त्रीय रीतियों (round about methods of production) सम्भव हो सकती हैं। इसके कारण वर्तमान-पदार्थ भविष्य पदार्थों से प्राविधिक रूप से उत्कृष्ट हो जाते हैं, अर्थात् लोग उन संसाधनों को रखना पसन्द करते हैं जिनका प्रयोग पूँजी के रूप में अभी किया जा सकता है। इसलिए वे भविष्य पदार्थों के विरुद्ध वर्तमान-पदार्थों को प्राप्त करने के लिए प्रव्याजि या बढ़ौती (Premium or Agio) देने को राजी रहते हैं। इसके कारण ही ब्याज उत्पन्न होता है।

इर्विंग फिशर और कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने ब्याज का **समय अधिमान** (Time Preference) **सिद्धान्त** दिया। ये लोग बॉम बावर्क के इस मत को, कि लोग भविष्य के आनन्द को अपेक्षा वर्तमान के आनन्द को अधिमान देते हैं, तत्वत: मानते हैं। इन दोनों में मुख्य भेद यह है कि जबकि बॉम बावर्क भविष्य-पदार्थों के ऊपर वर्तमान-पदार्थों की प्रकृष्टता पर बल देता है, फिशर और उसके साथी इस विचार को नहीं मानते और अपने को केवल यहीं तक सीमित रखते हैं कि लोग भविष्य के आनन्द की तुलना में वर्तमान के आनन्द को अधिमान देते हैं। इनके अनुसार ब्याज समय-अधिमान की हानिपूर्ति है। जितनी ही तीव्रता से लोग भविष्य के सुखों की अपेक्षा वर्तमान सुखों को अधिमान देंगे, ब्याज की दर उतनी ही ऊँची होगी, क्योंकि अधिमान के बढ़ने के साथ

लोगों को द्रव्य बचाने की प्रेरणा देने के लिए अधिक पारितोषण देना पड़ेगा। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने समय-अधिमान के कारणों को विभिन्न रूप से बताया है; पर इन सब व्याख्याओं में यह बात स्पष्टतः कही गई है कि लोगों को द्रव्य बचाने और उसे उधार देने में त्याग करना पड़ता है और लोगों को समय-अधिमान निष्प्रभावित करने की प्रेरणा देने के लिए ब्याज देना पड़ता है।

समालोचना. ब्याज के समय अधिमान और अन्य 'क्लासिकल' सिद्धान्तों की विविध आधारों पर समालोचना की गई है—

(क) ये सब सिद्धान्त पूर्ण वृत्ति (full employment) की दशाएँ मानते हैं क्योंकि केवल पूर्ण वृत्ति में ही, जब सब संसाधनों का पूरा उपयोग किया जाता है, यह प्रश्न उठता है कि हम संसाधनों का उपयोग वर्तमान में करें या भविष्य में। यदि अनुपयोजित संसाधन प्रचुर हों तो हम बिना त्याग किए जितना चाहें उतने संसाधनों का उपयोग कर सकते हैं और उन्हें उधार भी दे सकते हैं। त्याग का और उसके लिए हानिपूर्ति का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब हमारे अधीन सब संसाधन पूरी तरह उपयोजित हैं और जब हमें इस बात पर विचार करना पड़ता है कि हम उनका वर्तमान में उपयोग करें या भविष्य के लिए बचाएँ। यदि, जैसा प्रायः होता है, पूर्ण से कम वृत्ति की दशाएँ हों तो ब्याज को समय-अधिमान के त्याग से संबंधित करने वाला 'क्लासिकल' उपगमन (approach) अयथार्थिक हो जाता है।

(ख) लोग विविध हेतुओं से द्रव्य बचाते हैं, जैसे वृद्धावस्था, बच्चों की शिक्षा, शादी-ब्याह आदि के लिए और द्रव्य से प्रेम होने के कारण। पर एक बार द्रव्य बचा लेने पर यदि कोई व्यक्ति उधार लेने के लिए आता है तो वर्तमान उपभोग का फिर कोई त्याग नहीं करना पड़ता और यदि ब्याज केवल समय-अधिमान के त्याग से संबंधित है तो उधारदाता को ब्याज लेने का कोई अधिकार नहीं है। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने १०० रु० बचाए हैं जिन्हें अभी खर्च करने का उसका कोई विचार नहीं है, और कोई व्यक्ति उससे उधार लेने के लिए आता है। फिर, मान लीजिए कि रुपये उधार देने में किसी प्रकार का जोखिम नहीं है और न ही किसी प्रकार का लेखा रखने की आवश्यकता है क्योंकि उधार लेने वाला निश्चित तिथि को रुपया अवश्य लौटा देगा। यदि ब्याज केवल समय अधिमान से संबंधित हो तो इन दशाओं में ब्याज नहीं लिया जाएगा, क्योंकि इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उधारदाता द्रव्य अपने पास रखता है या दूसरे को दे देता है। यदि हम यह मान भी लें कि द्रव्य देने में जोखिम है और लेखा रखना पड़ता है, तब भी शुद्ध ब्याज तो नहीं ही होगा। परन्तु, जब हम ब्याज के सिद्धान्त

का अध्ययन करते हैं, तब हम केवल 'शुद्ध' ब्याज पर विचार करते हैं और जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक 'शुद्ध' ब्याज लिए जाने का कोई कारण नहीं है। यदि कोई व्यक्ति पहले ही द्रव्य बचा चुका है, तो उसे किसी को उधार देने में त्याग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि उधारदाता को विश्वास है कि जब उसे आवश्यकता पड़ेगी तब द्रव्य वापस मिल जाएगा, तो यह द्रव्य चाहे उधारदाता के पास हो या उधार लेने वाले के पास, बात एक ही है। बचाने में जो कुछ भी त्याग किया जाता है उसे व्यक्ति स्वयं अपने या बाल-बच्चों के कारण करता है। इस त्याग के बदले उसे किसी प्रकार की हानिपूर्ति (compensation) की आशंसा नहीं करनी चाहिए।

(ग) आधुनिक आर्थिक संगठन में सर्वाधिक उधार बैंकों द्वारा दिया जाता है। जहाँ तक वे सर्जित द्रव्य (created money) को उधार देते हैं, वहाँ तक उपयोग को टालने में किए जाने वाले या समय-अधिमान के त्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता। हमने सर्जित द्रव्य का ही उदाहरण इसलिए लिया है कि यदि हम जमा किए हुए द्रव्य का उदाहरण लेते तो यह कहा जा सकता है कि इस दशा में जमा करने वालों का त्याग है। पर सर्जित द्रव्य को उधार देने में इस प्रकार के किसी भी त्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता।

तरलता अधिमान सिद्धान्त (liquidity preference theory)

केन्स का तरलता-अधिमान सिद्धान्त इन सब समालोचनाओं का सामना करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज लिए जाने का कारण तरलता का त्याग है। कोई व्यक्ति चाहे किसी भी उद्देश्य से (जैसे, वृद्धावस्था, बच्चों की शिक्षा, शादी आदि और द्रव्य-प्रेम) द्रव्य बचाए, वह उसे तरल रखना चाहता है। यदि वह किसी व्यक्ति को उधार देता है, तो वह तरलता से वंचित हो जाता है और इसकी हानिपूर्ति करने के लिए वह ब्याज लेता है। ब्याज तरलता-अधिमान का भुगतान है। यह सिद्धान्त बैंकों के उधार पर ब्याज लेने के कारण की व्याख्या करता है। तरलता बैंक-व्यवस्था की शक्ति का एक द्योतक है। यदि बैंकों से अधिकाधिक उधार लिया जाता है तो बैंकों की तरलता धीरे-धीरे कम हो जाती है और ब्याज इस तरलता की हानिपूर्ति के रूप में दिया जाने वाला भुगतान है।

प्रश्न उठता है कि लोग तरलता को क्यों अधिमान देते हैं? केन्स के अनुसार इसके तीन मुख्य प्रेरक हैं—

(क) **लेन-देन या संव्यवहार प्रेरक** (transaction motive). प्रायः

लोगों को आय महीने, सप्ताह आदि में एक दिन दी जाती है और प्रति दिन नहीं मिलती। इसलिए वे आय मिलने के दो दिनों के बीच के समय के लिए द्रव्य रखते हैं, ताकि उनका खर्चा ठीक तरह से चलता रहे। इसी प्रकार व्यापारिक संस्थाओं की आय भी प्रति दिन नहीं मिलती, पर उन्हें श्रम, कच्चे माल आदि के लिए द्रव्य की आवश्यकता निरन्तर बनी रहती है। इसलिए व्यय करने के समय और प्राप्ति के समय के बीच की अवधि का खर्चा चलाने के लिए वे भी कुछ रुपया अपने पास रखते हैं। इस प्रेरक के लिए रखी गई राशि प्रमुखतः आय और व्यापार-क्रिया के स्तर पर आश्रित रहती है।

(ख) पूर्वोपायी प्रेरक (precautionary motive). इसके अतिरिक्त, लोग कुछ द्रव्य अनाशंसित संभाव्यताओं के लिए भी रखते हैं। यह राशि व्यक्तियों और व्यापार के अनुसार बदलती है और उनकी वित्तीय रूढ़िवादिता, उद्यम की प्रकृति, बाजार में साख, और सम्पत्ति को द्रव्य में रूपान्तरित करने के साधनों के विकास पर आश्रित रहती है।

(ग) परिकल्पी या पूर्वकल्पी प्रेरक (speculative motive). लोग ब्याज की दरों में होने वाले परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए भी अपने पास नकदी रखते हैं। ब्याज की दर के संबंध में इस प्रेरक के लिए रखा गया द्रव्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि परिकल्पी धारण (holdings) ब्याज की दर के परिवर्तनों से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। यदि एक व्यक्ति यह आशंसा करता है कि भविष्य में ब्याज की दर ऊँची हो जाएगी तो वह अपने पास अधिक नकदी रखेगा, जिससे वह भविष्य में इससे लाभ उठा सके, और यदि भविष्य में ब्याज की दर के गिर जाने की आशंसा है तो वह अपने पास कम नकदी रखेगा। "केन्स के अनुसार एक अत्यावश्यक दशा जिसके अभाव में अर्घ के भंडार के रूप में द्रव्य का तरलता-अधिमान विद्यमान नहीं रह सकेगा, **ब्याज की दर के भविष्य के बारे में अनिश्चितता है,** जिसका अर्थ है भविष्य में प्रवर्तमान होने वाले विविध कालीन ऋणों पर लिए जाने वाले ब्याज की दरों के बारे में अनिश्चितता।" लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरकों के लिए रखी गई द्रव्य की राशि एक प्रकार से ब्याज की दरों से स्वतंत्र होती है। पर भविष्य में ब्याज की दरों के बदल जाने की आशंसा, अर्थात् पूर्वकल्पी प्रेरक के कारण जो द्रव्य रखा जाता है वह सहजतः ब्याज की दर पर आश्रित होता है। "तरलता अधिमान के परिकल्पी प्रेरक की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि वह अन्य लोगों की अपेक्षा भविष्य के बारे में अधिक जानने के कारण होने वाले लाभ को प्राप्त करने का प्रयास है। यदि ब्याज की दर के बढ़ने की आशंसा है तो लोग बन्धों (Bonds) का क्रय स्थगित कर देंगे। और

जब ब्याज की दर बढ़ेगी, तो बन्धों का मूल्य कम हो जाएगा। जिस व्यक्ति ने द्रव्य को रोककर सट्टा लगाया है, वह अब बन्धों को निम्नतर मूल्य पर खरीद सकता है और लाभ प्राप्त कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति अन्य लोगों से अधिक इस बात की आशंसा करता है कि बन्धों का मूल्य बढ़ेगा (ब्याज-दर गिरेगी), तो वह अल्पावधि के लिए द्रव्य उधार लेकर प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीद सकता है और फिर जब मूल्य वास्तव में बढ़ते हैं तब वह उन्हे बेच कर लाभार्जन कर सकता है।" इस ढंग से तरलता अधिमान ब्याज की दर से संबंधित है।

ब्याज के अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए केन्स का तरलता अधिमान सिद्धान्त 'क्लासिकल' समय-अधिमान सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। यह उन मुख्य बातों की ओर ध्यान आकर्षित करता है जो यह निर्धारित करता हैं कि लोग अपने पास कितनी नकदी रखेंगे और परिणामतः, यह निर्धारित करते हैं कि ब्याज-दर क्या होगी।

आलोचना. केन्स के सिद्धान्त की समालोचना दो आधारों पर की गई है:—

(क) यह पूर्णतः मौद्रिक सिद्धान्त (द्राव्यिक सिद्धान्त) है और ब्याज की द्रव्य दर (money rate) पर विचार करता है, वास्तविक दर पर नहीं। यह समालोचना असंगत है क्योंकि परिभाषानुसार ब्याज की दर एक प्रतिशत प्रति-वर्ष दर है और द्रव्य में अभिव्यक्त की जाती है। यह एक द्राव्यिक घटना है और इसकी व्याख्या सहजतः द्राव्यिक होगी। अन्य तथाकथित वास्तविक बातों पर विचार करने से केवल गड़बड़ होती है और कुछ नहीं।

(ख) केन्स के तरलता-अधिमान सिद्धान्त के विरुद्ध एक अधिक भीषण आपत्ति यह है कि समय-अधिमान और तरलता-अधिमान सिद्धान्त में, जहाँ तक ब्याज दर का प्रश्न है, कोई महत्वपूर्ण भेद है ही नहीं। जब कोई मनुष्य तरलता का त्याग करता है और उसे ब्याज मिलता है, तब उसे किसी भी दशा में रुकना पड़ता है और समय-अधिमान आ जाता है। चाहे हम कहें कि ब्याज तरलता अधिमान के कारण मिलता है या समय-अधिमान के कारण, बात एक ही है क्योंकि दोनों समय से अन्तर्ग्रस्त हैं। पर यह समालोचना वास्तविक बात को भुला देती है। इन दोनों (अर्थात् समय अधिमान और तरलता अधिमान) के पीछे काम करने वाले प्रेरक भिन्न हैं और उन्हें एक ही चीज नहीं कहा जा सकती। समय-अधिमान इस विचार पर आधारित है कि एक मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिमान देता है और भविष्य के बदले वर्तमान में अपनी आय का उपभोग करना पसन्द करेगा। इसलिए बचत करने में उसे त्याग करना

पड़ेगा जो उसके समय अधिमान से मापा जाता है। पर, जब एक व्यक्ति ने रुपया उधार दे दिया है, अर्थात् जब उसने तरलता का त्याग कर दिया है, तब ऐसी कोई समस्या नहीं आती हैं। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति का तरलता-अधिमान होने के लिए समय-अधिमान होना आवश्यक नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान उपभोग में कटौती किए बिना किसी व्यक्ति के पास तरल संसाधन हो सकते हैं और एक बार उनके हो जाने पर वह उन्हें तरलावस्था में रखना चाहेगा। इस तरलता का त्याग करने के लिए वह हानिपूर्ति के रूप में ब्याज लेता है। दूसरे शब्दों में, वर्तमान उपभोग में कटौती किए बिना, बैंक से रुपया उधार ले कर किसी व्यक्ति के लिए तरलता प्राप्त कर सकना संभव है। समय अधिमान (अर्थात भविष्य के ऊपर वर्तमान को अधिमान देना) एक व्यक्तिगत और आत्मनिष्ठ विषय है और किसी के नियंत्रण में नहीं है। पर तरलता-अधिमान एक वस्तुनिष्ठ घटना है और बैंक साख सर्जन द्वारा अधिक तरलता का सर्जन करके उस पर नियन्त्रण कर सकते हैं। मान लीजिए कि लोगों के तरलता अधिमान में वृद्धि हो गई है और ब्याज-दर की प्रवृत्ति बढ़ने की है। यदि बैंकिंग व्यवस्था चाहे तो ब्याज की दर को बढ़ने से रोक सकती है। इसके लिए उसे केवल अधिक साख सर्जन करना पड़ेगा, जिससे लोगों का तरलता-अधिमान तृप्त किया जा सके। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि तरलता-अधिमान के साथ भी समय का विचार करना पड़ता है तथापि, यह विचार समय-अधिमान में अन्तर्निहित विचार से बिल्कुल भिन्न है।

ब्याज दर का निर्धारण

सब से महत्वपूर्ण समस्या ब्याज की दर का निर्धारण करने की है। अन्य मूल्यों की भाँति ब्याज की दर भी पूंजी की पूर्ति और माँग द्वारा निर्धारित होती है। अर्थशास्त्रियों में इस बारे में सामान्य सहमति है कि पूँजी की माँग क्यों की जाती है। हाँ, इसे अभिव्यक्त करने के ढंग अलग अलग हैं। क्लासिकल' सिद्धान्त के अनुसार पूँजी की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर आश्रित होती है। जैसे जैसे उत्पादन में अधिक पूंजी का प्रयोग किया जाता है, पूंजी सीमान्त उत्पादकता गिरती है और दी हुई ब्याज-दर पर पूँजी की माँग कम हो जाती है। इस प्रकार पूँजी की माँग ब्याज-दर से विलोम रूप से (inversely) सम्बन्धित होती है। जब ब्याज की दर गिरती है, पूँजी की माँग बढ़ती है और जब ब्याज की दर बढ़ती है, पूंजी की माँग घटती है। केन्स के सिद्धान्त में पूँजी की माँग पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के रूप में नहीं वरन् उसकी 'सीमान्त कार्यक्षमता'

(Marginal efficiency) के रूप में विचार किया जाता हैं। इन दो संबोधों में कुछ सूक्ष्म भेद हैं, पर हम इन दोनों को एक ही मान सकते हैं। जैसे-जैसे अधिक पूँजी का प्रयोग किया जाता है, उसकी सीमान्त कार्य-क्षमता गिरती जाती है और यदि ब्याज की दो हुई दर रहे तो पूँजी की माँग कम हो जायगी। यदि हम ब्याज की दर को y-axis पर और पूँजी की माँग x-axis पर दिखायें तो पूँजी का माँग वक्र सदैव बाएँ से दाहिनी ओर नीचे को गिरेगा।

ब्याज के विभिन्न सिद्धान्तों में वास्तविक भेद पूँजी की पूर्ति के सम्बन्ध में है। 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी की पूर्ति लोगों की बचतों से बनती है। इसी का एक रूप भेद 'उधार देने योग्य निधि' (loanable funds) का सिद्धान्त है। इसके अनुसार पूँजी की पूर्ति लोगों की बचत, बैंक साख और पिछली बचत के निरासंचयन (dishoarding) से मिलकर बनती है। केन्स ने एक पूर्णतः भिन्न व्याख्या की जिसका अध्ययन हम आगे करेंगे।

क्लासिकल 'बचत' सिद्धान्त. 'क्लासिकल' सिद्धान्त के अनुसार पूँजी की पूर्ति लोगों की बचत के बराबर होती है। द्रव्य को बचाने में लोगों को त्याग करना पड़ता है और कोई मनुष्य वर्तमान उपभोग का त्याग करके भविष्य के लिए बचत करना नहीं चाहता, जब तक कि उसे कोई प्रतिफल नहीं दिया जाता। यह प्रतिफल ब्याज है। जितना ही अधिक यह प्रतिफल (reward) होगा, उतना ही अधिक लोग बचाने के लिए राज़ी होंगे। सामूहिक दृष्टिकोण से बचत का पूर्ति वक्र, S S, जैसा चित्र ६१ में दिखाया गया है, बाएँ से दाहिनी ओर ऊपर को उठेगा। ब्याज की दर y-axis पर दिखाई गई है और उधार ली और दी गई राशि x-axis पर। जब ब्याज की दर बढ़ती है, तब लोग अधिक बचाते हैं, और इसलिए उधार देने के लिए बृहत्तर राशि उपलब्ध रहती है। पूँजी का माँग वक्र DD बाएँ से दाहिनी ओर गिरता है। पूँजी की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर आश्रित
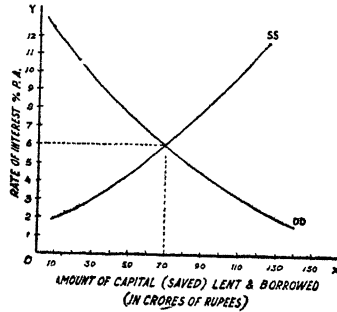
चित्र ६१

रहती है और जैसे-जैसे अधिक पूँजी उधार दी और प्रयोग की जाती है, उसकी सीमान्त उत्पादकता गिरती जाती है। उदाहरणार्थ, यदि १२% दर पर १० करोड़ रु० उधार लिया जाता है तो इसी दर पर ११ करोड़ रुपया उधार नहीं लिया जाएगा क्योंकि अब पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पहले की अपेक्षा कम होगी और अधिक

पूँजी का उपयोग होने के लिए यह आवश्यक है कि सीमान्त उत्पादकता के समरूप (in conformity) ब्याज की दर भी गिरे। अतएव, हम यह निष्कर्ष निकालते है कि अधिक पूँजी की माँग ब्याज की दर के घटने पर ही की जाएगी। इसलिए पूँजी का माँग-वक्र D D जैसा है और बाएँ से दाहिनी ओर गिरती है। किसी समय ब्याज की दर पूँजी की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है, पर ब्याज की संस्थिति दर का निर्धारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता करती है। यदि किसी समय ब्याज की प्रवर्तमान दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से अधिक है, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि पूँजी की माँग उसकी पूर्ति से कम होगी, और फलस्वरूप ब्याज की दर कम हो जाएगी, जिससे लोग कम बचाने लगेंगे। इसके विपरीत, यदि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता प्रवर्तमान ब्याज-दर से अधिक है, तो इसका तात्पर्य यह होगा कि पूँजी की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है और ब्याज-दर बढ़ जाएगी, जिससे लोग अधिक बचाने लगेंगे। संस्थिति में ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी और पूँजी की पूर्ति एवं माँग आपस में बराबर होंगे। चित्र ६१ में, ब्याज की संस्थिति दर ६% है और पूँजी की माँग और पूर्ति ७० करोड़ रु० है। इस ब्याज की दर पर लोग ठीक ७० करोड़ रु० बचाते हैं और ठीक इतना ही उधार लिया जाता है। इस प्रकार 'क्लासिकल' सिद्धान्त के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, जो प्राविधिक और अन्य दशाओं पर आश्रित रहती है, ब्याज की संस्थिति दर का निर्धारण करने में प्रमुख भाग लेती है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध कई आलोचनाएँ हैं : (क) यह कहा गया है कि पूँजी की पूर्ति केवल वर्तमान आय में से हुई बचत से नहीं बनती। भूतकाल की बचत, जिसका आसचयन कर लिया गया था और ब्याज की दर के बढ़ने पर जिसका अनासंचयन किया जा सकता है, पूँजी का एक भाग है। ब्याज की दर के गिर जाने पर यह भी हो सकता है कि लोग बचाए हुए द्रव्य का आसंचयन कर लें और उसे उधार न दें। तथापि, बैंकों की साख भी पूँजी की पूर्ति का महत्वपूर्ण अंग है। 'क्लासिकल' सिद्धान्त ने इन सब की उपेक्षा की है और इसलिए अपूर्ण है।

(ख) 'क्लासिकल' सिद्धान्त की दूसरी मुख्य आलोचना यह है कि यह लोगों की आय पर पड़ने वाले विनियोग के प्रभाव का विचार नहीं करता। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से कम हो जाती है, तो पूंजी की माँग बढ़ जाती है, पर पूँजी की पूर्ति नहीं बढ़ती क्योंकि ब्याज की दर नीची है। फलस्वरूप, ब्याज की दर के कम होते हुए भी विनियोग

करना असंभव होगा। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है। यदि पूंजी की माँग बढ़ जाती है, अर्थात् यदि धन का और अधिक उत्पादन करने के लिए अधिक पूंजी की माँग की जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि लोगों की आय बढ़ जाएगी। दिये हुये स्वभाव होने पर, लोग आय के बढ़ने पर और अधिक बचाने लगेंगे। इस प्रकार, यह कहना सही नहीं है कि ब्याज की दर और बचत में विलोम (inverse) संबंध है। जब तक आय बढ़ती है—जो उधार ली हुई पूँजी का विनियोग करने पर अवश्य होगा—तब तक हो सकता है कि निम्नतर दरों में भी अधिक बचत हो और पूँजी की पूर्ति बढ़े। भले ही ब्याज की दर गिरे, यदि लोगों की आय बढ़ती जाती है तो अधिकाधिक पूँजी की पूर्ति होना संभव है।

(ग) उपर्युक्त समालोचना एक और अधिक मूलभूत समालोचना का जन्म देती है। ब्याज की दर पूँजी की माँग और पूर्ति पर आश्रित होती है। यदि हम जानते हैं कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कितनी है, तो किसी ब्याज दर पर कितनी पूँजी की माँग की जाएगी इसे जानना सदैव संभव है। पर पूँजी की पूर्ति कितनी होगी यह इतनी सुगमता से नहीं जाना जा सकता। पूंजी की पूर्ति लोगों की आय के स्तर पर आश्रित होती है और पूंजी के प्रत्येक विनियोग के साथ लोगों की आय का स्तर बदल जाता है। यदि साहसोद्यमी रुपया उधार लेता है और उसका प्रयोग धन का और अधिक उत्पादन करने में करता है, तो लोगों की आय बढ़ जाएगी। परन्तु इस प्रक्रिया में समय लगता है। इस प्रक्रिया के पूर्ण न हो जाने तक हम यह नहीं जान पायेंगे कि लोगों की आय कितनी होगी और वे उसमें से कितना बचायेंगे। और जब तक हम कुल बचत, या बाजार में पूँजी की कुल पूर्ति, न जानें, हम ब्याज की दर नहीं जान सकते क्योंकि वह पूँजी की माँग और पूर्ति पर आश्रित होती है। फिर, जब तक हम ब्याज की दर न जानें, हम आय के स्तर और वास्तविक बचत नहीं जान सकते और जब तक हम इन्हें नहीं जानते, हम ब्याज की दर नहीं जानेंगे। इसलिए ब्याज-दर का निर्धारण असंभव हो जाता है। पारिभाषिक शब्दों में, ब्याज का 'क्लासिकल' सिद्धान्त अनिर्धृत है।

'उधारणीय निधि' सिद्धान्त (The Loanable Funds Theory).
'क्लासिकल' सिद्धान्त के कुछ दोष स्वीडिश अर्थशास्त्रियों के 'उधारणीय' निधि सिद्धान्त द्वारा दूर किए गए। इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजी की पूर्ति निम्नलिखित चीजों से बनती है : (क) 'स्वायत्त' आय ('disposable' income) से की गई बचत। इसका तात्पर्य यह है कि लोग अपनी चालू आय में से, जो उन्हें अभी उपलब्ध नहीं हैं, नहीं बचाते हैं, वरन् गतावधि (past period) की आय में से बचाते हैं। यह आय वर्तमान अवधि में स्वायत्त हो जाती है; (ख) पिछली बचतों

का अनासंचयन। लोगों ने गतावधि में जो बचत की उसका आसंचयन कर लिया। यदि ब्याज की दर बढ़ जाय तो हो सकता है कि वे उसका अनासंचयन करेंगे और तब वह पूँजी की पूर्ति का एक भाग बनाएगी। परन्तु, यदि ब्याज की दर गिर जाती है, तो हो सकता है स्वायत्त आय में से की गई बचत के कुछ भाग का आसंचयन कर लिया जाय। इस स्थिति में 'शुद्ध' आसंचयन होगा और इस मात्रा तक पूँजी की पूर्ति चालू बचत से भी कम हो जाएगी; (ग) बैंक-साख (Bank Credit)। पूंजी की पूर्ति न केवल लोगों की बचत और 'शुद्ध' अनासंचयन से वरन् बैंक प्रणाली द्वारा अर्जित द्रव्य से भी बनती है। यह सच है कि इस प्रकार सर्जित द्रव्य अन्ततः लोगों की बचत पर आश्रित रहता है पर बैंक-साख द्वारा चालू पूँजी की पूर्ति में वृद्धि तो हो ही जाती है। इससे 'क्लासिकल' बचत सिद्धान्त अधिक विस्तृत हो जाता है और पूँजी की पूर्ति का कथन अधिक पूर्ण हो जाता है। 'क्लासिकल' सिद्धान्त की भाँति पूँजी की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर आश्रित होती है।

आसंचयन या अनासंचयन क्रमशः पूँजी का माँग या पूर्ति पक्ष समझा जा सकता है। यदि 'शुद्ध' आसंचयन होता है तो इसे हमें पूर्ति पक्ष में विभिन्न ब्याज की दरों पर पूँजी की पूर्ति कम कर के दिखा सकते हैं या यही चीज मांग पक्ष में विभिन्न ब्याज की दरों पर पूँजी की माँग बढ़ाकर दिखाई जा सकती है। यदि 'शुद्ध' अनासंचयन होता है तो इसे समरूपतः, माँग घटाकर या पूर्ति बढ़ाकर दिखाई जा सकती है। विभिन्न ब्याज की दरों पर 'उधारणीय' निधि की कुल राशि निकालने के लिए हम बैंक-प्रणाली द्वारा सर्जित द्रव्य को स्वायत्त आय में से की गई लोगों की बचत में जोड़ देते हैं। 'क्लासिकल' सिद्धान्त की भाँति इस सिद्धान्त में भी पूँजी का पूर्ति वक्र बाएँ से दाहिनी ओर उठता हुआ होगा। पूंजी की कुल मांग विनियोग और आसंचयन के लिए की गई माँगों के योग के बराबर होगी। 'क्लासिकल' सिद्धान्त की भाँति, पूँजी का मांग वक्र बाएँ से दाहिनी ओर गिरता हुआ होगा। ब्याज की दर उस स्थान पर निर्धारित होती है जहाँ ये दो वक्र मिलते हैं।

यह सिद्धान्त ब्याज के 'क्लासिकल' संस्करण से अधिक व्यापक है। यह न केवल लोगों की बचत पर वरन् उनके आसंचयन और अनासंचयन तथा बैंकों द्वारा सर्जित द्रव्य पर भी विचार करता है। इस प्रकार यह 'क्लासिकल' सिद्धान्त की एक समालोचना को दूर कर देता है। पर 'क्लासिकल' सिद्धान्त की अन्य दो समालोचनाएँ इस सिद्धान्त पर भी लागू होती हैं। ये समालोचनाएँ हैं कि: यह सिद्धान्त लोगों की आय पर पड़ने वाले विनियोग के प्रभाव पर

विचार नहीं करता और समस्या का समाधान अभी भी अनिर्धृत रह जाता है। "उधारणीय निधि विश्लेषण के अनुसार ब्याज की दर उधारनीय निधि की माँग-सारणी और उसकी पूर्ति-सारणी के प्रतिच्छेदन (intersect) द्वारा निर्धारित होती है। उधारणीय निधि की पूर्ति-सारिणी बचत (रॉबर्टसन की परिभाषानुसार), 'नए' द्रव्य की 'शुद्ध' वृद्धि और निष्कार्य शेषों (ideal balances) से मिलकर बनती है। पर चूँकि पूर्ति सारणी का 'बचत' वाला भाग स्वायत्त आय के स्तर के अनुसार परिवर्तित होता है, इसलिए पूँजी का कुल पूर्ति वक्र भी आय के अनुसार बदलता रहता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी अनिर्धृत है।

केन्स का सिद्धान्त. केन्स के अनुसार ब्याज की दर द्रव्य की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है और न तो बचत की माँग-पूर्ति के द्वारा और न ही उधारणीय निधि की माँग पूर्ति के द्वारा। इस सिद्धान्त के पूर्ति-पक्ष में द्रव्य की कुल राशि है और माँग-पक्ष में तरलता-अधिमान को तृप्त करने के लिए द्रव्य की कुल माँग। द्रव्य की माँग तीन प्रेरकों से उत्पन्न होती है—लेन-देन प्रेरक, पूर्वोपायी प्रेरक और पूर्वकल्पी प्रेरक। केन्स के अनुसार लेन-देन और पूर्वपायी प्रेरकों के कारण होने वाली द्रव्य की माँग आय के स्तर पर और पूर्वोकल्पी प्रेरक के कारण होने वाली द्रव्य की माँग ब्याज की दर पर आश्रित होती है। यदि द्रव्य की कुल माँग M है, और लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरक को तृप्त करने वाले द्रव्य की माँग M_1 और पूर्वकल्पी प्रेरक के कारण होने वाली माँग M_2 है, तो $M = M_1 + M_2$। केन्स ने यह मान लिया कि M_1 आय के स्तर पर आश्रित रहता है और ब्याज की दर से प्रभावित नहीं होता, परन्तु M_2 प्रत्यक्ष रूप से ब्याज की दर पर आश्रित होता है। यह परिकल्पना सामान्यतः यथार्थिक हैं, यद्यपि यह बिल्कुल संभव है कि ब्याज की दर के बढ़ जाने पर लोग लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरकों के लिए कम द्रव्य रखने लगें क्योंकि अब इन दो प्रेरकों के लिए अधिक द्रव्य रखने पर अधिक हानि होगी। यदि ब्याज की दर गिर जाय तो हो सकता है कि लोग इन दो प्रेरकों को तृप्त करने के लिए कम द्रव्य रखने लगें। परन्तु यदि मनुष्य सावधान हैं और अपने पास लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरकों के लिए उतना ही रखते हैं जितना रखना चाहिए, तो ब्याज की दर के बढ़ने घटने का इस राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए यह एक पूर्णतः मान्य परिकल्पना है कि लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरकों के लिए रखी गई द्रव्य की राशि ब्याज की दर से स्वतंत्र है। अतएव, पूर्वकल्पी प्रेरक के लिए होने वाला तरलता-अधिमान विभिन्न ब्याज की दूरी पर द्रव्य की माँग निर्धारित करता है। चित्र ६२ में द्रव्य

की पूर्ति वक्र M M' द्वारा दिखाया गया है। सरलता के लिए हमने यह मान लिया है कि द्रव्य की राशि बैंकों द्वारा बिना ब्याज की दर पर विचार किए हुए, नियत कर दी गई है। परन्तु ऐसा किया जाना आवश्यक नहीं है और हो सकता है कि बैंक-प्रणाली ब्याज की दर बढने पर अधिक द्रव्य का सर्जन करना चाहे तथा द्रव्य का पूर्ति वक्र बाएँ से दाहिनी ओर ऊपर को उठे। बैंकों द्वारा सर्जित द्रव्य की कुल राशि M (मान लीजिए १००० करोड रु०) में से M_1 राशि (मान लीजिए ७०० करोड रु०) लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरक को तृप्त करने के लिए रख जाते हैं। इसलिए पूर्वकल्पी प्रेरक को तृप्त करने के लिए बचने वाली द्रव्य राशि M_2 केवल ३०० करोड रु० होगी। यही राशि M_2 चित्र मे MM' वक्र द्वारा दिखाई गई है। परिकल्पी प्रेरक का तृप्त करने के लिए की जाने वाली द्रव्य की माँग तरलता-अधिमान सारणी LP' द्वारा दिखाई गई है। L P वक्र दिखाता है कि परिकल्पी प्रेरक के दिए हुए होने पर, इस प्रेरक
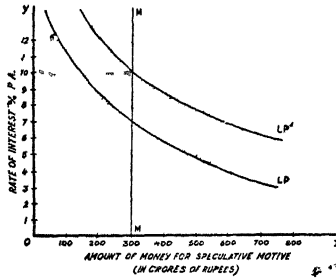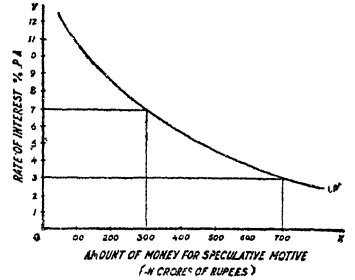
चित्र ६२ चित्र ६३

के लिए रखी गई द्रव्य राशि ब्याज की दर के गिरने पर बढ़ जाएगी और उसके बढ़ने पर गिर जाएगी। दी हुई दशाओं में, जैसा चित्र ६२ मे दिखाया गया है, ब्याज की दर संस्थिति में ७ प्रतिशत होगी क्योंकि इस दर पर द्रव्य की पूर्ति और माँग आपस में बराबर है। द्रव्य की पूर्ति के समान रहते हुए, यदि लोगो का तरलता अधिमान बढ़ जाता है और द्रव्य की माँग का वक्र तरलता-अधिमान वक्र L P' से दिखाया जाए, तो ब्याज की दर बढ़कर १० प्रतिशत हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि तरलता अधिमान सारणी L P समान रहती है, पर पूर्वकल्पी प्रेरक के लिए द्रव्य की पूर्ति ३०० करोड़ रुपये से बढ़ कर ७०० करोड रुपये हो जाती है, (जैसा चित्र ६३ में दिखाया गया है) तो ब्याज की दर ७ प्रतिशत से. गिर कर ३ प्रतिशत हो जाएगी। इस प्रकार ब्याज की दर द्रव्य की माँग और द्रव्य की पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।

केन्स के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ महत्वपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण कर दिया जाये।

(क) ब्याज की दर के परिवर्तन बन्धों के मूल्यों के परिवर्तनों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। बन्ध (bonds) उन प्रतिभूतियों (securities) को कहते हैं जिनसे नियत दर पर प्राप्ति (yield) होती है। मान लीजिए १०० रु० मूल्य वाले किसी बन्ध से होने वाली प्राप्ति ६ रु० प्रति वर्ष है और ब्याज की दर भी ६% है। इस स्थिति में बन्ध का मूल्य १०० रु० होगा क्योंकि ब्याज की दर के ६% होने पर ६ रु० प्राप्ति का पूँजीकृत (capitalized) अर्घ १०० रु० होगा। पर, यदि ब्याज की दर गिर कर ५% हो जाती है तो बन्ध का मूल्य १२० रु० हो जाएगा क्योंकि अब बन्ध से होने वाली प्राप्ति, ६ रु०, का पूँजीकृत अर्घ अधिक हो जायगा। समरूपतः यदि ब्याज की दर बढ़कर ८% हो जाती है तो बन्ध से मिलने वाली नियत प्राप्ति, ६ रु०, का पूँजीकृत अर्घ अब कम होकर ७५ रु० हो जायगा और बन्ध का मूल्य भी ७५ रु० हो जायगा। ये स्थितियाँ निम्नलिखित तालिका में दिखाई गई हैं। "ब्याज की दर वह मूल्य है जिस पर उधार लिया-दिया जाता है, या दूसरे शब्दों में, यह बन्ध के रूप में द्रव्य का मूल्य है। ब्याज की दर बन्धों को रखने की वांछनीयता और द्रव्य को रखने की वांछनीयता का समीकरण करती है।"

	बन्ध का मूल्य	बन्ध से प्राप्ति	ब्याज की दर
स्थिति १	१०० रु०	६ रु०	६ प्रतिशत
स्थिति २	१२० रु०	६ रु०	५ प्रतिशत
स्थिति ३	७५ रु०	६ रु०	८ प्रतिशत

(ख) यह स्पष्टतः जान लिया जाना चाहिए कि परिकल्पा प्रेरक के लिए रखी गई द्रव्य-राशि को केवल ब्याज की दर निर्धारित नहीं करती। वास्तव में केन्स ने जिस बात पर बल दिया है वह भविष्य में होने वाले ब्याज की दरों के परिवर्तनों की अनिश्चितता है। यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि कुछ लोग इस बात की आशंसा करते हैं कि भविष्य में ब्याज की दरें ऊँची होंगी तो वे अभी अपने पास नकद रख लेंगे, जिससे वे जब ब्याज की दर बढ़ती है तब इसका लाभ उठा सकें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भविष्य में ब्याज की दरों के बढ़ने की आशंसा कुछ लोगों को अधिक नकद और कम बन्धों को अपने पास रखने के लिए प्रेरित करेगी। फलस्वरूप, बन्धों की माँग कम हो जायगी और, अन्य बातों के समान रहने पर, बन्धों के मूल्य गिर जाएँगे। इस

प्रकार भविष्य में ऊँची ब्याज की दरों की आशंसा बन्धों के मूल्य को गिरा देती है और नीचे ब्याज की दरो की आशंसा बन्धों के मूल्य को बढ़ा देती है।

(ग) 'केन्सीय' अर्थशास्त्र में ब्याज की दर एक शुद्धतः द्राव्यिक घटना है और बैंक-व्यवस्था उसे नियन्त्रित कर सकती है। मान लीजिए कि पूर्वकल्पी प्रेरक के कारण तरलता अधिमान को तृप्त करने के लिए द्रव्य की माँग बढ़ जाती है और विनियोग को प्रोत्साहन देने के लिए ब्याज की दर को नीची रखना वांछनीय है। यदि बैंक-व्यवस्था द्रव्य की पूर्ति को बढ़ाए और लोगो क तरलता अधिमान को तृप्त करने के लिए अधिक निधि उपलब्ध करे, तो ब्याज की दर नीची रखी जा सकती है। केन्स के ब्याज सिद्धान्त की विशेषता है कि यह ब्याज के 'शुद्ध' सिद्धान्त को द्राव्यिक तन्त्र से संबंधित करता है और इस प्रकार साद्देश्य और वास्तविक बनाता है।

ब्याज के 'क्लासिकल' सिद्धान्त में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का प्रमुख स्थान था। बचत की माँग इसी के कारण होती थी। यदि किसी समय ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से अधिक या कम हो जाये तो बचत की पूर्ति तब तक बदलती रहेगी जब तक कि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के समनुरूप न हो जाय। यह किस प्रकार होता है इसे हम पहले ही समझा चुके हैं। केन्सीय अर्थशास्त्र में न केवल ब्याज की दर बल्कि पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता भी परिवर्तित होती है। प्रो० डडले डिलार्ड ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है ; "विनियोग की मात्रा निर्धारण करने से पहले ब्याज की दर और पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता ज्ञात अवश्य होनी चाहिए। ये दो दरें एक दूसरे से स्वतत्र रूप से निर्धारित की जाती हैं : सीमान्त कार्यक्षमता परिसम्पत्त (assets) के पूर्ति-मूल्य और संभावी प्राप्ति का परिणामी होती है और ब्याज की दर तरलता अधिमान सारणी और द्रव्य के परिमाण का परिणामी है। यह कहने का कि विनियोग उस स्थान तक किया जाएगा जहाँ पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता ब्याज की दर के बराबर हो जाती है, अर्थ यह नहीं है कि ये दरें एक ही चीज पर या एक दूसरे पर आश्रित होती हैं और विनियोग इन पर आश्रित होता है। परन्तु, एक अर्थ में पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता ब्याज की दर के अनुसार समायोजन करती है, न कि इसके विपरीत, क्योंकि विनियोग की मात्रा के परिवर्तन पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं परन्तु ब्याज की दर पर प्रभाव नहीं डालते और विनियोग की मात्रा के परिवर्तन इन दोनों को बराबर बनाते हैं। जब तक पूँजी की सीमान्त कार्य-क्षमता ब्याज की दर से अधिक होती है, विनियोग होता रहेगा, और जब कोई

ऐसे विनियोग नहीं रहेंगे जिनके लिए सीमान्त कार्यक्षमता ब्याज की दर से अधिक हो, तब विनियोग रुक जायगा।"

समालोचना. ब्याज के केन्सीय सिद्धान्त ने आर्थिक संहति के कार्यकरण को अधिक अच्छी तरह समझना संभव बनाया है। केन्स के ब्याज सिद्धान्त में कई विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह अन्य सिद्धान्तों से प्रकृष्ट है।

(क) केन्स ने इस तथ्य पर जोर दिया कि लोग केवल द्रव्य रखने और वस्तुओं में चुनाव नहीं करते (जैसा 'क्लासिकल' अर्थशास्त्री बताते हैं), वरन् द्रव्य रखने, वस्तुओं और बन्धों में चुनाव करते हैं। यदि भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों के बढ़ने की आशंसा है तो लोग इस वृद्धि का लाभ उठाने के लिए वस्तुएँ खरीदते हैं। परन्तु, यदि भविष्य में वस्तुओ के मूल्यो के गिरने की आशंसा है तो लोग द्रव्य को अपने पास रखने को अधिमान देंगे। यह था 'क्लासिकल' दृष्टिकोण। केन्स ने बताया कि यदि भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों के गिरने की आशंसा है तो हो सकता है कि लोग अपने पास नकद रखने के स्थान पर बन्धों को रखें— यदि ब्याज की दर के अपरिवर्ती रहने की आशंसा हो। यदि भविष्य में ब्याज की दर के भी बढ़ने की संभावना हो, तभी लोग अपने पास नकद रखने को अधिमान देंगे। "इसलिए परिकल्पी प्रेरक के अन्तर्गत द्रव्य रखने की इच्छा की पर्याप्त व्याख्या भविष्य के वस्तु-मूल्यों के बारे में अनिश्चित आशंसा मात्र नहीं है। परिकल्पी उद्देश्य के परिवर्तनो के लिए द्रव्य रखने की इच्छा बन्धों के मूल्यो के परिवर्तनों से अधिक घनिष्ट रूप से संबंधित है। कहने का अर्थ यह है कि यह ब्याज की दरो के परिवर्तनों की आशंसा पर आश्रित होती है।" केन्स का उपगमन क्लासिकल उपगमन की अपेक्षा अधिक यथार्थिक है।

(ख) जैसा हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, केन्स का सिद्धान्त ब्याज के निर्धारण में आशंसा के कार्य पर जोर देता है। "परिकल्पी प्रेरक को संतुष्ट करने के लिए द्रव्य की माँग चालू ब्याज की दर पर उतना आश्रित नहीं होती जितना ब्याज की दर के परिवर्तनों की आशंसा पर।" अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी आशंसा के कार्य को मान्यता दी थी परन्तु केन्स की भाँति उन्होंने यह नहीं सोचा था कि ब्याज की दर के परिवर्तनों की आशंसाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

(ग) जैसा वास्तव में है, केन्स ने ब्याज को शुद्धतः द्राव्यिक घटना बनाया। ब्याज की दर के प्रतिशत प्रतिवर्ष का भुगतान होने के कारण वह अवश्य ही द्रव्य में अभिव्यक्त किया जाना चाहिए और इसकी व्याख्या भी मुख्यतः द्राव्यिक रूप में की जानी चाहिए। केन्स ने ब्याज से सम्बन्धित सब बाह्य और असंगत समस्याओं को दूर कर दिया। अथापि, उसे शुद्धतः द्राव्यिक घटना मानकर और

उसको द्राव्यिक व्याख्या देकर केन्स ने ब्याज के शुद्ध सिद्धान्त और द्रव्य-बाजार तन्त्र में संबंध स्थापित किया।

(घ) केन्स के ब्याज के सिद्धान्त की सबसे बड़ी देन 'क्लासिकल' सिद्धान्त के संस्थिति के बारे में संभ्रम को स्पष्ट करना है। क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार वर्धित (increased) विनियोग तभी संभव है, जब ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से कम हो। परन्तु ब्याज की दर घटाई जाती है तो, क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार, बचत कम हो जाएगी और परिणामतः बाजार में पूँजी की पूर्ति कम हो जाएगी। इस प्रकार, विनियोग बढ़ाने के लिए नीची ब्याज-दर की आवश्यकता होती है, परन्तु ब्याज-दर के गिर जाने पर पूँजी की पूर्ति कम हो जाती है। इस प्रकार हमें गत्यवरोध (stalemate) का सामना करना पड़ता है और इन दशाओं में पूर्ण वृत्ति को प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं रह जाती। केन्स ने (क) बचत और ब्याज की दर, और (ख) बचत और पूँजी की पूर्ति के संबंधों को अलग करके इस समस्या का समाधान किया। केन्सीय सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर का बचत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लोग ब्याज की दर के ऊँची होने के कारण नहीं बचाते, वरन् उनके बचाने का कारण या तो यह है कि वे अपनी आय को खर्च नहीं कर पाते या बाल बच्चों या बुढ़ापे के कारण उसे खर्च करना नहीं चाहते। यदि आय दी हुई हो और जीवन-स्तर नियत हो तो ब्याज की दर के गिरने पर भी लोग कम नहीं बचाएँगे और वे ब्याज की दर के बढ़ने पर संभवतः अधिक नहीं बचा सकेंगे। यदि हम समस्त पर विचार करें तो हम पाएँगे कि ब्याज की दर और बचत में प्रत्यक्ष और घनात्मक संबन्ध स्थापित करना संभव नहीं है।

जहाँ तक ब्याज की दर पर बचत के प्रभाव की बात है, यह बिल्कुल संभव है कि बचत किए जाने पर ब्याज की दर गिर जाए क्योंकि बचत के बढ़ जाने से बाजार में पूँजी की पूर्ति बढ़ जाएगी। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने बचत को अद्वितीय स्थान दिया, परन्तु केन्स के अनुसार बचत पूँजी की पूर्ति का केवल एक भाग है और बचत के परिवर्तनों का ब्याज की दर पर उतना प्रत्यक्ष और शक्तिशाली प्रभाव नहीं पड़ता जितना 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने सोचा था।

केन्स की एक अन्य महत्वपूर्ण देन यह है कि विनियोग किए जाने पर लोगों की आय बढ़ेगी और उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) के दिए हुए होने पर, लोग इस उच्चतर आय में से द्रव्य की वृहत्तर राशि बचाएँगे। ऐसा तब तक होता रहेगा जब तक, संस्थिति

में, विनियोग के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय पूर्ण मात्रा तक बढ़ न जाय और बचत एवं विनियोग फिर से आपस में बराबर न हो जायँ। क्लासिकल सिद्धान्त में विनियोग बढ़ाना असंभव बना दिया गया था क्योंकि बचत से संगत वृद्धि नहीं की जा सकती। परन्तु केन्सीय सिद्धान्त के अनुसार एक बार विनियोग कर लिए जाने पर बचत स्वतः यथा समय हो जायगी। यह पूर्ण वृत्ति संस्थिति (full employment equilibrium) प्राप्त करने की एक विधि बताता है। जैसे-जैसे नया विनियोग बढ़ाया जाता है, उसी के अनुसार नई बचत स्वतः होने लगती हो। इस प्रकार बिना बचत की कमी का सामना किए हुए हम अधिक विनियोग करने में समर्थ होते हैं और यह प्रक्रिया पूर्ण वृत्ति के प्राप्त होने तक चलती रहती है। केन्स की इस देन ने पूर्ण वृत्ति संस्थिति के बारे में हमारे कई विचारों को स्पष्ट किया है। उधारणीय निधि सिद्धान्त और केन्स के पूर्ववर्ती कई अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी इस बात पर बल दिया था कि केवल चालू बचत ही पूँजी की पूर्ति का स्रोत नहीं है और अनासंचयन एवं बैंक-साख भी पूँजी की पूर्ति के, यदि अधिक नहीं तो, समानतः महत्वपूर्ण स्रोत हैं। परन्तु केन्स ने यह बताया कि प्रत्येक नये विनियोग के साथ किस प्रकार बचत स्वतः बढ़ जाती है और संस्थिति में बचत फिर से विनियोग के बराबर हो जाती है।

केन्स के ब्याज के सिद्धान्त की कुछ समालोचनाएँ भी की गई हैं। इनमें से कुछ पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं (जब हम इस बात पर विचार कर रहे थे कि ब्याज क्यों लिया जाता है)। अन्य समालोचनाएं निम्नलिखित हैं।

(क) केन्स अपने ब्याज के सिद्धान्त को द्रव्य की पूर्ति पर आधारित तो करता है, परन्तु वह 'द्रव्य' और 'पूर्ति' के अर्थ के बारे में स्पष्ट नहीं है। यह एक आधार रहित समालोचना है। जहाँ तक द्रव्य के अर्थ का प्रश्न है, इसका अर्थ केन्स और अन्य सब के लिए एक ही है और वह है किसी समय विद्यमान सिक्कों, नोटों और बैंक जमा की कुल राशि। जहाँ तक द्रव्य की पूर्ति का प्रश्न है, जैसा चित्र ६२ और ६३ में दिखाया गया है, इसका तात्पर्य उस पूर्ति से है जो परिकल्पी प्रेरक को तुष्ट करने के लिए उपलब्ध होती है। मान लीजिए द्रव्य की कुल पूर्ति १,००० करोड़ रु० है और इसमें से ७०० करोड़ रु० लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरक को संतुष्ट करने के लिए रखा जाता है। शेष ३०० करोड़ रु० परिकल्पी प्रेरक को तृप्त करने के लिए उपलब्ध हैं और यह पूर्ति और परिकल्पी प्रेरक की तृप्त करने की माँग-सारणी ब्याज की दर निर्धारित करती है। अब यदि द्रव्य की पूर्ति बढ़कर १२०० करोड़ रु० हो जाती है और लेन-देन एवं पूर्वोपायी

प्रेरक को तृप्त करने वाले द्रव्य की माँग समान रहती है तो परिकल्पी प्रेरक को तृप्त करने वाले द्रव्य की पूर्ति बढ़कर ५०० करोड़ रु० हो जाएगी। परन्तु यदि आय स्तर बढ़ जाता है तो लेन-देन प्रेरक और पूर्वोपायी प्रेरक को तृप्त करने के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और परिकल्पी प्रेरक को तृप्त करने वाली द्रव्य-राशि उसी मात्रा तक कम हो जाएगी। इसमें कोई संदिग्धता नहीं है। केवल एक कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि ब्याज की दर का लेन-देन और पूर्वोपायी प्रेरकों के लिए रखी गई द्रव्य-राशि पर प्रभाव पड़े। इस कठिनाई पर हम आगे विचार करेंगे। पर, यदि हम यह मान लें कि इन दो प्रेरकों के लिए रखी गई राशि केवल आय के स्तर पर आश्रित रहती है और परिकल्पी प्रेरक के लिए रखी गई आय ब्याज की दर पर आश्रित रहती है, तो कोई कठिनाई नहीं होती है।

(ख) कहा गया है कि पूँजी के माँग-पक्ष पर विचार करते समय 'क्लासिकल' अर्थशास्त्रियों ने पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को महत्व देकर ठीक किया था, परन्तु केन्स ने पूँजी की सीमान्त कार्य-क्षमता को ब्याज के निर्धारण में कोई स्थान न देकर गलती की। "हो सकता है कि ब्याज की व्याख्या करने के लिए द्राव्यिक सिद्धान्त अधिक संतोषजनक प्रतीत हो क्योंकि प्रतिभूतियों की कुल राशि की तुलना में नवीन उधारों का प्रवाह अल्प होता है। परन्तु हमें पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को पूर्णतः अलग नहीं कर देना चाहिए। यह एक तथ्य है कि उत्पादन में समय लगता है और अधिक पूँजी का प्रयोग करने वाली रीतियाँ अधिक उत्पादक होती हैं। यह भी एक तथ्य है कि इन दोनों के कारण उद्योग और व्यवसाय मुक्त पूँजी की माँग करते हैं और पूँजी को प्रयोग करने के कारण आय में वृद्धि होती है जिसमें से ब्याज दिया जाता है। निर्धन देशों में ब्याज की दर के ऊँचे होने का कारण पूँजी की कमी और उसकी सीमान्त उत्पादकता अधिक होती है, और इस स्थिति को द्रव्य की मात्रा बढ़ाकर नही सुधारा जा सकता। ग्रेट ब्रिटेन जैसे देशों में हो सकता है कि द्राव्यिक शक्तियाँ 'वास्तविक' शक्तियों को अभिभूत करती हुई प्रतीत हों। परन्तु लाभ की आशंसित दर में (अर्थात्, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में) कोई विशेष परिवर्तन—ऊर्ध्वमुखी या अधोमुखी—की प्रवृति ब्याज की दर में उसी दिशा में परिवर्तन करने की होगी।" केन्सीय सिद्धान्त 'क्लासिकल' सिद्धान्त से अधिक व्यापक और सामान्य है। सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित माँग पूँजी की कुल माँग का एक अंश मात्र है और पूँजी के माँग-पक्ष में केवल सीमान्त उत्पादकता पर विचार करना गलत होगा। निर्धन देशों की ब्याज की दर के ऊँचे होने का कारण पूँजी की सीमान्त

उत्पादकता का ऊँचा होना नहीं वरन् लोगो के तरलता अधिमान का ऊँचा होना है। जैसा हम पहले ही बता चुके हैं, वास्तविक बात यह है कि जबकि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को निश्चायक कारक (deciding factor) माना और ब्याज को उसके अनुसार समायोजन करता हुआ माना, केन्स ने बताया कि सीमान्त कार्यक्षमता भी ब्याज के अनुसार समायोजन करती है।

(ग) केन्स के ब्याज-सिद्धान्त की वास्तविक समालोचना यह है कि 'क्लासिकल' और 'उधारणीय निधि' सिद्धान्तो की भाँति यह भी अनिधृ त है। ब्याज की दर निकालने के लिए हमें परिकल्पी प्रेरक को तृप्त करने वाली द्रव्य की राशि का ज्ञान होना चाहिए। और यदि ब्याज की दर मालूम न हो तो इसे हम नहीं जान सकते। इस प्रकार केन्स का सिद्धान्त भी अनिधृ त हो जाता है। फिर, केन्स मानता है कि लेन-देन और पूर्वकल्पी प्रेरकों के लिए रखी गई द्रव्य-राशि ब्याज की दर से स्वतन्त्र है। पर ऐसा होना आवश्यक नहीं है। यदि ब्याज की दर गिर जाती है तो लोग इन दो प्रेरकों को तृप्त करने के लिए अपने पास अधिक द्रव्य रखने लगेंगे और ब्याज की दर के गिर जाने पर इसके विपरीत होगा। इसलिए, परिकल्पी प्रेरक के लिए रखी गई द्रव्य-राशि को जानने के लिए हमें सर्वप्रथम ब्याज की दर जाननी चाहिए और ब्याज की दर जानने के लिए हमें परिकल्पी प्रेरक के लिए रखी गई द्रव्य-राशि ज्ञात होनी चाहिए। परन्तु केन्स के सिद्धान्त में कम से कम इतना तो है कि ब्याज के निधृ त सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए जिन तत्वों की आवश्यकता पड़ती है वे सब इसमें हैं। इन्हीं के आधार पर हिक्स, हन्सन और अन्य ने ब्याज का निधृ त सिद्धान्त निकाला है। इससे केन्स के सिद्धान्त की प्रकृष्टता प्रमाणित हो जाती है।

अध्याय २७

लाभ

(Profits)

आर्थिक सिद्धान्त में लाभ से तात्पर्य व्यवसायिक सम्भाषण से भिन्न होता है। व्यवसायिक प्रयोग मे लाभ कुल विक्रयागम (total sale proceeds) तथा कुल लागत के अन्तर को कहते हैं। यथार्थ में इस अवशेष के अन्तर्गत साहसोद्यमी तथा उसके परिवार के श्रम की मजदूरी, उसके स्वयं के विनियोग पर ब्याज, तथा उस स्थान का किराया जिस पर व्यवसाय किया जा रहा है, सम्मिलित है। यह अवशेष कुल लाभ होता है। निवल लाभ (net profit) की जानकारी प्राप्त करने के लिये कुल लाभ में से इन सभी भुगतानों को अवश्य घटा देना चाहिए। संयुक्त पूँजी उद्योग (joint stock enterprise) में लेखा अत्यन्त सावधानी से रखा जाता है तथा कुल लाभ प्राप्त करने के पूर्व इन व्ययों की व्यवस्था कर दी जाती है। कुल लाभ में से आयकर तथा विशेष प्रारक्षण (reserve) की व्यवस्था करने के बाद ही निबल लाभ निकाला जाता है। यह तो व्यवसायिक प्रयोग मे लाभ का अर्थ है।

आर्थिक सिद्धान्त मे लाभ साहसोद्यमी के, जो अन्य उत्पादन के साधनों (भूमि, श्रम तथा पूँजी) के सदृश एक उत्पादन का साधन है, कार्य के लिये किया गया भुगतान है। साहसोद्यमी मुख्यतया दो कार्य करता है। (अ) संयोजन तथा (ब) जोखिम उठाना। मार्शल ने स्पष्ट रूप से इन दो कार्यों में भेद प्रस्तुत कर साहसोद्यमी के इन दोनो कार्यों को अलग अलग दिखलाने के लिए लाभ को दो श्रेणियों मे विभाजित किया। संयोजन के कार्य के लिए, जो अन्य श्रमिक के कार्य जैसा नित्य कर्म सदृश है, साहसोद्यमी को सामान्य लाभ मिलता है तथा जोखिम उठाने या अनिश्चितता वहन करने के लिए, जिसमे निर्णय कार्य निहित है और जो विशेष प्रकार का कार्य है, साहसोद्यमी को शुद्ध लाभ मिलता है।

सामान्य लाभ. साहसोद्यमी सयोजन का कार्य करता है जिसके लिये वह सामान्य लाभ अर्जित करता है। अन्य उत्पादन के साधनों के सदृश साहसोद्यमी की भी सीमान्त उत्पादकता होती है तथा सामान्य लाभ साहसोद्यमी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है। पूर्ण प्रतियोगिता में, सस्थिति की स्थिति

में, साहसोद्यमी केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करता है क्योंकि इस स्थिति में पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण दूरदर्शिता का होना कल्पित कर लिया जाता है जिससे वैसा ही होता है जैसी आशा की जाती है। अतः इस दशा में किसी भी प्रकार का जोखिम नहीं होता। ऐसी स्थिति में साहसोद्यमी को केवल संयोजन का कार्य करना होता है जो उत्पादन के कार्यों की देख भाल तथा सभी विभागों—विक्रय, क्रय तथा उत्पादन तथा अन्य विभाग—के समुचित संचालन तथा उसके सभी कर्मचारियो के ठीक प्रकार से कार्य करने की व्यवस्था करने से सम्बन्धित है। प्रबन्धक जो सयोजन का कार्य करता है उसे यह देखना होता है कि निश्चित राशि का उत्पादन हो रहा है या नही तथा वस्तुएँ निश्चित गुण वाली उत्पादित की जा रही हैं अथवा नहीं। वह यह भी देखता है कि कच्चे माल, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधन वांछित गुण वाले हैं या नहीं तथा उन्हें उचित मूल्य दिया जा रहा है या नहीं। ये सभी क्रियायें नित्य-कार्य सदृश (routine type) हैं और इनके लिये मौलिक चिन्तन तथा निर्णय करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती। संगठनकर्ता को केवल यह विश्वसनीय रूप से देखना होता है कि जोखिम उठाने वाले साहसोद्यमी द्वारा दिये गए सभी आदेशों का पूर्ण रूप तथा उचित ढंग से पालन किया जा रहा है या नही। सामान्य लाभ मजदूरी के समान होता है; दोनो में अन्तर केवल इतना ही है कि मजदूरी भाड़े पर लगाने वाले साधन (साहसोद्यमी) द्वारा भाड़े पर लगाये गए साधन (श्रम) को दी जाती है, जब कि सामान्य लाभ साहसोद्यमी द्वारा स्वयं को संगठनकर्ता के रूप में दिया जाता है। सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा यदि सामान्य लाभ को मजदूरी कहा जाय, क्योंकि इन दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

शुद्ध लाभ (pure profits). शुद्ध लाभ जोखिम उठाने या अनिश्चितता वहन करने के लिये अर्जित किया जाता है। यह एक प्रकार का मौलिक तथा कठिन कार्य होता है। इसके लिए साहसोद्यमी को अपने सर्वोत्तम गुणों का प्रयोग करना होता है। शुद्ध लाभ ही निजी उद्यम (Private enterprise) की आत्मा है तथा एक साहसोद्यमी की अन्य साहसोद्यमी से श्रेष्ठता ही उसे अधिक शुद्ध लाभ प्रदान करती है। जब हम यह कहते हैं कि लाभ ही पूँजीवादी व्यवस्था की जीव शक्ति है तब हमारा आशय शुद्ध लाभ से ही होता है। एक साहसोद्यमी जो भविष्य के बारे में अधिक अच्छी पूर्वकल्पना कर सकता है तथा जिसका अनुमान अधिक सही होता है ,वह उस साहसोद्यमी की अपेक्षा जो

कम निपुण है तथा जिसका अनुमान अधिक सही नहीं होता, अधिक शुद्ध लाभ अर्जित करने में समर्थ होता है।

जोखिम की प्रकृति. हममें से प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यवसाय के सम्मुख चोरी, आग इत्यादि जोखिम हमेशा उपस्थित रहते हैं। परन्तु वास्तव में ये जोखिम नहीं हैं क्योंकि इनका बीमा कराया जा सकता है। हम लोगों के मस्तिष्क में जिस प्रकार का जोखिम है तथा जिसके परिणाम स्वरूप शुद्ध लाभ अथवा शुद्ध हानि होती है उसके विरुद्ध बीमा नहीं कराया जा सकता। इन जोखिमों को न तो ठीक प्रकार से नापा जा सकता है और न ही इनके विरुद्ध रक्षा की जा सकती है। ये जोखिम मूल्य तथा प्रदा (output) सम्बन्धित निर्णय लेने से होते हैं।

(१) साहसोद्यमी को बाजार में वस्तुओं की कुल भावी मांग के सम्बन्ध में पहले से ही परिकल्पना करनी होती है। मान लीजिए एक मोटर का उत्पादक है। उसे एक वर्ष पूर्व ही इस बात का निर्णय करना होगा कि भविष्य में कुल कितनी मोटर कारें बिकेंगी। उसके पास यद्यपि अतीत में हुई बिक्री के आंकड़े होते हैं फिर भी वे भविष्य में होने वाली बिक्री के बारे में केवल संदिग्ध जानकारी प्रदान करने में समर्थ होते हैं। उसे लोगों की आय, उनकी रुचि, तथा बाजार में वैकल्पिक वस्तुओं की प्रतियोगिता को भी ध्यान में रखना होता है। मान लीजिए वह उपलब्ध सूचनाओं तथा अपने विवेक के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब भविष्य में उसकी वस्तु बाजार में विक्रय के लिए आ जायेगी तब ६० लाख कारें बाजार में बिका करेंगी। दूसरा महत्वपूर्ण निर्णय जो उसे करना होता है वह यह है कि इन ६० लाख कारों में से वह स्वयं कितनी कारों को बेचने में समर्थ हो सकेगा। इस स्थिति में उसे अन्य प्रतियोगियों की उत्पादन लागत तथा विक्रय कार्यक्षमता की तुलना अपनी उत्पादन लागत तथा विक्रय कार्यक्षमता से करनी होती है। उसे अपनी दशा तक में भी भावी लागत के विषय में सही सूचना नहीं प्राप्त हो पाती और अपने प्रतियोगियों के बारे में तो और भी सूचना नहीं प्राप्त हो पाती। मान लीजिए वह उपलब्ध ज्ञान तथा अपने अनुमान से यह निश्चय करता है कि वह ५० लाख कारों को प्रतिवर्ष बेच सकने में समर्थ हो सकेगा। इसमें जो सबसे बड़ा जोखिम अन्तर्निहित है तथा जिसके विरुद्ध बीमा नहीं कराया जा सकता वह यह है कि साहसोद्यमी ५० लाख कारों को निश्चित समय पर न बेच सके, अथवा जब कारों की माँग अधिक हो तब वह ५० लाख से अधिक कार प्रदान करने में समर्थ न हो पाये। उसका अनुमान गलत होने पर उसे शुद्ध हानि होगी और यदि उसका अनुमान सही होता है तो उसे शुद्ध लाभ होगा।

(२) ऐसी नवीन या पूर्व प्रचलित वस्तुओं जिनमें उपभोक्ताओं की रुचि में शीघ्र ही परिवर्तन होता रहता है उनमें इस प्रकार का जोखिम निहित है कि साहसोद्यमी द्वारा उत्पादित वस्तु उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन हो जाने के कारण बिल्कुल न बिके। यदि साहसोद्यमी ने उपभोक्ता की भावी रुचि के बारे में गलत अनुमान लगाया है तब उसे शुद्ध हानि होगी अन्यथा लाभ।

(३) सबसे बड़ा जोखिम मूल्य सम्बन्धित है जिस पर उसे भविष्य में अपनी वस्तु को बेचना है क्योंकि इसी सम्भावित मूल्य के आधार पर ही वह लगाये गए उत्पादन के साधनो को भुगतान करता है। मान लीजिए वह सोचता है कि उसके द्वारा निर्मित कार भविष्य में १०,००० रुपये में बिकेगी। सीमान्त उत्पादकता, अर्थात् मोटर कार बनाने के लिए लगाये गए विभिन्न उत्पादन के साधनों की सीमान्त-उत्पत्ति मूल्य, का परिकलन (calculation) १०,००० रुपये प्रतिकार के मूल्य के आधार पर होगा। यदि बेचने के समय कार का मूल्य केवल ८,००० रुपये प्रति कार हो जाता है तब उसे २,००० रुपये प्रति कार शुद्ध हानि होगी क्योंकि साहसोद्यमी ने १०,००० रुपये प्रतिकार के मूल्य के आधार पर ही अन्य उत्पादन के साधनो को भुगतान किया था। परन्तु यदि बेचने के समय कार का मूल्य बढ़कर १२,००० रुपये हो जाता है तब उसे २,००० रुपये प्रति कार पर शुद्ध लाभ होगा।

यहाँ पर यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि निर्मित पदार्थों के भावी मूल्य को कम से कम मान लेने में ही साहसोद्यमी का सर्वाधिक हित निहित है क्योंकि उसके द्वारा अनुमानित मूल्य से वास्तविक भावी मूल्य कभी कम हो हा नहीं सकता। परन्तु साहसोद्यमी बाजार में अकेला ही उत्पादक नहीं होता। उसी वस्तु के अन्य उत्पादक भी होते हैं। यदि वे भविष्य में अधिक मूल्य का अनुमान कर उसी अनुसार उत्पादन के साधनो को भुगतान करते हैं तब अन्य उत्पादकों को भी वैसा ही करना पड़ेगा नहीं तो वह विभिन्न उत्पादन के साधनों को प्राप्त करने में नहीं समर्थ हो सकेंगे। साहसोद्यमी के भावी मूल्य सम्बन्धित अनुमान तथा कल्पनाओं का अन्य प्रतियोगियों के अनुमान तथा कल्पनाओं से समानीकरण द्वारा जो प्रत्येक प्रतियोगी उत्पादक को वास्तविक जोखिम होता है वह शुद्ध लाभ का वास्तविक आधार है।

लाभ क्यों होता है

पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार में क्रेताओ और विक्रेताओं की अधिक संख्या, पूर्ण गतिशीलता, पूर्ण दूरदर्शिता, तथा उद्योग फर्मों के निर्विघ्न प्रवेश के कारण कुल

विक्रयागम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न उत्पादन के साधनो को दिये गए मजदूरी, ब्याज तथा सामान्य लाभ के बराबर होता है तथा इसके उपरान्त न तो कोई अतिरेक ही बचता है और न कमी ही होती है। वास्तविक व्यवहार में माँग तथा पूर्ति में समायोजन होने में समय लग सकता है तथा कुछ दशाओ में उत्पादन के साधनो को किया गया भुगतान या तो विक्रयागम से कम हो सकता है अथवा अधिक। इन परिस्थितियो में घर्षणात्मक (frictional) लाभ या हानि हो सकती है। चूँकि इनकी प्रकृति अस्थायी तथा क्षणिक होती है अतः इनके लिए एक अलग सिद्धान्त का निर्माण नही किया गया है।

अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की स्थिति में साहसोद्यमी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त एकाधिकारिक लाभ भी मिलता है। इस प्रकार का एकाधिकारिक लाभ एकाधिकार के सिद्धान्त द्वारा समझाया जाता है इसलिए हम यहाँ उसपर विचार नहीं कर रहे हैं। यहाँ हम यह जानने की चेष्टा कर रहे हैं कि क्यो और किस प्रकार से किसी समय कुछ साहसोद्यमियों को सामान्य लाभ से अधिक लाभ प्राप्त होता है जो घर्षणात्मक लाभ या एकाधिकारिक लाभ से भिन्न होता है। ये भिन्न प्रकृति के होते हैं तथा द्राव्यिक लागत से अधिक होते हैं। मार्शल ने उन्हें शुद्ध लाभ कहा। प्रोफेसर मेहता उसे आकस्मिक लाभ (accidental gain) कहते है। जिस प्रकार से शुद्ध लाभ तथा आकस्मिक लाभ हो सकते हैं उसी प्रकार से शुद्ध हानि तथा आकस्मिक क्षति (accidental loss) भी हो सकती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कभी-कभी ये हानि तथा लाभ अस्थायी नही होते वरन् स्थायी होकर न केवल साहसोद्यमी विशेष के वरन् सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के एक सामान्य अंग बन जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी न किसी को सदा शुद्ध हानि या शुद्ध लाभ अवश्य होता होगा। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार और क्यो इस तरह के शुद्ध लाभ तथा शुद्ध हानियाँ होती है?

प्रवैगिक अतिरेक के रूप में (as dynamic surplus). जे. बी. क्लार्क तथा उसके सदृश अन्य विचारको का विश्वास था कि इस प्रकार के लाभ प्रवैगिक अतिरेक होते हैं। उनके अनुसार स्थैतिक दशाओ तथा अपरिवर्तनशील स्थितियो में इस प्रकार का लाभ नहीं होता क्योकि सीमान्त उत्पादकता के अनुसार सभी उत्पादन के साधनो को भुगतान कर लेने के बाद कुल प्रदा में से कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इस स्थिति मे, सस्थिति मे, प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी द्राव्यिक लागत के बराबर होता है (जिसमें सामान्य लाभ भी सम्मिलित है) तथा कोई अतिरेक नहीं बचता। लाभ उपभोक्ता की अभिरुचि, वैज्ञानिक

तथा प्राविधिक ज्ञान, जनसंख्या, पूँजी की पूर्ति तथा औद्योगिक संगठन के स्वरूप, सदृश्य प्रवैगिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्पादन होता है। इस प्रकार के परिवर्तन एक साहसोद्यमी को दूसरे से अधिक श्रेष्ठ बनाने में समर्थ हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे अधिक लाभ अर्जित करने में समर्थ हो पाते हैं। एक निपुण साहसोद्यमी इस प्रकार के परिवर्तनों को अपने अनुकूल कर अन्य उत्पादकों से पूर्व ही नवीन वस्तुओं का उत्पादन करके, अथवा प्रवर्तमान पदार्थों की उत्पादन लागत में कमी करके, अतिरिक्त लाभ अर्जित करने में समर्थ होता है।

परन्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध दो प्रमुख आलोचनाएँ की जाती हैं : (१) यह साहसोद्यमी के कार्यों को भलीभाँति समझकर उनका उचित मूल्यांकन नहीं कर पाता। यदि स्थैतिक दशा में लाभ नहीं होता तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस स्थिति में साहसोद्यमी नहीं होता क्योंकि हम चाहे जिस ढंग से लाभ को परिमाणित करें इसे अवश्य ही साहसोद्यमी को मिलना चाहिए। परन्तु बिना साहसोद्यमी के हम इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि किस प्रकार से उत्पादन के विभिन्न साधन एकत्रित करके संयोजित किए जायेंगे और स्थैतिक दशा में भी किस प्रकार से उत्पादन होगा। मार्शल ने इस कठिनाई का समाधान 'सामान्य लाभ' के सम्बोध से किया जो साहसोद्यमी को उसके संगठन करने की क्षमता के बदले में स्थैतिक दशा में भी दिया जाता है। (२) यह सत्य है कि स्थैतिक दशा में लाभ नहीं होगा परन्तु केवल उपभोक्ता की रुचि, वैज्ञानिक प्रविधि तथा ज्ञान, जनसंख्या, पूँजी की पूर्ति तथा औद्योगिक संगठन में परिवर्तन के कारण ही लाभ नहीं हो सकता यदि इस प्रकार के परिवर्तनों की जानकारी पहले ही हो जाय। केवल अनिश्चित तथा अज्ञात परिवर्तनों के कारण ही लाभ उत्पन्न हो सकता है। परन्तु यदि हम लाभ को एक प्रवैगिक अतिरेक कहते हैं तब उससे यह प्रतीत होता है कि सभी परिवर्तन—चाहे उन्हें पहले से जाना जा सके अथवा नहीं—लाभ को उत्पन्न करते हैं। जे. बी. क्लार्क तथा उसके अनुयायियों ने इस बात को अधिक स्पष्ट नहीं किया और संभवतः इस बात को भली भाँति समझ न सके कि पूर्व ज्ञात भावी परिवर्तन, जो बीमा योग्य जोखिम (insurable risk) को जन्म देती है, किसी भी प्रकार का अतिरेक प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि उत्पादक बीमा अंश (insurance premium) देकर जोखिम से अपनी सुरक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार का बीमा अंश (insurance premium) उनकी उत्पादन लागत का अंग होगा। चूंकि इस प्रकार की उत्पादन लागत मूल्य के बराबर होती है, अतः लागत के ऊपर अतिरेक की

प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए यह सिद्धान्त किस प्रकार से लाभ उत्पन्न होता है इसे समझाने में पूर्णतया असमर्थ है।

नवीनीकरण के कारण (due to innovations). जे० ए० शुम्पीटर ने लाभ का नवीनीकरण की सहायता से समझाया। स्थैतिक दशा में लाभ उत्पादकों का प्रतियोगिता द्वारा विनष्ट हो जाता है। परिणामस्वरूप द्राव्यिक लागत मूल्य के बराबर होती है जिससे कोई अतिरेक नहीं रह पाता। परन्तु कोई उत्पादक अपनी दूरदर्शिता से उत्पादन में नवीनीकरण कर सकता है अथवा उत्पादन प्रणाली या विधि में नवीनीकरण द्वारा अपनी उत्पादन लागत को कम करके लाभ अर्जित कर सकता है जो अन्य उत्पादको को प्राप्त नहीं हो सकता। न तो आविष्कारक और न नवीनीकरण ही लाभ के कारण हैं वरन् इन नवनीकरणों का उत्पादक द्वारा उत्पादन कार्य में उत्पादन लागत कम करने के उद्देश्य से किये गए प्रयोगों के कारण लाभ उत्पन्न होता है। नवीनीकरण के प्रयोग से उत्पादक अतिरेक अर्जित करने में समर्थ होता है। जब अन्य लोग भी नवीनीकरण से परिचित हो जाते हैं अथवा अन्य उत्पादकों द्वारा दूसरे प्रकार के नवीनीकरणों का प्रयोग उत्पादन लागत कम करने के लिए किया जाता है तब लाभ समाप्त होकर विनष्ट हो जाता है तथा पुनः आर्थिक व्यवस्था एक सामान्य स्थैतिक रूप ग्रहण कर लेती है।

नवीनीकरणों के प्रयोग से लाभ को समझाया जा सकता है, परन्तु शुम्पीटर के सिद्धान्त में कुछ दोष भी हैं—(१) नवीन वस्तु के निर्माण में नवीनीकरण के प्रयोग अथवा उत्पादन की नई विधि से यद्यपि उस साहसोद्यमी को लाभ होगा जो अधिक दूरदर्शी तथा बुद्धिमान है, परन्तु केवल इन्हीं कारणों द्वारा ही इस प्रकार का लाभ नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार का लाभ नवीनीकरण के अभाव की स्थिति में भी होगा यदि साहसोद्यमी उपभोक्ता की अभिरुचि, साधनों की पूर्ति, तथा अन्य सम्बन्धित दशाओं में हुए अनिश्चित भावी परिवर्तनों की सही सही पूर्व कल्पना करने में अन्य साहसोद्यमियों की अपेक्षा अधिक सफल हो पाता है। अन्य शब्दों में, नवीनीकरण पर ही अधिक बल नहीं देना चाहिये—यद्यपि ये भविष्य को अनिश्चित बनाने में अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं—वरन् अनिश्चितता पर अधिक जोर देना चाहिए। लाभ, जैसा कि अभी समझाया जायेगा, अनिश्चितता के कारण उत्पन्न होता है चाहे अनिश्चितता किस प्रकार से भी उत्पन्न हुई हो। (२) चूंकि विज्ञान का चारों ओर विकास होता है, इसलिए कोई एक ही नवीनीकरण नहीं होगा वरन् एक प्रकार के अनेक नवीनीकरण हो सकते हैं जिनसे उत्पादक प्रवर्तमान वस्तुओं की उत्पादन लागत को कम

करने मे अथवा नई वस्तुओ के उत्पादन करने मे समर्थ हो सकते हैं। शुम्पीटर का सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि अन्य साहसोद्यमी उसी प्रकार के अथवा अन्य प्रकार के नवीनीकरणों का प्रयोग क्यो नही कर सकते। यदि ऐसा होता है तब जो लाभ नवीनीकरण प्रदान करेगा वह अन्य साहसोद्यमियो द्वारा भी ले लिया जायेगा और लाभ जैसी कोई सतत आय नहीं होगी।

अनिश्चितता वहन के पारिश्रमिक के रूप में (as remuneration for uncertainty bearing). जैसा कि प्रोफेसर एफ० एच० नाइट ने बतलाया, लाभ अनिश्चितता वहन या जाखिम उठाने के कारण उत्पन्न होता है, केवल परिवर्तन के कारण नहीं। यदि प्रवैगिक दशाओ का अर्थ केवल परिवर्तन होता है तब उस समय लाभ नहीं होगा जब उस परिवर्तन को पहले से जाना जा सके। इसी कारण से जे० बी० क्लार्क का प्रवैगिक अतिरेक का सिद्धान्त सन्तोषपूर्ण ढंग से लाभ को न समझा सका। शुम्पीटर का नवीनीकरण का सिद्धान्त अधिक सफल था क्योंकि इसने कम से कम एक विधि बतलाई जिससे भविष्य अनिश्चित हो जाता है, यद्यपि अनेक बाते जैसे कर विधान, उपभोक्ता की रुचि तथा फैशन मे परिवर्तन भी भविष्य को अनिश्चित बना सकते हैं और साथ ही साथ इनके सहारे लाभ को समझाया भी जा सकता है।

व्यावसायिक जोखिमो का वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया जा सकता है: (१) बीमा योग्य, तथा (२) जिनका बीमा न कराया जा सके। यदि जोखिम बीमा योग्य है तब वह वास्तव में जोखिम नहीं है क्योकि निश्चित बीमा अंश दे देने के बाद उस जोखिम की सुरक्षा हो जाती है। इस प्रकार के जोखिम लाभ को उत्पन्न नहीं कर सकते। लाभ उस समय उत्पन्न होगा जब इस प्रकार का असम्भावित परिवर्तन होता है जिसका बीमा नहीं कराया जा सकता। लाभ का वास्तविक कारण केवल परिवर्तन ही नहीं है वरन् इस प्रकार का परिवर्तन जो असम्भावित तथा अनिश्चित होता है। इस प्रकार के कार्य के लिए कुछ अर्थशास्त्री जोखिम उठाने के स्थान पर अनिश्चितता-वहन शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझते हैं।

अतः लाभ अनिश्चितता वहन अथवा जोखिम उठाने के कारण उत्पन्न होता है जो इन कारणो से होता है: (१) उत्पादन उपभोग के पूर्व ही करना होता है, (२) साहसोद्यमी को अपने निर्णय की समानता अन्य प्रतिद्वन्दी उत्पादकों से करनी होती है, तथा (३) भविष्य अज्ञात तथा अनिश्चित होता है तथा कुछ साहसोद्यमी अन्य की अपेक्षा इस परिवर्तन को अधिक स्पष्टता से समझ कर अधिक लाभ अर्जित करने में सफल हो जाते हैं।

अनिश्चितता के कारण लाभ इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि जो उत्पादक अन्य की अपेक्षा भविष्य की अधिक स्पष्ट कल्पना कर सकता है वह उचित प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने तथा विभिन्न उत्पादन के साधनों को भविष्य के स्पष्ट अनुमान के आधार पर भुगतान करने में समर्थ होता है। इसलिए वह लाभ अर्जित कर सकता है तथा हानि नहीं उठा पाता।

इस सम्बन्ध में जो एक महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि यद्यपि सभी साहसोद्यमी समान रूप से निपुण नहीं होते फिर भी ऐसे चतुर साहसोद्यमियों की अधिक संख्या होती है जो अनिश्चितता के होते हुये भी समान रूप से भविष्य को सही सही देख सकते हैं, तथा प्रतियोगिता से एक प्रकार की वस्तु का उत्पादन करके तथा उत्पादन के साधनों को भुगतान भविष्य के समान ठीक अनुमान लगाकर के उत्पन्न होने वाले लाभ को विनष्ट कर देते हैं। अतः अनिश्चितता वहन से लाभ किस प्रकार उत्पन्न होता है यह जानने के लिए हमें 'संविदा' (contract) को ध्यान में लाना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वे निपुण साहसोद्यमी जो अन्य की अपेक्षा भविष्य को अधिक सही रूप में देख सकते हैं वे श्रम, अन्य उत्पादन के साधनों, कच्चे माल प्रदान करने वालों इत्यादि के साथ संविदा कर लेते हैं। इस प्रकार वे उत्पादन के साधनों, कच्चे माल प्रदान करने वालों, तथा अन्य को उनके ही भविष्य के अनुमान के आधार पर भुगतान करते हैं, तथा जो साहसोद्यमी कम निपुण हैं तथा जो भविष्य के बारे में जानकारी काफी बाद में उस समय कर पाते हैं जब पूरी लेन देन की क्रिया समाप्त हो जाती है, वे निपुण साहसोद्यमियों द्वारा लगाये गए श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों को अधिक मजदूरी देकर अपने यहाँ लगाकर लाभ को विनष्ट करने तथा उन्हें (निपुण साहसोद्यमियों को) भी अधिक मजदूरी इत्यादि देने के लिए बाध्य करने में समर्थ नहीं हो पाते। यदि किसी साहसोद्यमी ने श्रमिकों तथा अन्य के साथ पहले से ही संविदा कर उन्हें बाँध लिया है तब उन्हें निर्धारित अवधि तक उसके यहाँ कार्य करना होगा चाहे कोई कितना ही अधिक पारिश्रमिक उन्हें क्यों न दे। इससे लाभ उत्पन्न होता है और इसी कारण लाभ को असंविदात्मक आय (non-contractual income) भी कहा जाता है।

यहाँ पर यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि संविदा का आधार क्या होता है। (१) जो साहसोद्यमी इस प्रकार का संविदा करना चाहता है वह उनकी अपेक्षा अधिक निपुण होता है जिनके साथ वह संविदा करता है, इसलिए वह परिस्थितियों से अपने हित के अनुकूल लाभ उठा सकता है; (२) भविष्य के

बारे में भविष्यवाणी करने में विविधताएँ होती हैं तथा कुछ साहसोद्यमी अन्य की अपेक्षा अधिक निपुणता के साथ भविष्य के बारे में भविष्यवाणी कर सकते हैं अतः वे उसका लाभ उठाते हैं; तथा (३) साहसोद्यमी के अतिरिक्त श्रमिक तथा उत्पादन के सभी साधन अनिश्चितता वहन करना तथा जोखिम उठाना नहीं पसन्द करते। वे समय से तथा निश्चित आय अर्जित करना परिवर्तनशील तथा अनिश्चित आय से अधिक पसन्द करते हैं इसलिए वे संविदा कर लेते हैं।

लाभ को कौन लेता है

साहसोद्यमी कौन है. जैसा कि ऊपर समझाया गया है, साहसोद्यमी सामान्य लाभ तथा शुद्ध लाभ को अर्जित करता है। जहाँ तक सामान्य लाभ का सम्बन्ध है इसे जानने में कोई कठिनाई नहीं होती कि इसे कौन लेता है क्योंकि यह साहसोद्यमी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है और इसका निर्धारण साहसोद्यमी की सीमान्त उत्पादकता के द्वारा होता है तथा जो व्यक्ति यह कार्य करता है उसे सामान्य लाभ मिलता है। वास्तविक समस्या शुद्ध लाभ के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है जो अतिरेक के रूप में होता है तथा जो साहसोद्यमी को उसके जोखिम उठाने अथवा अनिश्चितता वहन करने के कारण मिलता है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह साहसोद्यमी कौन है जो जोखिम उठाता तथा अनिश्चितता वहन करता है?

एक-व्यक्तीय व्यवसाय में साहसोद्यमी को सरलता पूर्वक जाना जा सकता है। यह वह व्यक्ति होता है जो व्यवसाय का स्वामी तथा संचालक होता है, निर्णय करता है तथा आदेश देता है। वह अपनी उत्कृष्ट योग्यता के कारण उस समय शुद्ध लाभ उठाता है जब उसके निर्णय सही होते हैं तथा शुद्ध हानि भी उठाता है जब उसके निर्णय ठीक नहीं होते।

संयुक्त पूँजी उद्योग में परिस्थिति अधिक जटिल हो सकती है। अंशधारी (Shareholders) जो व्यवसाय के मालिक होते हैं वास्तविक अर्थ में साहसोद्यमी नहीं होते। ये सामान्य निर्णय अंशधारियों की सभा में कर सकते हैं परन्तु वे वास्तविक दिन-प्रतिदिन के निर्णय नहीं करते जिस पर शुद्ध लाभ अथवा शुद्ध हानि का होना आधारित है। निस्सन्देह उन्हें उन हानियों को भी उठाना होता है जो कि उन व्यक्तियों के, जो व्यवसाय के कार्यभारी हैं, गलत निर्णय के परिणाम स्वरूप होता है। यदि हानि होती है तो लाभांश दर में कमी हो जाती है और यदि लाभ होता है तो लाभांश दर में वृद्धि। आधुनिक व्यवसायिक संगठन में साहसोद्यमी का कार्य सम्भवतः उचित व्यक्ति का चुनाव करके उसे

उचित स्थान पर कार्य के लिए लगाना ही होता है। इस आशय में अंशधारी साहसोद्यमी हो जाते हैं क्योंकि वे ही उन व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं जो व्यवसाय संचालन का कार्य करते हैं। परन्तु अंशधारियों को साहसोद्यमी कहना प्रत्येक नागरिक को विदेशी नीति निर्धारित कहने के सदृश है; लोकतंत्र की अपूर्णताओं तथा लोकतंत्र के सामूहिक नियन्त्रण के कारण इस प्रकार के साहसोद्यमी का व्यक्तिकरण करना सुरक्षित नहीं है। इसलिए अंशधारियों को साहसोद्यमी कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

मैनेजिंग डाइरेक्टर, मैनेजिंग एजेन्ट, अन्य संचालक, रसायन शास्त्री, इन्जीनियर, तथा व्यवसाय के अन्य कर्मचारी साहसोद्यमी हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। साहसोद्यमी होना अथवा न होना इस बात पर आधारित है है कि उनके द्वारा किए निर्णय किस सीमा तक व्यवसाय के संचालन को प्रभावित करते हैं। यह भी सम्भव है कि रसायन शास्त्री, इन्जीनियर, अथवा कम्पनी का एक छोटा कर्मचारी भी उसी व्यवसाय में महत्वपूर्ण निर्णय कर रहा हो। संयुक्त पूँजी व्यवसाय में ऐसे कोई एक या अनेक व्यक्ति नहीं होते जिन्हें हम साहसोद्यमी कह सकें। जिससे हम सम्बन्धित हैं वह है साहसोद्यमिक कार्य जो या तो एक व्यक्ति द्वारा या आंशिक रूप से अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है। कुछ दशाओं में ये व्यक्ति अपने निर्णयों के कारण बोनस प्राप्त करते हैं, जिसमें अच्छे कार्य करने से वृद्धि तथा अकुशल कार्य करने से कमी भी हो सकती है। परन्तु ऐसा सदैव होना आवश्यक नहीं है तथा जो व्यक्ति साहसोद्यमिक कार्य करते हैं वे अपने निर्णयों के कारण न तो किसी प्रकार का लाभ और न किसी प्रकार की हानि ही उठा सकते हैं। "यह सबसे सुरक्षित निष्कर्ष प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो सामूहिक नीति निर्धारण में योग देता है, कुछ साहसोद्यमिक अधिकार का प्रयोग करता है। इस समूह के अनेक केन्द्र होते हैं तथा एक दूसरे के क्षेत्र में मिले रहते हैं। कभी तो अधिकार कुछ व्यक्तियों के हाथ में अधिक होता है और कभी उसका हस्तान्तरण अन्य समूह में कर दिया जाता है। फिर भी यहाँ यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति जो निर्णय करता है वह लाभ का अधिकारी हो ही जाता है। साहसोद्यमिक कार्य का उद्देश्य लाभार्जन करना होता है; लाभ का विभाजन तो एक बिल्कुल भिन्न समस्या है। साहसोद्यमिक क्रियायों का परिणाम लाभ होता है तथा लाभ विभाजन हस्तान्तरण पक्ष से सम्बन्धित है।

लाभ का विभाजन किस प्रकार से होता है. यदि साहसोद्यमिक कार्य र ने वाला एक ही व्यक्ति होता तब लाभ (शुद्ध लाभ) के वास्तविक विभाजन

में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता वहन करने का कार्य, जिसके बदले में लाभ मिलता है, अनेक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है और सीमान्त उत्पादकता सदृश कोई सिद्धान्त नहीं है जिससे हम ठीक ठीक अनुपात में लाभ के विभाजन का पता लगा सकें। वास्तव में लाभ का विभाजन फर्म के संगठन, व्यवसाय के प्रसार के लिये वैत्तिक आवश्यकतायें, संविदा की प्रकृति, कर विधान, उन व्यक्तियों का सापेक्ष्य अधिकार तथा प्रतिष्ठा जो साहसोद्यमी का कार्य कर रहे हैं तथा अन्य बातों पर आधारित है। 'लाभ के विभाजन में यह कहा जा सकता है कि इसको (लाभ विभाजन को) अनेक असंयत तथा अस्थिर प्रतिकारक किसी निश्चित नियम की अपेक्षा अधिक प्रभावित करते हैं।

लाभ उद्देश्य (profit motive) द्वारा ही निजी उद्यम की कार्य विधि का संचालन सफलता पूर्वक तथा सरल ढंग से होता है, क्योंकि अधिक प्रयास से हमेशा अधिक लाभ अर्जित करने की सम्भावना होती है। एक साहसोद्यमी जो दूसरों की अपेक्षा अधिक निपुण तथा कुशल होता है वह अधिक लाभ अर्जित कर अपने पास रखता है। निजी उद्यम के कार्य के लिये यह आवश्यक होता है कि क्रियाओं के परिणामस्वरूप अर्जित किये गये लाभ को निर्विघ्न रूप से पैदा करने दिया जाता है, उसकी मात्रा पर किसी भी प्रकार का बाह्य नियन्त्रण नहीं रखा जाता। एक बार जब लाभ एकत्रित कर लिये जाते हैं तब वे दूसरे फर्म के संचालन के लिये उपलब्ध हो जाते हैं, या उन्हें नये प्रकार से लाभप्रद ढंग से लगाया जाता है। परिचित ढंग द्वारा तो केवल अधिशेष, मजदूरी तथा ब्याज जैसी प्रमापित आय ही अर्जित की जा सकती हैं क्योंकि इनके लिए साहसोद्यमिक कुशलता की आवश्यकता नहीं होती। नवीन तथा अप्रयुक्त वस्तुओं तथा विधियों का निर्माण पृथक बात होती है जिसमें अधिक निपुणता तथा कुशलता अच्छा परिणाम प्रदान कर सकते हैं। इसीलिए लाभ को परिवर्तन का यंत्र कहा गया है। यदि परिवर्तन अनुकूल दिशा में होता है तो आर्थिक प्रगति होती है। इसके विपरीत स्थैतिक योजना में लाभ का कार्य उतना महत्वपूर्ण नहीं होता। निस्सन्देह बिना संविदाता-आधार के लाभ अत्यन्त ही अस्थायी होगा।

अधिशेष तथा लाभ में सम्बन्ध. अधिशेष तथा शुद्ध लाभ एक प्रकार की आय होते हैं क्योंकि दोनों अतिरेक हैं। तब दोनों में अन्तर क्या है? प्रथमतः, जिन कारणों से ये दोनों उत्पन्न होते हैं, वे भिन्न हैं। अधिशेष विशिष्टता के कारण उत्पन्न होता है और लाभ अनिश्चितता वहन करने के कारण। यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अनिश्चितता वहन निश्चय रूप में

एक विशिष्ट गुण नहीं होता क्योंकि जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता वहन करने की शक्ति का प्रयोग एक उद्योग में ही नहीं वरन् दूसरे उद्योगों में भी किया जा सकता है। दूसरे, यद्यपि लाभ और हानि दोनों हो सकते हैं परन्तु नकारात्मक अधिशेष कभी नहीं हो सकता। अधिशेष या तो शून्य या धनात्मक हो सकता है परन्तु लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है। अन्त में, अधिशेष तथा लाभ में अत्यन्त निकट का। सम्बन्ध है। जैसा कि हमने अधिशेष के अध्याय में समझाया है, प्रत्येक आय अंशतः अधिशेष तथा अंशत: मजदूरी होती है। स्थैतिक दशा की दीर्घकालीन संस्थिति में मूल्य कुल मजदूरी, ब्याज तथा सामान्य लाभ के बराबर होता है। उसमें न तो शुद्ध लाभ होता है और न अधिशेष ही।

परन्तु प्रवैगिक दशाओं के अन्तर्गत शुद्ध लाभ उत्पन्न हो सकता है। यदि साहसोद्यमिक आशंसायें सही उतरती हैं तथा आशंसित मूल्य वसूल कर लिया जाता है तब शुद्ध लाभ की मात्रा अधिक होगी तथा ब्याज और मजदूरी में अधिशेष का अंश अपेक्षाकृत कम होगा। इसके विपरीत यदि आशंसित मूल्य वसूल नहीं हो पाता तब शुद्ध लाभ कम होगा तथा ब्याज और मजदूरी में अधिशेष का अंश अपेक्षाकृत अधिक होगा। इन प्रकार दी हुई दशाओं के अन्तर्गत अधिशेष तथा शुद्ध लाभ इस आशय में वैकल्पिक आय होते हैं कि शुद्ध लाभ में वृद्धि हो जायेगी यदि मजदूरी में से अधिशेष का अंश घटा दिया जाय। "अधिशेष—जैसा कि अब सभी समझते हैं तथा अन्य साधनों के अंश भी—एक प्रकार का शेष है जो अन्य साधनों के अंशों के घटाने से बचता है। लाभ (सरलीकृत दशाओं के अन्तर्गत) एक दूसरे प्रकार का शेष है जो बाकी अभिकर्ताओं के भुगतान के बाद शेष बचता है तथा इसका निर्धारण साहसोद्यमी वर्ग के सीमान्त 'बोली बोलने' (marginal bid) की शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। लाभ की दशा में शेष उत्पादन शेष (product residue) नहीं होता वरन् असाहसोद्यमियों की परिकलन की त्रुटि के कारण होता है तथा उन साहसोद्यमियों के कारण भी होता है जो सफल साहसोद्यमियों को उत्पादक सेवाओं के लिए उतना अधिक देने के लिए बाध्य नहीं कर सकते जितना देने के लिए उन्हें बाध्य किया जा सकता था।